



COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of
hinduism
server!

३६ ओ३८ ३८

→ योगचित्तावृत्तिनिरोधः ←

पातञ्जलयोगदर्शनम् ।

निखिलतन्त्रस्वतन्त्रमहर्षिव्यासदेवपर्णीतम्

साङख्यप्रवचन—भाष्यसहितम् ।

तथा राजपिं-भोजदेव-प्रणीत-राजमार्त्तिरु
द्विचिसहितम् ।

स्वर्गीय पं० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य
द्वारा अनूदित
तथा

पं० बद्रीदत्त जोशी द्वारा संयोजित

संबन्ध १६=१ संबन्ध १६२

ALL RIGHTS RESERVED

मुद्रक

पं० शङ्करदत्त शर्मा ने
“शर्मा भैशीन प्रिंटिंग मेस”
मुरादावाद में व्यापकर प्रकाशित किया

बहुर्थात १०००]

मूल्य ३) सजिलद ३॥)

॥ ओ३३३॥

विजाप्ति

पतञ्जलि के योग सूत्रों पर श्री व्यास भाष्य और श्री मोजवृत्ति प्रसिद्ध हैं, जिनका भाषा में अनुवाद स्वर्गीय श्री पं० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य ने किया था, जिसकी तृतीयावृत्ति हमारे यन्त्रालय में छुपी थी। हमें खेद है कि पहली आवृत्तियों के अशुद्ध और अपूर्ण होने से उसमें भी बहुत सी अशुद्धियाँ और त्रुटियाँ रह गई थीं। कई सूत्र छूट गये थे, कहीं भाष्य रह गया तो कहीं अनुवाद का अभाव, कहीं पुनर्लक्षित्याँ, कहीं छूट इत्यादि दोषों की भरमार थी। जिसकी यथा समय बहुत सी शिकायतें हमें मिलीं। अतएव हमने कलकत्ता, बम्बई और पूना से कई पुस्तकें भाष्य और वृत्ति दोनों की मंगवा कर पं० बद्रीदत्त जोशी द्वारा संशोधन कराकर यह चतुर्थावृत्ति छुपवाई है। इस संस्करण में यथाशक्ति त्रुटियों को दूर किया गया है, फिर भी यदि मनुष्यत्व के कारण कोई भूल रह गई हो, तो विज्ञ पाठक सूचना देने की कृपा करेंगे। ताकि अगले संस्करण में उसको ठीक कर दिया जाय।

प्रार्थीः—

शंकरदत्त शर्मा,
प्रकाशक।

उपोद्घात ।

ईश्वर की भी कथा ही आपार महिमा है कि, जिसको क्षणमात्र एकान्त स्थल में निष्पत्त होकर विचारने से स्पष्ट भान होता है कि यह जगत् क्षणभंगुर है ।

“ प्रथम् जगदेव नश्वरम् पुनरस्मिन् खण्डुरा तनुः,

ननु तत्र सुखासिहेतवे क्रियते हन्त जनैः परिश्रमः ॥ ” ।

देखिये प्रथम हन शरीरों की कैसी आश्वर्यमय उत्पत्ति है, यदि इसके उपादान कारण पर दृष्टि देते हैं तो उस रजोबीर्य से ऐसे आश्वर्यमय शरीरों का उत्पन्न होना किसी प्रकार से बुद्धि में नहीं आता, पश्चात् शरीर और प्राण के वियोग होजाने पर यदि समस्त जगत् में ढूँढ़िये तो उस प्राणी का पता न पाइयेगा, परन्तु भारतवर्षीय उद्यमशाली विद्वानों ने इसही अनित्य और मलसार शरीर से ऐसी २ विद्या प्रकट की हैं कि, जिनके साधन से मनुष्य, इस लोक और परलोक में अवधि से अधिक भी सुख प्राप्त कर सकता है, जिस प्रकार से आजकल के यूरोपियन विद्वान् लोग अनेक धारा विद्या प्रकट करके यश लाभ कर रहे हैं, ऐसे ही भारतीय विद्वान् लोग आन्तरिक विद्याओं को प्रकाशित करके कीर्तिमान होते थे और यथार्थ में जघतक मनुष्य यह नहीं जाने कि मेरे शरीर में क्या २ पदार्थ हैं तबतक वह पदार्थान्तरों को कैसे जान सकता है ? इसके अतिरिक्त मनुष्यों के शरीरों में अन्तःकरण चतुष्टय के अन्तर्गत मन, ऐसा विज्ञकारक है, कि मनुष्यों को अनेक दुःखप्रद विषयों में फँसाकर साँसारिक और पारमार्थिक सुखों से घड़िचित कर देता है और केवल अर्थ और काम में ही फँसाये रखता है, धर्म और मोक्ष का चिन्तन भी नहीं करने देता यद्यपि मन की चपलता और तरलता स्वाभाविक गुण है तथापि सञ्जनों का मन धर्म और मोक्ष की ओर चलता है और दुराचारियों का मन निन्दित कर्मों में चलता है जिससे वे लोग उन कर्मों के आदि मध्य और अन्त में दुःख उठाते हैं और यह आपामर प्रसिद्ध है कि सुख की सब को इच्छा होती है, परन्तु अल्पही लोग सुखाभास को सुख मानकर फिर दुःखसागर में झूँपते हैं जैसे परखी परखुरुप प्रक्षंगादि क्षणिक

सुख में मरन होने से उपदंश और उससे कुष्ठादि महारोगों से जन्म भर महादुःख का भोग करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि वह सुख नहीं वहिक सुखभास है वह सुख नहीं है जिसमें दुःख का अत्यन्ताभाव होजाय और उसही दुःख के अत्यन्ताभाव को भोक्ता कहते हैं जैसे महर्षि कपिलदेव ने साँख्यशास्त्र में लिखा है ।

“अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः” ।

इसका अर्थ यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुर्गों की अत्यन्त निवृत्ति को भोक्ता कहते हैं वह सिद्ध विचार शील मनुष्य इसही अक्षय सुख की प्राप्ति का यत्न करते हैं और इस सुखप्राप्ति का साधन मन और इन्द्रियों का निग्रह है परम् मनोनिग्रह योग के विना असाध्य है। यीता में कृष्ण ने भी कहा है “अभ्यासेन्तु कौन्तेय वैतायेण च युहाते” अर्थात् योगाभ्यास और वैराग्य से मनोनिग्रह होसकता है और जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के मल नष्ट होजाते हैं वैसे ही योगाभ्यास से मनुष्य के मल, विक्षेप और आवरण दोष हटकर शुद्ध झांन की प्राप्ति होती है और उससे भोक्ता सिद्ध होता है ।

परन्तु आजकल लोगों ने योग शब्द को ऐसा बुरा समझ रखा है कि जो भिज्ञक गेरुवे घस्त पहन कर किसी विद्या के न जानने के कारण विना उचित परिश्रम किये आलस्यप्रस्त छोड़कर उदरपूर्ति के लिये घर घर भिज्ञा माँगते फिरते हैं आजकल चंही निरुद्योगी योगी कहलाते हैं। यदि किसी मनुष्य ने अधिक विचार किया तो वह यहाँ तक बुद्धि को दौड़ाया कि ”योगी का अर्थ यह संमझने लगा कि जो घर बार को छोड़कर जङ्गल में चला जाय उसे योगी कहते हैं”। और कोई न मनुष्य कनफर्टे फ़कीरों को योगी कहते हैं। परन्तु यह सब मनुष्यों की भूल है क्योंकि योग से और घस्तों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं योग का केवल चित्त से सम्बन्ध है वहिक चित्त की स्थिर वृत्तिही का नाम योग है उसमें गेरु के रंगों कपड़े वा जटा कुछ सहायक नहीं होते। प्रत्युत वाधक होते हैं क्यों कि आज कल प्रायः अहलोग कापायाम्बद्धवारी, मनुष्यों को सिद्ध जानकर ऐसा धेरते हैं कि उनको अष्टप्रहर अवकाश नहीं लेने देते फिर उनके चित्त की वृत्ति कैसे स्थिर हो सकती है और जो यह कहते हैं कि उङ्गल में रहने से योग प्राप्त होता है यह भी उनका ही भ्रम है क्योंकि किसी सज्जन का वृच्छन है कि ।

बनोपि दोपाः प्रभवन्तिरागीणां ,
गृहसु पचेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकृत्स्वते कर्मणि यः प्रवर्तते,
निवृत्तरागस्य गृहंतपोवनम् ॥

गीता में लिखा है कि:—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा भिष्याचारस्स उच्यते ॥

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मनुष्य गृहस्थाश्रम में भी योगसाधन कर सकता है और प्रत्येक मनुष्य दिन भर में दो एक घार योग की क्रिया करते हैं परन्तु उस की दशा को न जानने के कारण सांसारिक व्यवहार में युक्त कर देते हैं जैसे कोई लेखक उत्तम अक्षर लिखता है तब उसको समस्त अन्य विषयों से चित्त की छुतियों के रोककर अक्षर के आकार में लगानी पड़ती है क्योंकि विना तदाकारवृत्ति किये अक्षर सर्वाङ्ग मुन्द्र नहीं बन सकता और पतञ्जलि छूपि ने इस ही योग शास्त्र के प्रथमपाद के दूसरे सूत्र में योग का संक्षण लिखा है कि चित्त की छुति के निरोध को योग कहते हैं परन्तु आजकल के मनुष्यों पर तो यह कहावत ठीक चरितार्थ होती है कि 'गाँव के गाँव फूँक दिये पर अग्यारी करनी न आई "

भला हम पूछते हैं कि यदि बन में ही मनोनिग्रह होता है तो जो स्त्रियां पानी के भरे घड़े सिर पर रखकर ब्रति दिन लाती हैं वह कैसे होता ? क्योंकि विना चित्त की छुतियों के निरोध किये निराश्रय घड़ों का सिर पर ठहरना असम्भव है । ऐसे ही नट का निराश्रय रस्ते वा तार पर चलना समझिये इन हटान्तों से यही मालूम होता है कि खी और नटकी चित्त छुति का योग घड़े और रस्ते आदि से है परन्तु घड़े आश्र्य की बात है कि नित्य-योग की क्रिया करने पर भी लोग योग के नाम से डरते हैं पूर्वोक्त निन्दा और इस शब्द के दुर्नाम और भय का कारण यही मालूम होता है है कि महाभारत युद्ध के पीछे इस देश में अन्य देशी विद्याओं के फैल जाने से भारतवासी अपनी धर्मभापा संस्कृत को पैसा भूल गये कि उसके शब्द मात्र से भय करने लगे ।

घड़े शीक का स्थल है कि जिन विद्याओं के आविर्भाव (पैदा) करने वाले इस देश में रहते थे उन विद्याओं के पढ़ने पढ़ाने वालों

का भी इस देश में अभाव होगया जिससे उन्हीं महर्षियों के घंशज़ मुक्तकरण से कहते हैं कि हमारे देश में प्रथम कोई विद्या ही न थी इस अभाव को दूर करने के लिये इस योगशास्त्र का सरलभाषण में अनुवाद किया जाता है आशा है कि ईश्वरानुग्रह से यह कार्य शीघ्र पूर्ण होकर पाठकों को महालकारक और सुखदायी होगा ।

इस अनुवाद में केवल अकारार्थ और उपयोगी बातें लिखी जाएंगी और अनपेक्षित (फिजूल) कुछ नहीं लिखा जायगा, योग में जो जो उपयोगी वस्तु और स्थानादिक हैं वे सब योग के इ अंगों के बर्णन में लिखे जायेंगे ।

इस सर्वोपकारी सत्य सुख के देने वाले योगशास्त्र को पाणिनीय ध्याकरण और कविल ऋषि प्रणीत सांख्य शास्त्र के भाष्य कर्त्ता महर्षि पतञ्जलि ने चार भागों में विभक्त किया है ।

उनमें से पहिले पाद में योग के लक्षण मनोनिग्रह और चित्त वृत्तियों के रोकने के उपाय लिखे हैं इसी ही लिये इस पाद का नाम समाधिपाद है ।

दूसरे पाद में अष्टाङ्गयोग का बर्णन और शम दमादि योग के साधन आदि का सविस्तर वर्णन किया है इसलिये द्वितीय पाद का नाम साधनपाद रखा है ।

तीसरे पाद का नाम विभूतिपाद इसलिये है कि उसमें योगसाधन के गौणकल धाक्सिद्धि और अणिमादि निधियों की प्राप्ति का वर्णन है ।

और चतुर्थपाद में योग के प्रधान फल मोक्ष का वर्णन है और इस कारण से चतुर्थ पाद का नाम कैवल्यपाद रखा है ।

इनमें से प्रथम पाद में ५२ दूसरे में ५५, तीसरे में ५५, और चौथे में ३४ सूत्र हैं एवं समस्त सूत्र संख्या १६५ हुई समस्त मुमुक्षु और विद्वानों को उचित है कि इस आर्य ग्रन्थ को क्रमशः पढ़कर लाभ उठावें ।

यदि इस भाषानुवाद में कोई चुटि हो तो सज्जन लोग अनुग्रह द्वारा सूचित करें क्योंकि भ्रम शून्य होना 'सर्वथा' असम्भव है अतएव चुटि सम्भव है और सज्जनों के सूचित करने पर ध्यान भी दिया जायगा परन्तु जो लोग दुराप्र से खराढ़न करेंगे उनके सर्व अहिंतकारी कथन पर कुछ ध्यन न दिया जायगा, क्योंकि दृथा बाद में कालक्षेप करना वृद्धिमत्ताका काम नहीं है ।

पातंजल-योगदर्शनम्

समाधि-पादः

४५३८६६

अथ योगानुशासनम् ॥ ३ ॥

पदार्थ-(अथ) प्रारम्भ सूचक अवध्य (योगानुशासनम्) योग सम्बन्धी शास्त्र ॥

भावार्थ—अब योग शास्त्र का आरम्भ करते हैं।

व्यासदेवकृतभाष्यम् ।

अथेत्ययमधिकारार्थः योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदित-
त्यम् । योगः समाधिः स च सार्वपौमधित्तस्यधर्मः । त्तिसं मूढं
विज्ञिसप्तमिग्रनिरुद्धमिति चित्तमूष्यः । तत्र विज्ञिसे चेतसि
विक्लेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते । यस्त्वैकाग्रे चे-
तसि सद्गत्यत्यर्थं प्रयोगतयति प्रक्लिणोति च नक्षेशान् कर्मवन्धनानि
शुद्धयति निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योगइत्याख्यायते ।
स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगतइ-
त्युपरिष्टात् प्रवेदयिष्यामः । सर्ववृत्तिनिरोधेत्वसम्प्रज्ञातः समाधिः
तस्यलक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रवृत्तते ॥ ३ ॥

पाठ का पदार्थ—अथ यह शब्द अधिकार अर्थात् आरम्भ
सूचक है,, योग का अनुशासन अर्थात् योगशास्त्र का आरम्भ
समझना चाहिये । योग समाधि को कहते हैं और वह समाधि
स अवस्थाओं में चित्तका एक गुण है । त्तिस, मूढ़, विज्ञिस, एकाग्र
और निरुद्ध, यह चित्त की ५ अवस्था हैं उनमें से विज्ञिसावस्था-

युक्त चित्तमें अनेक विषयों के विचार रूप विद्धन से नष्ट भ्रष्ट हुई चित्तवृत्ति योग विषय में नहीं रहती है, एकाग्र चित्त में अर्थात् चित्त की एकाग्र अवस्था में सत्पदायों को प्रकाश करता है और दुःखों को कर्म के बनधनों को ढीला करता है, निरोध अर्थात् हृदये के अभिमुख अर्थात् योग्य करता है वह सम्पज्ञात योग अर्थात् जिसमें समाधि के अतिरिक्त अन्यविषयों का भी भाग हो कहलाता है और वह वितर्कानुगत, वचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत ४ प्रकार का है यह आगे इस ही पाद के २७ वें सूत्र में वर्णन करेंगे सब वृत्तियों के निरोध अर्थात् चित्त की निरुद्धावस्था में तो असम्पज्ञात योग होता है उसका लक्षण कहने की इच्छा से आगता सूत्र बना है—

भाष्य-का भावार्थ—इस सूत्र में अथ शब्द आरम्भ का सूचक है योग-समाधि को कहते हैं और वह समाधि सब अवस्थाओं में प्राप्य चित्त का एक गुण है चित्त की ५ अवस्था है १. जिस—२. मूढ़—३. विक्षिप्त—४. एकाग्र ५. निरुद्ध—जिस अवस्था में चित्त की वृत्तियों अनेक साँसारिक विषयों में गमन करती है उस को जिस कहते हैं, जिस में चित्त मूर्खवत् हो जाय अर्थात् कृत्याकृत्य को भुल जाय उसे यद्यावस्था कहते हैं, विक्षिप्त वस अवस्था को कहते हैं जिस में चित्त व्याकुलं चा व्यग्र हो जाता है, एकाग्र अवस्था वह है जिस में चित्त विषयान्तरों से अपनी वृत्तियों को खींच कर किसी एक विषय में लगा देता है और निरुद्धावस्था वह है जिस में चित्त की सब वृत्तियां चौपारहित हो जाती हैं (इन में से पूर्व ४ वृत्तियों में सत्वगुण रजोगुण और तमोगुण का संसर्ग रहता है परन्तु पञ्चवीं अवस्था में गुणों के संस्कार मात्र रहते हैं) इनमें से जिस, मूढ़ और विक्षिप्तावस्थाओं में योग नहीं होता क्योंकि चित्त की

वृत्तियां उन अवस्थाओं में सासारिक चिपयों में लगी रहती हैं और जो एकाग्र अवस्था में योग होता है उसे सम्भात योग कहते हैं वह ४ प्रकार का हैं जिनका प्रथम पाद के २७ शब्द में वर्णन करेंगे, एवं निरुद्धावस्था में असंप्रज्ञात योग होता है उसके लक्षण दूसरे सूत्र में कहते हैं ॥ १ ॥

भोजत्रुटि:- अनेन सूत्रेण शास्त्रस्य सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनात्मा-
र्थ्यायम्भ्यते । आथ शश्वीऽधिकारश्चोतको गह्यलार्थकश्च । योगो युक्तिः
समाधानम् । 'युज समाधी' अनुशिष्टते व्याख्यायते लक्षणभेदापाय-
फलैर्येन तदनुशासनम् । योगस्यानुशासनं योगानुशासनम् । तदा-
शास्त्र परिसमाप्ते रधिष्ठतं व्योदयमित्तर्धः । तत्र शास्त्रस्य व्युत्पा-
ष्टयां योगः साधनः सफलाऽभिधेयः । तद्व्युत्पादनश्च फलेभ्यः ।
व्युत्प दितस्य योगस्य कैवल्यं फलम् शास्त्राभिधेययोः प्रतिपाद्यप्रतिपा-
दकभावः सम्बन्धः । अभिभेदस्य योगस्य च तत् फलशर च कैवल्येन
व्याख्यसाधनभावः । पतद्वक्ते भवति व्युत्पादस्य योगस्य साधनानि
शास्त्रेण प्रकृश्यन्ते तत्साधनसिद्धो योगः कैवल्याख्यफलमुत्पाद्यति
॥ २ ॥ तत्र को योग ? इत्याद—

भोज युजाभ्यां सूत्रमें शास्त्र का सम्बन्ध, प्रतिक्रा और प्रयोजन का
वर्णन किया गया है आथ शब्द अधिकार को प्रकाश करने और मंगल
के बास्ते है, योग युक्त अर्थात् प्राणों के निरोध करने को कहते हैं,
"युज समधी" इस धार्तु से भाव में घड़ प्रत्यय करनेसे 'योग' शब्द
सिद्ध हुआ है। अनुशासन उसे कहते हैं जिससे लक्षण, भेद, उपाय और
फलोंके द्वारा विशेष व्याख्या की जाय सारांश यह है कि इस शास्त्रमें
योग के लक्षणादि का वर्णन किया जायगा इस सूत्र का शास्त्र का
समांसि पर्यन्त अधिकार समझना चाहिये । यह शास्त्र योग का
प्रतिपादक है, योग शास्त्र का प्रतिपाद होने से सफल कहा जाताहै
और यागका फल मोक्षहै, शास्त्र और योग का प्रतिपाद्यप्रतिपादक
भाव सम्बन्ध है एवम् योग और मंगल का साध्यसाधन भाव सम्बन्ध
है । फलितार्थ यह हुआ कि योग के सांघन इस शास्त्रमें कहेजा-
येंगे उन को सिद्ध करनेसे मनुष्यको मोक्ष रूप फल प्राप्त होता है ?
योग एवं पदार्थ है उसका वर्णन अगले सूत्रमें करेंगे-

योगशिवत्तद्वृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

द्वृत्तका पदार्थ-(योगः) जो युक्तकरे उसे योग कहते हैं (चित्तवृत्तिनिरोधः) चित्त की वृत्तियों का रोकेना ।

भावार्थ—चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं ।

ब्रह्म० भावं सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योगइत्याख्यायते
चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिविधतिशीलत्वात् त्रिगुणं प्रख्यारूपाइचित्तः
सत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यावपयमियं भवति तदेव तमः
साक्षुविद्धम् अधर्माज्ञानवैराग्यानैश्वर्योपगं भवति तदेव प्रकीर्ण-
योहावरणं सर्वतः प्रद्योदपानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैरा-
ग्यैश्वर्योपगं भवति तदेवं रजोलेशमपलापेतं स्वस्तप्रतिष्ठं सत्त्वं
पुरुषान्यताख्यातियोगं धर्मप्रेव ध्यानोपगं भवति तत्त्वं प्रसंख्या-
नमित्याचक्षते ध्यायिनः । चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंकूप्या-
दशितविषया शुद्धा चानंताच सत्त्वगुणात्मिका चेयम् अतोऽपि
परीता विवेकख्यातिरित्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं
निरुणिद्धि तदवस्थं संस्कारोपगं भवति स निर्विकल्पस्समाधिः
नतत्र किंचित्संप्रज्ञायांतःत्यसंप्रज्ञातः द्विविधः स योगशिववृत्तिनि-
रोधइति तदवस्थे चेतसि विद्ययाभावाद्बुद्धिवोधात्मापुरुषः किं
स्वभाव इति ॥ २ ॥

आव्य का पदार्थ = सबं बाह्यशब्दादि विषयों के ग्रहण न होने अर्थात् अभाव से सम्प्रज्ञात भी योग कहलाता है चित्तही विषयविचार, विषय के साथ सम्बन्ध और विषय में स्थिति यह तीन स्वभावयुक्त होने से तीन प्रकार का है चित्त रजोगुण और तमोगुण से मिला हुवा अनेक द्रव्यादि ऐश्वर्य को चाहता है वही चित्तमोगुण के संयुक्त होने से अधर्म, अज्ञान, विषय

में अनुरक्ति और दरिद्रता का चिन्तन करता है वही दूरहोगया है मोहरुपी दफना जिसका चारों ओर से प्रकाशयुक्त केवल रजो गण के अंश से धर्म, ज्ञान, सांसारिक विषयों में विरक्ति और ईश्वरभाव के चिन्तन में प्रवृत्त होता है उही चित्त रजोगुण के लोश और पापादि मल से युक्त होता है, अपने लप्पमें रिथत धैर्म्महीका विचार करता है उसही को योगीलोग प्रधान प्रेसंरचयान कहते हैं। ज्ञानशक्ति जिसका नाश कभी न हो, जिसका प्रतिसंक्रम अर्थात् अदल बदल न हो, जिसके द्वारा विषय देखे जा सकते हों जो मलरहित हो और जिसका अन्त न हो वह संत्वगुण प्रधान है और इससे उलटी अविदेश कहलाती है इसलिये उसमें उपरवं हुआ चित्त उस विचार को भी रोक देता है उस अवेस्था में स्थित चित्त केवल संस्कार का विचार करता है, वह सङ्कल्प विकल्परहित समाधि कहलाती है जिसमें कुछ न जीना जाय वह असम्भवत योगदो प्रकारेका है ॥२॥

भाष्य का भावार्थ—सम्प्रज्ञाते योग में भी शब्दादि वाक्य विषयों का निरोध होता है इसलिये उसे भी योग कहते हैं, परन्तु योग शब्द का मुख्यार्थ असम्प्रज्ञात ही है। चित्त का दृष्टिकोर का स्वेभाव है एक प्रखल्या दूरंग प्रवृत्ति तीसरा स्थिति अर्थात् वह वा श्रुत पदार्थों का विचार फिर विषयों के साथे सम्बन्ध पश्चात् विषयों में स्थिति । उपनिषद् में भी लिखा है कि “यन्मनसा ध्यायति तद्वाचो वदति यद्वाचा वदति तत् क्रियता करति यत् क्रियता करति तदभिसम्पदते” प्रखल्या अर्थात् सत्त्व, रज, तमे गुणोंके संसर्ग से तीने प्रकार का है तब चित्त विषयविचार अधिक सत्त्वगुण से युक्त होता है तब केवल ईश्वर का चिन्तन करता है जब वही चित्त अधिक तमे गुण युक्त होता है तब अधर्म, अज्ञान, विषयासक्ति का चित्तन करता है

और जब रजोगुण चित्त में अधिक हो जाता है, तब धर्म और वैराग्य का चित्तन करता है इस अवश्यकता को योगी लोग “परं प्रसंख्यात्” कहते हैं। जो ज्ञानशक्ति परिणाम से रहित और शुद्ध होती है वह सत्त्वगुण प्रधान है अर्थात् उस वृत्ति में तमोगुण और रजोगुण का अभाव हो जाता है परंतु यह चित्त इस वृत्ति से भी उपरत अर्थात् चिरक्त हो जाता है तब इसको भी त्याग देता है और केवल सत्त्वगुण के संस्कार के आश्रय रहता है और उसी संस्कारशाष्ट्र दशाको निर्दिष्ट कल्पसमाधि वा असम्पङ्गात् योग कहते हैं, असम्पङ्गात् का अर्थ यह है कि जिसमें ध्येय (ध्यान फरने योग्य ईश्वर) के अतिरिक्त और किसी विषय का ध्यान न हो, योग के प्रकार का है एक सम्पङ्गात् दूसरा असम्पङ्गात् ।

असम्पङ्गात्-योग में जब चित्त की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब समस्त दृश्य और विचार्य विषयों के अभाव से जीव किसका विचार करता है और उससमय उसकी किसी (स्वभाव) प्रकृति रहती है इस प्रकृति को चित्त में धारण कर के तीसरे सूत्र में इसका उत्तर देते हैं ।

प्रश्न—यह सूत्र अत्यंत संदेहजनक है, क्योंकि चित्तका लक्षण लिखे चिना ही उसकी वृत्तियों के निरोध का वर्णन करना किसी रीति से युक्त नहीं है ?

उत्तर—प्रत्येक शास्त्र में दो प्रकार के संक्षेत्र और सिद्धान्त होते हैं एक पूर्तितन्त्र और दूसरा सर्वतन्त्र, यहां परं चित्त शब्द ऐसा है जो लोकप्रसिद्ध है अतएव उसका भिन्न लक्षण लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है, हाँ जो अपने शास्त्रोपयोगिनी चित्तादिक संज्ञा हैं उनके लक्षण लिखने परमा चर्यक है ।

अब यह विचारना भी आवश्यक है कि भगवान् पतंजलि ने शास्त्राभ्यमें योग का फल वर्णों नहीं दिखाया ? क्योंकि विना फल को जाने कदापि मनुष्यों की प्रवृत्ति नहीं होती ?

इसका उत्तर यह है कि इस द्वितीय सूचीमें ही योग का फल लिख दिया है अभिपाय यह है कि विना पूर्णों के निरोध के वित्तवृत्तिशों का निरोध सर्वथा अदरम्भर है और नव श्वास के साथ वृत्तियों का निरोध होगा तो यनुष्य से पापाचरण भी नहीं होसकता है, भगवान् पनु ने भी लिखा है ।

दद्धन्ने ध्मायमानानां धातृनां द्वियथामलाः ।

तथा पुंसां प्रदद्धन्नते दोपाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

अर्थात् जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं का भल नष्ट होजाता है वैसे ही पूर्णों के निरोध से यनुष्यों के पाप नाश होजाते हैं ।

मुद्दिमान्नों ने समस्त प्राणियों के श्वास की संख्या आनु-
पानिक रीति से लिखी है जिसमें से मुख्य प्राणियों के श्वास की संख्या नीचे दिखाई जाती है

पूर्णी	प्रति मिनट	आयु
शशक	३८	८ वर्ष
कवृतर	६६	"
वानर	३८	२१ "
कुत्ता	२४	१४ "
बड़ुरा	८४	१३ "
विलार	८५	१३ "
घोड़ा	१६	५० "
मनुष्य	६३	१०० "
इधी	१२	१०० "

सर्प	८	१२०	"
कछुआ	५	१५०	"

किन्तु गृह शताय संख्या संवस्था पूर्णियों की है "रोगी और दूर्वस्त्रीयों के श्वास की संख्या को कोई प्रमाण नियत नहीं हो सकता है श्वास ही के आधर से पूर्णियों का जीवन है उसको निरोध करने से मनुष्य की आयु दूनी तिशुनी चौगुनी हो सकती है। महाराज भोजने योगका लक्षण यह लिखा है कि विच्छवृत्तियों को बाह्यविषयों से हटाकर प्रनिलेग्न रीति से अन्तर्लीन करना योग कहलाता है। भगवान् वृषभास ने अपने भाष्य में सब भूमियों का विवरण लिख दिया है किन्तु पाठकगणों को केवल नाम से वोध नहीं हो सकता है इसलिए हम उन भूमियों का नाम और स्पष्टर्थ नीचे लिखे देते हैं।

क्षिति—जिस अवस्था में मनुष्य का विच्छ ऐसा चञ्चल रहता है जैसे वायु से दीपक अर्थात् किसी विषय में स्थिर नहीं होता उसे क्षिति अवस्था कहते हैं।

विक्षिप्त—अवस्था वह है जिसमें विच्छ विषयों के सुखंड का अनुभव करता है अर्थात् जिस विषय की प्राप्ति के बास्ते पूर्यम विच्छ चञ्चल था उसको पाकर ज्ञानमात्र के लिये जो विच्छ के स्थिरता पूर्स होती है उसीही को विक्षिप्त अवस्था कहते हैं।

मूढ़—जिस अवस्था में क्राम वा क्रोधादि के वशमें होके मनुष्य अपने कर्तव्य को भूल जाता है उस तपोगुणाधिका भूमि को मूढ़ कहते हैं; कालीवर वेदान्त वागीश ने निर्दोक्षों इसी भूमिका में संयुक्त किया है परन्तु वह सर्वथा असंगत

हैं क्योंकि निद्रा को प्रमाण आदि ५ वृत्तियों में भगवान् सूत्र कार स्वयम् आगे लिखेंगे, जान पढ़ता है कि चेदान्त वागीश जी भूमिका और वृत्तियों के भेद का नहीं समझे हैं अन्यथा कभी निद्रा को मूढ़ न लिखते यदि निद्रा को मूढ़ भूमि के अन्तर्गत माने तो विपर्यय और विकल्प को एकाग्र के अन्तर्गत मानना पड़ेगा एवम् स्मृति का सर्वथा अभाव माना है अतएव कालीवर का लेख सर्वथा भ्रममूलक है [भूमिका और वृत्ति के भेद को वृत्तिनर्णन में लिखेंगे]

एकाग्र—अवस्था वह है जिसमें चित्त किसी एक विषय में निश्चल जल वा निर्वात दीपक के समान स्थिर हो जाता है, अथवा जिस भूमिका में रजोगुण और तपोगुण के भाव विनष्ट के समान होजाये और सच्चवगुण के भाव ही चित्त में सञ्चार करें उस भूमिका का नाम एकाग्र है यद्यपि रजोगुण आदि की ऐसी अवस्था को एकाग्र कह सकते हैं परन्तु रजोगुण में स्वयम् स्थिर स्वभाव नहीं हैं अतएव तद्विशिष्ट भूमिका को एकाग्र नहीं कह सकते हैं ।

निरुद्ध—भूमिका वह है जिसमें चित्त निरावलम्ब हो कि इश्वर के चिन्तन में अर्थात् योगसधाधि में लग रहता है ।

भोजदृ०—चित्तस्य निर्मलसर्वपरिएतमरुपस्य या धृत्योऽकाहिभावपरिणाममूलपास्तासां निरोधो धृतिर्मुखतया परिणतिविद्धेदादन्तमूर्खतया प्रतिज्ञोमांरिणामेन स्वकारणे लयो योग इत्याख्यायते । सच निरोधः सचसां चित्तभूमीनां सचप्राणनां धर्मः कदाचित् करथाविद्धू भूमौ व्याविर्भवति । तात्प्र त्रिसं मूढ़ त्रिसं धृतं एकाग्रं नि ।, रुद्रभिति चित्तस्य भूमयः चित्तस्यावस्था विशेषः । दत्र त्रिसं रजसः उद्गोकात्सिद्धर्यं धृतिर्मुखतया सुखदुःखद्विविषयेषु त्रिलिपतेषु व्यवहितेषु सन्ति द्वितेषु च । रजसा प्रेतिनं नक्ष सदैव दैनदारावानीनाम् मूढ़ तमस उद्गोकात् कृत्याकृत्यविभागमन्तेष्या ग्रन्थादिभिः विरुद्धः कृत्येष्वेव नियमितम् तत्त्वं सदैव इत्था प्रियाचारीनाम् । विक्षिप्तु

सत्त्वोद्ग्रेकात्मैशिष्टयेन परिदृत्य दुखसाधनं सुखसाधनेष्वेष
शक्त्वादिपु प्रवृत्तं तच्च सदैव देव। नाम् । एतदुक्तं भवति रजसा प्रवृ-
त्तिरूपं तमसा पराप्रकारनियतं सत्त्वेन सुखमयं चित्तं भवति । एता-
स्तिस्त्रियनावस्थाः समाधावनुपयोगिन्यः । एकाशनिश्चलरूपे द्वेच
सत्त्वोत्कर्पात् यथोत्तरमधस्थितस्यात् समाधावनुपयोर्गं भजेते । सत्त्वा-
दिकमध्युतक्तमे तु अथमभिप्रायः द्वयोरपि रजस्तमसोरत्यन्तहेयस्त्वेऽ-
प्येतदर्थं रजसः प्रथममुपादानम् । यावद्ध प्रवृत्तिर्दिग्धिना तावजित्तु-
त्तिर्तं शक्यते दर्शयितुमिति द्वयोर्बर्यस्ययेन प्रदशनम् । सत्त्वक्य तु पृत-
दर्थं पञ्चात् दर्शनं यत् तस्योत्कर्पेणात्तरे द्वे भूमी य. गापयोगिन्या-
विति । अनयोर्द्वयोरेकाश्रनिश्चलयोर्भू मयांयस्थितस्यैकाग्रतारूपः परि-
णामः स योग हयुक्तं भवति । एकाश्रो विहृत्वा चित्तिनिरोधः । निरुद्धे च
सब इस्तां दृत्तीनां संस्काराणां च प्रविलय इत्यनयोरेव सूम्ययोगस्य
सम्भवः ॥ २ ॥

इदानां सूत्रकारः चित्तचृत्तिनि रोधपदानि ध्यायातुकामः
प्रथमं चित्तपदं उपाचारे ।

भोज भा०—मल रहितशुद्ध परिणामरूप चित्त की जो दृष्टि
अर्थात् अंगीणि भाव की दृश्यरी दशा (परिणाम) उनके निरोध
विहृत्वाभाव (सांसारिक विषयों, मैलगी हुई) को रोक कर, अन्त-
मुखभाव में स्थिर करके उनके कारण अर्थात् चित्त ही मैलय कर
कैना योग कहाता है । यह चित्तचृत्तियों का निरोध सब प्राणियों का
एक स्वाभाविक गुण है और वह सब भूमियों में हो सकता है, परन्तु
किसी अवस्था में वह निरोध प्रकाशित हो जाता है और किसी में
छिपे रूप से रहता है ।

चित्त की पाँच भूमि हैं, १ लिम, २ विलिम, ३ मूढ़, ४ एकाश,
पुनिरुद्ध यह चित्त की विशेष अवस्था है । इनमें से जो अवस्था
मंजोगुण की प्रधानता के कारण से सांसारिक विषयों में चित्त को
फँसाये रखती है उसे द्वितीय कहते हैं, यह भूमि दैत्य और दानवों को
संदा प्राप्त रहती है । मूढ़ भूमि वह कहानी है जो तमोगुण की

*मलविके गवरणरूपाखयोदोषाश्चित्तचांचल्यकारिणस्तानश्च-
द्वूत्त्वैव योगाचकार्षा कार्येति सूचयनाह निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्येति ।

क्षयप्रैकादशगिनिवो सप्राप्ताचयरूपं वेनोपचरन्ति ।

प्रधानता को धारण करके कर्तव्य और अकर्तव्य के विभाग को भुला देती है तथा कोधादि को के बश में डाल कर चित्त को सदा धुरे कर्मों में ही संसारे रखती है यह भूमिका राक्षस और पिशाच लोगों को प्राप्त रहती है । विक्षिप्ताधस्था धह है जिस में सत्त्वगुण की अधिकता से विशेष रूप से दुःख के साधनों को दूर करके सुख के साधन शब्दादिकों ही में जो लगाये रहे उसे विक्षिप्त भूमि कहते हैं; फलितार्थ यह हुआ कि रजोगुण से सांसारिक विषयोंमें चित्त की प्रवृत्ति होती है । तमोगुणसे दूसरों के अपकार करनेमें और सत्त्वगुण से सुखमय चित्त होता है । यह तीनों अवस्था समाधि में सहायक नहीं होती है । एकाग्र और निरुद्ध यह दोनों अवस्था निर्मल और अन्तिम होनेके कारणसे योगमें सहायक होती है । रजोगुण और सतोगुण तथा इनकी अवस्थाओं को त्यागना चाहिए (अथवा रजोगुण के कार्य सुख रूप जान पड़ते हैं और तमोगुण के कार्य परिश्रम रूप होने से दुःख रूप जाने जाते हैं) इस देश से रजोगुण को प्रथम लिखा है । प्रवृत्ति के बिना दिखलाए निरुचित नहीं हो सकती है इसलिये उनकी प्रवृत्ति को शाखा कारने दिखलाया है किन्तु योग की अन्त्यन्त संषायक होने के कारण सत्त्वगुण की प्रवृत्ति दिखलानी तो बहुत ही आवश्यक थी । एकाग्र और निरुद्ध वस्थओं में जो चित्त का एकाग्रता रूपी परिणाम होता है उसे ही योग कहते हैं योगिकि चित्त के एकाग्र होने ही से बाहर की प्रति रूप जाती है एवं वृत्तियों के रूपने से सब दृति और संस्कारों का खय हो जाता है इसमें निरुद्ध और एकाग्र भूमि ही में योग हो सकता है ॥२॥

तदाद्रष्टुःस्वरूपे ज्वरस्थानम् ॥ ३ ॥

सू० का पदार्थ-(तदा) उस समय (द्रष्टुः) देखने वालेकी निर्विकल्प संमाधिस्थ जीवकी (स्वरूपे) आत्मचिन्तन में (अवस्थानम्) अधरित ॥

सू० का भावार्थ-जब चित्त की समस्त दृतियों का निरोध हो जाता है तब समाधिस्थ होकर जीवात्मा केवल अपने-रूपको ही देखता है और उसही का विचार करता है (यह दशा निर्विकल्प समाधि में होती है)

धार्यम्—स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्था के लिये व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ति न तथा कथंतहि दर्शित विषयत्वात् ॥ ३ ॥

भा० का पदार्थ—अपने स्वरूप में स्थित वा अपने स्वरूप का विचार तब ज्ञान शक्ति जैसे कैवल्य मुक्ति में उत्थान सहित विच होने पर भी तौ भी होते हैं तैसे नहीं तो फिर कैसे देखे हुये विषयों के कारण से ॥

भाष्य का भावार्थ—जब असम्प्रज्ञात योग में चित्त की स्थिति हो जाती है तब जीव केवल अपने स्वरूप का विचार और दर्शन करता है जैसे कैवल्य ॥

मोक्ष में ज्ञान शक्ति रहती है ऐसे निर्विकल्प समाधि में भी वह ज्ञानशक्ति रहती है उस शक्ति का साफल्य तभी होता है जब किसी ज्ञेय पदार्थ से सम्बन्ध हो तब उस निर्विकल्प समाधि में ज्ञेय विषय वया है । इसका उत्तर यही है कि उस असम्प्रज्ञात योग में केवल अपना स्वरूप ही ज्ञेय है क्योंकि जब तक दृष्टि वाला विषयों को देखता है तबतक वह अपने स्वरूप को नहीं जान सकता ॥ ३ ॥

भो० छ०—द्रष्टुः पुरुषस्य तस्मिन्द्रष्टाले खरूपे चिन्मात्रतायाम-
वस्थानं स्थितिर्भवति । प्रथमध्यः उत्पन्नविवेकल्याते संक्रमाभावात्
कर्तृत्वाग्निमानविद्युत्तो प्रोत्सुक परिणामायाँ तु द्वौ च आत्मनः रवरूपे
गायस्थानं स्थितिर्भवति व्युथानदशायाम्बु तस्य किं रूपम्? ॥ ३ ॥
इत्याह ।

भा०—अब सूत्रकार चित्त की दृचियोंके विवरणको लिखनेकी इच्छासे प्रथम चित्त का विवरण लिखते हैं ।

द्रष्टा अर्थात् पुरुष को उस समयमें स्वरूप अर्थात् चिन्मात्रतामें अवस्थान अर्थात् स्थिति होती है, फलितार्थ यह है कि जब कि ज्ञान

कैवल्य का लक्षण कैवल्य पाद में वर्णन करेंगे ॥

उत्तरपत्ति होता है तथ चित्त चञ्चलता रहित होकर कर्तृत्व के अभिमान को त्याग देता है । अभिमान के जिवृत्त होनेपर चञ्चलता रहित शुद्धि में जीव की स्थिति होती है ॥ १ ॥

वृत्तिसारूप्यमित रत्र ॥ ४ ॥

सू० का पदार्थ—(वृत्तिसारूप्यम्) वृत्तियों से अभेद (इतरत्र) और अवस्थाओं में ॥ ४ ॥

सू० का भावा०—निरुद्धावस्था के अतिरिक्त और दशाओं में चित्त वृत्ति के रूप को धारण कर लेता है ॥

व्या० भा०—व्युत्थाने याः चित्तवृत्तयः तदविशिष्टहृत्तिः पुरुषः तथाच मूलम् एकमेवदर्शनं रूपातिरेव दर्शनमिति चित्तमयस्कान्त मणिकल्पं सन्निधिमात्रोप कारि दश्यत्वेन स्वम्भवति पुरुषस्यस्वामिनः तस्मा चित्तवृत्तिवैषे पुरुषस्यामादिः सम्बन्धो हेतुः ॥ ४ ॥ ताः पुनर्निरोहव्या वहुत्ये सति चित्तस्य

विशेष—(ग्र०) इस सूत्र और भाष्य में यह शब्द होती है कि द्रष्टा अपने स्वरूपको आपदी नहीं देख सकता जैसे नेत्र अन्य पदार्थों को देख सकते हैं अपने रूपको नहीं इसही प्रकार से जीवात्मा भी अपने स्वरूपको देखने में असमर्थ है ॥ ४ ॥

(उ०) यह ठीक है परन्तु देखने में नेत्र परतंत्र हैं वर्योंकि नेत्र द्वारा सब पदार्थों का द्रष्टा जीव है वस जीवात्मामें दो प्रकार की दर्शन शक्ति होती है एक स्थूल दूसरी सूक्ष्म सूक्ष्महृषिको ही दिव्य हृषिभी कहते हैं । जीवात्मा दर्शनमें अत्यन्त सहायक नेत्रसे पदार्थान्तरोंको देखता है और दिव्य हृषि अर्थात् सूक्ष्म हृषि से सूक्ष्म परमाणु आदि पदार्थ तथा अपने रूपको भी देखता है क्यों कि परमेश्वर भी स्थूल हृषि का अवश्य है और छठवल्ली उपनिषद में वहुत स्थलों पर लिखा है कि “तस्य योनि परिपश्यन्त धीराः” अर्थात् ज्ञात परमेश्वर को धीर लोग देखते हैं इस

से सिद्ध हुआ कि सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म पदार्थ और स्थूल दृष्टि स्थूल पदार्थ देखे जाते हैं और जो नेत्र का दण्डन्त है वह तीक नहीं क्योंकि दर्पण में नेत्र अपने स्वरूप को आप देख सकता है वह ऐसे ही योग के आश्रय से जीवात्मा भी अपने स्वरूप को देख सकता है इस में कोई आपत्ति नहीं ॥ ४ ॥

भा० का० प०-चित्त की चपलता में जो चित्तकी वृत्ति है उनसे भिन्न जीवात्मा है ऐसा ही सूत्र में लिखा है एक जीवात्मा ही देखनेका साधन विचार ही देखना है चित्त स्फटिक-मणि के समान है समीप में स्थित दृश्य पदार्थों के संयानआप भी हो जाता है जीवात्मा का इसलिये चित्त की वृत्तियों के ज्ञान में आत्मा का सदा का संसर्ग कारण है ॥ ४ ॥ वे चित्त की वृत्तियाँ रोकने योग्य हैं चित्त की इनके वृत्ति होने से ।

भा० का भावार्थ-चित्त की चपलता से जो अनेक वृत्ति याँ उठती हैं उन सब से आत्मा पृथक् रहता है और जी में सुखी वा दुःखी हूँ ऐसे कथनसे आत्मा में वृत्तियों का सम्बन्ध भान होता है वह यूपजन्यहै जैसे स्फटिक पत्थर अपने समीप में रखें पदार्थ के समान रंग वाला दीखने लगता है वस्तुतः उस स्फटिक में कोई भी रंग नहीं रहता है ऐसे ही आत्मा भी शुद्ध है परन्तु वृत्तियों के स्वस्वामीभाव सम्बन्ध से आत्मा में सुख दुःखादि प्रतीत होते हैं । चित्त वृत्तियों के द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें ज्ञान स्वरूप आत्माका अनादि सम्बन्ध ही कारण है पनुष्य को उचित है कि चित्त की वृत्तियों को रोके क्योंकि चित्त की अनेक वृत्ति इनसे अगले सूत्र में लिखी शृणियाँ दुःखदायिनी होती हैं ।

विशेषार्थ-भगवान् पतञ्जलि ने तीसरे सूत्र में कहा कि समप्रकाश योग में जीव केवल अपने स्वरूप को देखता है परन्तु

इस में शद्ग्रा होती है कि इस निरुद्धावस्था में योगी की दशा और मनुष्यों के समान रहती है वा कुछ विलक्षण होनाती है (८०) वृत्तिसारूप्यमितरब्र ‘इतरस्यां वृत्तौ’ अन्य अवस्थाओं में अर्थात् निरुद्धावस्था के अतिरिक्त योगी की दशा अन्य मनुष्यों की वृत्ति से कुछ विलक्षण ही होनानी है ॥४॥

दूसरा अर्थ-निरुद्धावस्थाके अतिरिक्त ज्ञानादि अवस्थाओं में जीवात्मा दृश्य पदार्थ के रूप को धारण करते होते हैं अर्थात् जब जीवात्मा किसी वस्तु के जानने की इच्छा करता है तब नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा जीव की वृत्ति बाहर निकल कर दृश्य वस्तु के रूप में परिणत हो (घटल) जाती है और फिर वह पदार्थ के रूप में परिणत हुई वृत्ति जिस इन्द्रिय द्वारा बाहर प्राप्ती थी उस ही मार्ग द्वारा अन्तःकरण में प्रवेश कर जाती है, पथात् जीव और उस वृत्ति के योग होने से जीव को ज्ञेय पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है वृत्ति और वृत्तिमान् का सम्बाय सम्बन्ध होने से जीव ही वृत्तिरूप कहा जाता है । इस अर्थमें पूर्वसूत्र से ‘द्रष्टुः’ पदकी अनुवृत्तिः ज्ञाती है । कोई राचार्य पूर्वसूत्र स्थित प्रमाणन्त ‘द्रष्टुः’ शब्द से सर्वदृष्टा परमेश्वर को ग्रहण करते हैं स्त्ररूप शब्द को योगरूढ़ी मान कर यह अर्थ करते हैं कि ‘जब जब जीव निरुद्धावस्था में स्थित होता है तब परमेश्वर के रूप में स्थिति को लाभ करता है’ और कोई परिणित द्रष्टुः शब्द की उत्तरसूत्रमें अनुद्वत्ति समझ कर तद्राच्य जीव को मानते हैं ॥ ४ ॥

भो० वृ०—इतरब्र योगादन्त्यस्मिन् काले वृत्तयो या चक्ष्यमाणस्तक्षणास्तमिः साकर्ष्यं तद्रूपत्वम् । आयमर्थः यादृश्यो वृत्तयो दुःखमोहसुखाद्यात्मिकाः प्रादुर्भवन्ति ताहरूपं एव सर्वेषां व्यवहृतमिः पुरुषः । तदेवं यस्मिन्नेकाग्रतया परिणते विविक्तः स्वस्मिन् रूपे प्रति छिनो भवति । यस्मिन्नेन्द्रिय वृत्तिद्वारेण विषयाकारेण परिणते पुरुष

स्तदाकार एव परिभाव्यते यथा जलतरङ्गे ऐ चलतसु चन्द्रश्चलनश्च
प्रतिभासते तच्चित्तभृत्तिपदं द्वाख्यातुमाह ॥४॥

ध्युत्थान दशा में जीव का कैसा रूप रहता है उसका अगले
सूत्र में वर्णन करते हैं ।

भा०—अन्यत्र अर्थात् योग करनेके काल से भिन्न समय में जो
वृत्ति आगे कही जायेगी उनके रूपके समानही रहता है फलितार्थ
यह है कि जैसी सुख दुःख वा मोह रूपी वृत्ति उत्पन्न होती है वैसी
ही पुरुष की भी प्रतीत होती है इससे चित्त एकाग्र आवस्था को धा-
रण करता है तब ज्ञानशक्ति में उसकी स्थिति होती है और जब इन्द्रि-
यों के द्वारा विषय वृत्तियों को धारण करता है तब चित्त विषयाकार
ही जान पड़ता है जैसे चलती हुई जलकी तरङ्गों में चन्द्रमा भी चल-
ता हुआ जान पड़ता है ॥ ४ ॥

वृत्तयः पञ्चतयः किलष्टाकिलष्टाः ॥ ५ ॥

पदार्थ—(वृत्तयः) वृत्तियां चित्तके परिणाम विशेष
(पञ्चतयः) पांचों (किलष्टां) हुखित हों मनुष्य
जिनसे वे किलष्ट कहलाती हैं (अकिलष्टाः) सुखी हों
मनुष्य जिन से ॥ ५ ॥

भावार्थ—(अगले सूत्र में लिखी हुई ५ वृत्तियां) दुःख
और सुख की देने वाली होती हैं ॥ ५ ॥

द्यासदेवकृत भाष्य—कलेशहेतुकाः कर्मशयप्रचये क्षेत्री-
भूताः किलष्टाः । ख्यातिविषया गुणाधिकार विरोधिन्योऽकिलष्टाः
किलष्टप्रवाहपतिता अप्यकिलष्टाः किलष्टछिद्रे प्वप्यविलष्टा भवन्ति
अकिलष्टछिद्रेषु किलष्टा इति । तथा जातीयकाः संस्कारा वृत्ति-
विरेव क्रियन्ते । संस्कारैश्च वृत्तय इति । एवं वृत्ति संस्कारचक्र
मनिशपावर्तते । तदेवं भूतं चित्तमवसिताधिकारपात्मकच्छेन व्यव-
तिष्ठते प्रलये वा गच्छतीति ताः चिलष्टश्चकिलष्टाश्च पञ्चधा
वृत्तयः ॥ ५ ॥

* विद्या तात्त्व किलष्टाकिलष्टमेदोभ्यां द्विधा प्रमाणहृदभेदैश्च पञ्चधा ।

पदार्थ-क्लेश अर्थात् दुःख का कारण कर्म अर्थात् विहित और निपिद्ध चेष्टाजन्य प्रारब्धादि शब्दवाच्य का जो शाश्य अर्थात् फल उसके प्रचय अर्थात् उत्पत्ति में खेत के समान रूपाति अर्थात् आत्मरूपाति वा आत्मविचार सद् रज तम गुणों के अधिकार की विरोधिनी अर्थात् उन से रहित अक्लष्ट कहलाती हैं दुःख प्रवाह में पतित अर्थात् प्राप्त हुई भी अक्लष्ट वृत्तियाँ होती हैं सुखप्रद कर्ममें दुःखप्रद ज्ञ द्विष्ट होती हैं उन वृत्तियों के समान संस्कार अर्थात् क्लिष्ट से क्लेश और अक्लष्ट से सुखप्रद संस्कार वृत्तियों के द्वारा होते हैं और संस्कारों से वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं इस प्रकार से वृत्ति और संस्कारों का चक्र रात दिन चलता रहता है । वह ऐसा चित्त अर्थात् विक्षेप और अक्लष्ट वृत्ति तथा संस्कारों में ग्रस्त चित्त अस्त होगये हैं अधिकार जिस के अपने स्वरूप से स्थिर सहवा है अथवा लय होनाता है । क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियाँ प्र प्रकार की हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ-क्लिष्टका अर्थ यह है कि क्लेश अर्थात् आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों का हेतु अथवा जिस वृत्ति में सञ्चित क्रियाएँ और प्ररब्धरूप कर्मफल उत्पन्न होते हैं उसे क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं और जिसमें केवल आत्मरूपाति अर्थात् सांसारिक विषयों से विरक्ति पूर्वक ईश्वर का विचार होता है एवं जो वृत्ति गुणाधिकार अर्थात् सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग रहित हो वह अक्लिष्ट कहलाती है यद्वा जो वृत्ति दुःख प्रवाह के बेग को रोक करके

*यदि मनुष्य को केवल सुखकी सुख रहे और कभी दुःख नहो तो वह उस सुख के स्वाद को नहीं जान सकता इसलिये यह सत्त्वगुण भी उत्तम है ।

प्रकट होती है उसे किलष्ट कहते हैं अथवा जो दुःखस्थल से उत्पन्न हो वह किलष्ट और जो मुखस्थल में उत्पन्न हो वह अकिलष्ट जो जैसी वृत्ति होती है उस से वैसा ही संस्कार उत्पन्न होता है और पुनः वह संस्कार उसी वृत्ति को उत्पन्न करता है इस प्रकार से यह वृत्ति संस्कार चक्र रातदिन चलता है और चित्त भी इसी ही चक्र के अनुसार चंचल रहता है । यदि विवेक वैराग्यादि । अकिलष्ट वृत्ति और संस्कार में चित्त स्थित हो जाता है तो अत्यानन्द मोक्ष मुख को प्राप्त होता है और यदि काम क्रोध लोभ मोहादि किलष्ट वृत्तियों को ग्रहण कर लेता है तो महा दुख स्वरूप प्रलय को प्राप्त हो जाता है ।

विशेष—यदि कोई प्रश्न करे कि दृश्य पदार्थ श्रसंरूप हैं उनके योग से चित्त में वृत्तियां उत्पन्न होती हैं तो वृत्तियां भी असंरूप होनी चाहियें फिर सूक्षकारने दो वा ५ वृत्ति कैसे खिली हैं तो इसका यह उत्तर है कि वृत्ति तो असंरूप ही हैं परन्तु उनके भेद ५ हैं जिस प्रकार प्राचीन आर्यवर्ति निवासी करोड़ों मनुष्य हैं परन्तु उनके मूल्य ४ भेद हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।

भा० द्व०—वृत्तियस्त्रितस्य परिणामविशेषः । वृत्तिसमुदाय लक्षणस्य अवयविनो या अधयभूता वृत्तयस्तदपेक्षया तदप्रत्यः । पंतकुन्तं भवति पञ्चवृत्तयः कीटश्यः ? किलष्टः अकिलष्टः क्लेशैर्यज्ञ-माणलक्षणैराकान्ताकिलष्टः तद्विपरीताअकिलष्टः ॥५॥

पताएच पञ्च वृत्तयः संक्षिप्त उद्दिश्यन्ते ।

भा०—वृत्ति विस के विशेष परिणाम हैं, सामान्य लक्षण युक्त वृत्ति अवयवी और अन्य विशेष लक्षण वाली वृत्ति अवयव हैं इस बात को जंतलाने के बास्ते तयार किया गया है ॥ वह वृत्ति-

॥संख्यावयवेषुतयवित्यनुशासनेन तयपविहितोर्यस्त्वमेव ध-
क्षयमाणलक्षणाः पञ्चवृत्तयोवयवा यासान्ताः पञ्चतत्त्वः धस्तुतस्त्वा-
साँ द्वैविधमेव किलष्टाकिलष्टमेदात् केवित्वेकस्यावृत्तेद्वैविश्यमानन्ति ।

कैसी हैं १ आगे लिखे लक्षणं सुक्त क्लेशों के सहित क्रिलष्ट और उनसे विपरीत अविलप्त ॥ ५ ॥

इन्ही ५ वृत्तियों का विशेष दर्शन आगे लिखते हैं ।

प्रमाणविपर्यविकल्पनिद्रासमृतयः ॥ ६ ॥

सूत्र का पदार्थ—[प्रमाण] यथार्थ ज्ञान का साधन, मिथ्याज्ञान, ज्ञेयशून्य जिसका कलिपत नाथ हो परन्तु वस्तु कुछ न हो जैसे 'खलुषु दद्म्' नरश्रंग [निद्रा] सोना (स्मृतिः) पूर्वश्रुत वा दृष्ट पदार्थ का समरण करना ।

भावार्थ—पूर्व सूत्र में कही हुई ५ वृत्तियों के यह नाम हैं, १ प्रमाण २ विपर्यय वृत्ति, ३ विकल्प वृत्ति ४ निद्रा वृत्ति ५ स्मृति वृत्ति ॥

महर्षि व्यापदेवने इस सूत्र को सरक्ष समझ कुछ भाष्य नहीं किया ।

भौ० वृ०—आसाँ कमेण लक्षणमाह ॥ ६ ॥

क्रम से इन का लक्षण कहते हैं ॥ ६ ॥

तत्रप्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

सू० पदार्थ— तत्र पांच वृत्तियों में प्रत्यक्षानागमाः प्रत्यक्ष अनुमान और आगम (प्रमाणानि प्रमाण वृत्ति कहलाते हैं ॥७॥)

सू० भावार्थ—प्रत्यक्ष पांच वृत्तियों में से प्रमाण वृत्ति ३ प्रकार की हैं ? प्रत्यक्ष—२ अनुमान—३ आगम ॥७॥

व्या० कृ० भा० इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य नाश वस्तु परागात् तद्विषया सामान्य विशेषात्मनोर्थस्य विशेषा वधारण प्रधानावृत्तिः प्रत्यक्ष प्रमाणं फलमविशिष्टः पौरुषेयशिवतद्वृत्ति वृद्धः द्वुद्धः प्रति संवेदिपुरुपः इत्युपरिपृष्ठादुपपादयिष्याम अनुमे

यस्य तु क्य जातीय ये षष्ठ्यनुक्तो भिन्नजाती येभ्यो डपाहृतः
सम्बन्धयस्तद्विपया सामान्यवधारण प्रधाना वृत्तिरनुगानेभ् ।
यथा देशान्तर प्रासेर्गतिपच्चन्द्रवारकं चैत्रवत् विन्ध्यश्चापासिर
गतिः । आसेन दृष्टोऽनुभितोवार्थः परत्र स्वावोध संक्रान्तये
शब्देनोपदित्यते, शब्दाचदर्थ विपया वृत्तिः ओतुरागमः यस्या
श्रद्धेयर्थे वक्तान द्रष्टानुभितार्थः स अग्रगमः प्लवते मूलदक्ष
रितुदृष्टानुभितार्थे निर्विष्णवस्यात् ॥ ७ ॥

पदार्थ—ज्ञान इन्द्रियों के मार्ग से वाक्य अर्थात् सांसारिक
पदार्थों की प्रीति से उस के लिये सामान्य अथवा विशेष पदार्थ
और विच्च के सम्बन्ध को अच्छी प्रकार से जो निश्चयत्तमक
निर्णय करना है वह मुख्य वृत्ति प्रत्यक्ष कहलाती है जिसन्तु
का अनुपान कियाजाता है उसे अनुभेद कहते हैं उस अनुभेद
को एक जातिवाले पदार्थों युक्तकरने वाला भिन्न जातिवाले
पदार्थों से पृथक् करने वाला जो सम्बन्ध है उस सम्बन्ध का
निस वृत्ति के द्वारा सामान्य रीति से विचार किया जाय उसे
किया जाय उसे अनुपान प्रयाण कहते हैं । जैसे देशान्तर
अर्थात् एक स्थल में दूसरे स्थलमें चले जाने के कारण चन्द्रमा
तथा समस्त तारादि लोक चलने वाले हैं चैत्र नामक पुरुष के
समान विन्ध्य नामक पर्वत की अन्य देशों में अप्राप्ति है इस
लिये वह गमनक्रियारहित है । आस अर्थात् सत्यवक्ता धर्म
तत्त्ववेत्ता और सत्त्वोपदेष्टा पुरुषने जिसविषयको देखा वा जिसका
अनुपान किया है दूसरे पुरुष में निज ज्ञानके प्रदान के लिये
शब्द द्वारा जो उपदेश किया जाता है वह आगम वृत्तिकहलाती
है ॥ ७ ॥

भावार्थ पूर्व सूत्र में कही हुई प्रयाण वृत्ति ३ पकार की
है, १ प्रत्यक्ष, २ अनुपान, ३ आगम जिसमें इन्द्रिय द्वारा विच्च

की वृत्ति बाहर निकल कर बाह्य वस्तुओं से संयोग करके आत्मा को उस पदार्थ का ज्ञान कराती है उस का नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है अनुमेय (जिसका अनुपान किया जाता है) पदार्थ को समान गति वालोंमें मिलाने वाले और भिन्न जातीय पदार्थों से पृथक् करनेवाले सम्बन्धको प्रकाश करने वाली प्रधान वृत्ति को अनुपान कहते हैं, चन्द्र और तारा आदि चलते हैं। क्योंकि एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाना विना चलने के सिद्ध नहीं हो सकता इस से चैत्र नाम पुण्य के समान सूर्यादि संबंध लोक चलते हैं एवं विन्ध्याचल गति शून्य है क्यों सदा एक ही स्थल में रहता है, आम अर्थात् धर्माधिर्म तथा सत्य के विवेक सृजन महिं प्रकार से देख कर वा अनुपान करके परोपकार के निमित उपदेश करते हैं उसका नाम आगम प्रमाण है ॥ ७ ॥

७ मूलत्रय प्रमाण वृत्तिके यथपि अन्य शास्त्रोंने ८ । ४ वा ५ भेद पाने हैं परन्तु वह मन इन ३ ही के अन्तर्गत हो जाते हैं उपमानका प्रथम भाग शब्द प्रमाण में अन्तभूत हो जाता है और शेष भाग अनुपान प्रमाण से चरिताध होता है परन्तु उपनाम का शेष भाग स्थिति के अंतर्गत होने योग्य है क्यों कि उपमान वास्तव में शोई प्रमाण नहीं है, इस ही रीति से अधिपति आदि प्रमाण भी इन्हीं के अंतर्गत हो जाते हैं, अन्य शास्त्रों-प्रत्यक्षादिकों के लक्षण विस्तार पूर्वक लिखे हैं और वह लक्षण योगाभ्यास में कुच भी उपयोगी नहीं है अतएव उनको इस शास्त्र में लिखा व्यर्थ समझ कर भगवान् पतञ्जलि ने केवल भेद ही लिख दिये हैं प्रमाण के यथपि बहुत से लक्षण हो सकते हैं परन्तु सामान्य रीति से यह लक्षण अच्छा जान पड़ता है कि सामान्यतोर्यप्रतिपत्ती

हेतुनो विशेषाधीरणम् प्रमाणम् ॥ यदा “अविसर्वादिहानं प्रमाणम्” इस वर्णन से प्रमेय और प्रमाता की त्रिपुरी को भी समझ लेना चाहिये ॥ ७ ॥

भो० व०—अत्र अतिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां शास्त्रकारेण भेद-लक्षणेनैव गतत्वात् लक्षणस्य पृथक् लक्षणं न कृतम् । प्रमाणलक्षणं न्तु अविसर्वादिप्राप्तिं इन्द्रियद्वारेण वाक्यवस्तुपरागाद्वित इति तद्विषयसामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषाधीरणम् प्रमाणम् । यहीत सम्बन्धात् लिङ्गात् लिङ्गिति सामान्यच्यवसायोऽनु-सामनम् । आसद्वचनम् आगमः ॥ ७ ॥ परं प्रमाणरूपां वृत्तिं व्याख्यातं विपर्ययं लुप्तमाह ।

भा०—प्रमाण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं तथा शब्द शास्त्र की रीति से व्युत्पत्ति द्वारा ही उनके लक्षण सिद्ध होते हैं अतपव उनके भिन्न लक्षण नहीं लिये । प्रमाण का लक्षण तो इतनी ही ठीक है कि जो कि संवाद अर्थात् विवाद रहित हो वह प्रमाण कहाता है (१) जानेन्द्रियों के द्वारा वाद्य पदार्थों के ग्रहण से चित्त को सामान्य ज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान प्राप्त करने की प्रधानवृत्ति है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं, किस अंग के प्रत्यक्ष होने से अङ्गों का जो विशेष निश्चय किया जाता है उसे अनुमान कहते हैं, आप के चक्रन को आगम प्रमाण कहते हैं ॥ ७ ॥

इस प्रकार से प्रमाण वृत्ति के भेदों को कह कर अगले सन्दर्भ में विपर्यय वृत्ति का वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

पदार्थ—(विपर्ययः) “जो पदार्थ के सत्यस्पष्ट को छिपा दे उसे विपर्यय कहते हैं (मिथ्याज्ञानम्) इठों ज्ञान (अतद्रूपप्रतिष्ठम्) जिसके द्वारा पदार्थ अपने पारमार्थिक रूप से भिन्नरूप में भान हो ॥८॥

(१) प्रमाणान्य ज्ञानम् प्रमाणम् प्रमाता अवादितोर्था वंगाही वोधः आत्मेन्द्रियार्थान्वया दुत्पद्यमानम् परिणामिज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

भावार्थ—सिद्धांशुहान अर्थात् जिस से पदार्थ का पारमाधिक रूप न मान हो उसे विषयव्यवृत्ति कहते हैं ॥ ८ ॥

विशेष—अनुमान में ४ पदार्थ आवश्यक होते हैं पक्ष, +माध्य द्वेषु और उदाहरण । जो विश्ववाच्य भज्ञानार्थने घणने सिद्धान्त मुक्त-घलयादि प्रधों में पंचावयव घणय को अनुमान माना है वह केवल इटमात्र है पर्याक द्वेषु से पृथक् कोई पदार्थ नहीं हो सकती ।

व्या० भा०— सकस्मान्नगमाणम् यतः प्रमाणानं सिद्ध वा-
ध्यते । भूतार्थविषय त्थात् प्रमाणस्य तत्र प्रमाणेन वाधनमप्यम-
णस्यद्वयम् तथथा—द्विचन्द्रदर्शनं । सद्विषयेणकचन्द्रदर्शनेन
वाध्यते से यं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या—अविद्यास्मिता रागद्वेषाभि-
निवेशाः क्लेशा इति । एतएव स्वसज्जाभिस्तमो ष्ठोहो महामोह-
स्तापि सर्वन्धनापिसू इति । एते चित्तमलप्रसंगेनापिधास्यन्ते ॥ ८ ॥

पदार्थ—वह किस वारण से प्रमाण नहीं है प्रमाण से खड़ित हो जाता है प्रमाणके भूतार्थ विषयक होनेसे उक्त तीनों प्रमाणों में प्रमाण द्वारा खंडन होना अप्रमाण का देखागया है । जैसे दो चन्द्रमाओं का देखना एक चन्द्रमा के देखने से खंडित होजाता है वही विषयव्ययां खमेद्वाली अविद्या है पांच भेद यद्य हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । यही अविद्या के पांच भेद अपने नामोंके अनुसार तम, मोह, महामोह तामिल और अन्धतामिल कहलाते हैं । ये चित्तके मल वर्णन के प्रसंग में फैले जायंगे ।

भा० का भा०—वह विषयव्यहान प्रमाण नहीं है पर्याक ज्ञान से खंडित हो जाता है प्रमाण से अप्रमाण का खण्डन होजाना दृश्य धर भी देखा गया है जैसे दो चन्द्रमा का दर्शन प्रत्यक्ष एक चन्द्रमा के दर्शन से खण्डन होता है इस विषयव्यय को ही अविद्या कहते हैं और उस के पांच भेद हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन्हीं पांचों के दूसरे नाम तम, मोह, महामोह, तामिल अन्धतामी इनका विशेष वर्णन चित्तमल के प्रसंग में किया जायगा ॥ ८ ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानेन्द्रियों के भेद से ५ का है । १. चाक्षुप्र प्रत्यक्ष,
२ श्रावण प्रत्यक्ष, ३ रासन प्र०, ४ व्याङ्गज प्र० और ५ त्वाच प्र० ।

८ सूक्ष्म विं०—योग में चित्त वृत्तियों का निशोध ही मुख्य है अत व्य क्रम से उनका वर्णन करनाही आवश्यक है, प्रथम प्रमाणवृत्ति का

वर्णन करके अब विपर्यय का साक्षण कहते हैं विपर्यय का सामान्य लक्षण यह है “अपवाभूतेर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्ययं” जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान वा जीव में ब्रह्म ज्ञान, यह वृत्ति प्रमाण नहीं है वर्णोंकी प्रमाण से इसका खण्डन हो जाता है ॥ ८ ॥

भौ० दू० अन्याभूतेर्थे तथोत्पद्यमानं ज्ञानं विपर्ययः । यथा शुकिकायां रजतश्चनम् । अतद्धूपप्रतिष्ठुतमिनि । तस्पार्थस्यद्वूपं तस्मिन् रूपे न प्रतिष्ठुति तस्या र्थस्य यत् पारमार्थिकं रूपं न तत् प्रतिभासयतीतियावत् संशयेष्यतद्वूपप्रतिष्ठुत्वामिमध्याज्ञानं यथास्था एवं पुरुषो वा ? इति ॥ ८ ॥ विकल्पवृत्तित्या व्यातुमोह ।

भौज दू० भा० जो वस्तु जैसी नहीं है उसमें से उस ज्ञानकी उत्पत्ति को विपर्यय कहते हैं अर्थात् वस्तु के अल्ल रूप से उलटे ज्ञान होने को विपर्यय कहते हैं जैसे सीप में चाँदी का ज्ञान । अतद्वूप प्रतिष्ठुति का अर्थ यह है कि जिस पदार्थ का जो वास्तविक रूप है उसका ज्ञान न होने दे, संशय भी पदार्थ के सच्चे रूपको नहीं जानने देता है इस कारण से वह भी मिथ्या ज्ञान है जैसे यह खम्भा है वा पुरुष है ॥ ८ ॥ अगले सूत्र में विकल्प वृत्ति का वर्णन करेंगे ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

दू० का पदार्थ—(शब्दज्ञानानुपाती अर्थात् शब्दज्ञान मात्र ही जिसमें सार है (वस्तुशून्याः) जिस विज्ञेयपदार्थ कुछ नहो (विकल्पः) उसे विकल्प कहते हैं ॥ ९ ॥ सूत्र का भावार्थ—शब्द मात्र से जिसका भ.न होता है परन्तु जिसमें ज्ञेय पदार्थ कुछ भी न हो जैसे “बन्ध्या पत्रो याति” वाँक का लड़का जाता है इस वचन से मालूम होता है कि कोई पुरुष जाता है परन्तु वर्थार्थ में वन्ध्या का पुनः नहीं होसकता और जिस के पुनः होगा वह वन्ध्या नहीं हो सकती इस लिये किया आधार बिना रह नहीं सकती ॥ ९ ॥

दू० भा० — सप्रमाणोपारोही न विपर्ययोपारोहीच वस्तुशून्यत्वेषि शब्दज्ञानमहात्म्यनिवन्धनो व्यवहारो वैश्यते तथायां चैनन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति यदावितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते भवति व व्यपदेशेवृत्तिः यथा चैत्रस्य

गौरिनि तथा प्रतिपिद्वस्तु धर्मोनिलिक्यः पुरुषः तिष्ठति वाणः स्था-
न्यतिस्थित इति गतिनिवृत्तौ धात्वर्धमात्रं गम्यते तथानुत्पच्चि-
धर्मी पुरुष इति उत्पत्तिधर्मस्यात्मभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी
धर्मः तस्याद्विकल्पितः स धर्मस्तेनचासित व्यवहार इति ॥ ६ ॥

व्याढ भाषा का पदार्थ—वह विकल्प न प्रमाण ज्ञान और न विप-
र्यय ज्ञान है अर्थात् संशयात्मक ज्ञान है जैसे पदार्थ न रहने पर भी
केवल शब्द एवं के भाव से जिसमें व्यवहार प्रयोग होता है जैसे
चेतनता पुरुष अर्थात् आत्मा का स्वरूप है जब इन ही पुरुष है तब
कौन सा पदार्थ किसके द्वारा सुरुण व्यवहार किया जाता है वृपदे-
श अर्थात् मुख्य व्यवहार में वृत्ति ही निश्चित है जैसे चैत्र नामक
पुरुषकी गऊ है तेसे ही निवारित वस्तु अर्थात् श्वलपव्यापक घटनाओं
के गुण से सिन्न गुण चाला किया रहित आत्मा है वाण रक्खा है
रक्खा जायगा रक्खा था गमन रहित होने में धातु का केवल अर्थ
ही समझाजाता है पेसे ही जन्म लेने के गुण से रहित आत्मा है केवल
उत्पत्तिका अभावही समझा जाता है आत्माके सब गुण नहीं समझे
जाते हैं इससे यह गुण अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति मिथ्या हुई इस
से उत्पत्ति रहित है पेसा ध्यानादि व्यवहार कलन उचित है ॥ ६ ॥

भाषा का भाषा—यह विकल्पवृत्ति भी प्रमाण अर्थात् यथार्थज्ञान
का साधन नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान और भ्रम उत्पन्न करने वाली
यह वृत्ति है और इस वृत्ति में केवल शब्द का ही चातुर्य है जैसे
आत्मा का स्वभाव चैतन्य है इस शब्द को सुन कर कोई कहे कि
ज्ञान से भिन्न आत्मा कोई नहीं है और वह ज्ञान जीवका गुण है वह
ईश्वर की असिद्ध है इसे विकल्प कहते हैं परन्तु इसका यह अभि-
प्राय नहीं है उक्त वचन का अभिप्राय यह है कि चैतन्य वृत्ति ज्ञान
आ त्मा है अर्थात् जड़ प्रकृति से भिन्न है यहां पुरुष और चेतना
का वृत्ति और वृत्तिमान होने से सब स्वभाव सम्बन्ध है, जैसे चैत्र
की गौ यहां पर गौ का और चैत्र का स्व स्वभाव सम्बन्ध है ।
कहीं २ कालभेद से किया की एकता में विकल्प होता है जैसे वाण
रक्खा है वाण रखा जायगा वाण रखा था इन वाक्यों में केवल
कालकृत विकल्प है परन्तु वकाका अभिप्राय केवल धात सहैर्थव ॥६॥

विं०—इस वृत्ति में पुर्व से यही भेद है कि इस में कोई ऐसे पदार्थ होता है परन्तु इस वृत्ति में ज्ञेय पदार्थ का सर्वथा अभाव होता है । जहाँ परं एक शब्द से भिन्नकृप वाली दो वस्तुओं का वाच हो वह भी विकल्प कहाती है जैसे संधन शब्द से ज्ञमक और धंडे का वोध होता है अथवा जहाँ एक वस्तु ही दो कृप से भान हो, वह भी विकल्प है, जैसे आत्मा को चैतन्य कहने से ज्ञान पड़ता है कि आत्मा और चैतन्य भिन्न २ दो पदार्थ हैं परन्तु वास्तव में आत्मा चैतन्य खलूप है तात्पर्य यह है कि—भ्रामात्मक ज्ञान को विद्वाप कहते हैं ॥ ६ ॥

भोज वृत्तिः—शब्दजनितं ज्ञानं शब्दज्ञानं तद्भुपतितुः शीलम् यस्य सः शब्द ज्ञानानुपातिः । वस्तुनस्तथात्वमनपेक्षमाणोयोऽध्यवदसायः सः विकल्प इत्युच्यते । यथा पुरुषस्य चैतन्यं स्वरूप मिति । अत्र देवदत्तस्य कम्यता इति शब्द जनिते इतनेशाश्व बोऽध्यवसितो भेदस्त्र-मिहाविद्यमानमपि समारोप्य प्रवर्ततेऽध्यवदसायः । वर्तुतस्तु चैतन्यं मेव पुरुपः ॥ ६ ॥

निद्राव्याख्यात्माह ।

भोज ७ वृ० भा०—शब्द मे उत्तर दुआ ज्ञान शब्दज्ञान कहता है शब्दज्ञान के पीछे होने का स्वभाव है जिससे वह शब्दज्ञानानुपाति हुआ, अर्थात् शब्दज्ञान में मोहित होकर पदार्थ की सत्ताकी अपेक्षा जिसमें न रहे वह वृत्ति विकल्प कहाती है, जैसे कोई कहे कि ‘पुरुष का स्वरूप का स्वरूप चैतन्य है’ इस वाक्य में ‘देवदत्त से भिन्न संघी विभक्ति द्वारा करवल का ज्ञान होता है परन्तु यथार्थ में पुरुष ही चैतन्यरूप है अगले सूत्र में निद्रा वृत्ति की व्याख्या करेंगे ॥ ६ ॥

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

सू० का प० (अभाव प्रत्ययालम्बना) अभाव की समता को जो आश्रय करे वह वृत्ति (निद्रा) निर्गत अर्थात् शरणिक विषय-प्रसन्नि । जिस वृत्ति में दूर हो जाती है उसे निद्रा कहते हैं ।

सू० का भ०—अभाव अर्थात् ज्ञानभाव को जो आश्रय करे उसे विद्रा कहते हैं अर्थात् अविद्याप्रस्त वृत्ति को निद्रा कहते हैं ।

व्या०—भा०—साच संप्रबोध प्रत्यवर्षीत् प्रत्यय विशेषः ।
कथं सुख मह मस्त्वाप्यम् प्रसन्नं मे पनः प्रज्ञां । मे विज्ञारदो
करोति । दुःख महमस्त्वाप्यं स्त्यान मे नोभूप्रत्यनवस्थितं गार्ड
मूढोडमस्त्वाप्यं, गुरुणि मे गात्राणि, क्लातं मे चित्तपलम्
सुपितऽमिन दिग्गतीति सखलवर्य प्रवृद्धस्य प्रत्यवर्षो नस्यान्
शस्ति प्रत्यायाकुभवेतदाश्रिताः त्यतयश्च द्विषया नस्युः । तस्मीत्
प्रत्ययविशेषो निद्रा साच सपाधावितरप्रत्ययवनिन्नरोद्घवेति ॥०

व्या० भा० पदार्थ—और घद निद्रा जाग्रत हो जाने पर निद्रा-
घस्था के विचारने से ज्ञान विशेष है यदि घद ज्ञान विशेष न हो तो
जागने पर यह धोध कैसे दोसक्ता, मैं आनन्द से सोया मेरा मन
प्रसन्न है तुद्धि मुझे उत्तमावनाती है अर्थात् मेरी तुद्धि निर्मल है ।
मैं दुःखपूर्वक सोया मेरा मन आलस में होरहा है, धूमना है
अवश्यवस्थित अर्थात् विचारशृण्य होरहा है अत्यन्त वे सुख में सोया,
मेरे अंग भारी होरहे हैं, मेरा चित्त थक रहा है, आलसयुक्त और
अपहृत चुराये हुवे की समान जड़वत होरहा है घद निद्रा यदि
प्रत्यय न हो तो नीद से जागे मनुष्य को उत्त प्रकार के ज्ञान न हो
यदि उस ज्ञान का अनुभव न हो तो उस अनुभव के आश्रित स्मृति
भी न होनी चाहिये । इस हेतु से निद्रा भी अगाव ज्ञान है और घद
निद्रावृत्ति भी समाधि अर्थात् योग में और वृत्ति के समान त्यागनी
चाहिये ॥ १० ॥

व्या० भा० भा०—निद्रावृत्ति का भी जागृत होने पर विशेष
विचार किया जाना है इस लिये घद भी एक प्रकार का ज्ञान है यदि
घद ज्ञान न हो तो—“मैं आज सुख से सोया इस से मेरा मन प्रसन्न
है मेरी तुद्धि स्वच्छ है, यद्धा मैं दुःख से सोया इससे मेरा मन
आलस में हो रहा है और मन्त्र के समान धूम रहा है” यह विचार
भी न होता, क्योंकि अज्ञान से अनुभव नहीं होता और अनुभव के
विना स्मृति नहीं होती इससे सिद्ध होता है कि निद्रा जागृत अव-
स्था के दृष्ट वा श्रुत पदार्थ ज्ञान के अभाव ज्ञान को कहते हैं ॥ १० ॥

१० सू० वि�०—जिस में सांसारिक प्रदार्थों के अभाव का ज्ञान
रहे अर्था जो अभाव ज्ञान के आश्रय पर ही स्थिर हो उस वृत्ति

का नाम निद्रा है इस वृत्ति में तमोगुण ही प्रधान है इस ही कारण से सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान जाता रहता है, इस में अभाव का ही ज्ञान रहता है इस कारण से इसे मनोवृत्ति कहते हैं ॥ १० ॥

भौजवृत्ति—अभावप्रत्यय आलम्यन् यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिः पत्तदुर्कं भवति—या सन्ततं उद्विक्तत्वात् तमसः समस्तविषयपरित्यागेन प्रवर्तते वृत्तिः सा निद्रा । तस्याश्च सुखत्वहमस्वाप्चमिति स्मृतिदर्शनात् स्मृतेश्चानुभवाव्यतिरेकेणानुपरतेवृत्तिर्भूमि ॥ १० ॥

स्मृति व्याख्यानुमाद ।

भौज वृ० भा०—अभाव ज्ञानको धारण करने वाली वृत्तिको निद्रा कहते हैं फलितार्थ यह है कि तमोगुण की प्रधानता से जिसमें सब विषयों का त्वाग हो जाता है उस वृत्ति को निद्रा कहते हैं (२) मनुष्य जब सो के उठता है तब उसे स्मरण होता है कि मैं सुख से सोया, यह स्मृति विना अनुभव के नहीं हो सकती है इस से जाना जाता है कि निद्रा भी एक वृत्ति है अगले सूचमें स्मृति का लक्षण लिखेंगे । १०।

अनुभूतविषयामप्मोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

भू० का पदार्थ—(अनुभूत विषया सम्प्रमोषः) अर्थात् जिन विषयों का चिन्त द्वारा वा इन्द्रिय द्वारा अनुभव अनुभूत किया गया हो उनका जो असम्प्रमोष अर्थात् ध्यान (स्मृतिः) उसे स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

भू० का भा०—अनुभूत पदार्थों के पुनर्विचार को स्मृति कहते हैं ॥ ११ ॥

उप० भाष्य—किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्त्रिवृत् विषयस्येति ग्राहोपरक्तः प्रत्यो ग्राहग्रहणोपयाकारनिर्भासः तजातीयकं संस्कारमारभते ससंस्कारः स्वच्यंजकाजनः तदाकारायेव ग्राहा ग्रहणोपयात्मिकां स्मृतिं जनयति । तत्र ग्रहणाकारपूर्वाद्युद्दिः ग्राहाकारपूर्वां स्मृतिः साच द्वयी भावितस्मृत्युन्नया वा भावितस्मर्त्तन्या च इचपने भावितस्मर्त्तव्या ।

जाग्रत्सप्तयेत्वभावितस्मर्त्तं व्येति । सर्वा स्मृतयः प्रमाणविपर्यय-
विकल्पनिद्रास्पृतीनामनुपरांत् प्रभवन्ति । सर्वाश्वैत वृत्तयः
मुखदुःखमोहात्मिकाः । मुखदुःखमोहात्म लोकेषोपु व्याख्येयाः ।
मुखानुशशीरागः । दुःखानुशशी द्वेषः । योहः पुनरविद्येति ।
एताः सर्वावृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे सम्प्रशातो वा
संपादिभवन्ति असंप्रशातोवेति ॥ १ ॥

अथासां निरोधक उपाय इति

व्याठ भाठ का पदार्थ—व्या घोष का चिरा स्मरण करता है। व्या विषय का ? प्रहृण करने योग्य विषयों में जो प्रसंगता पूर्वक घोष होता है उसे प्रत्यय कहते हैं। वह प्रत्यय आथवा ग्राह्या जो विषय और प्रहृण अर्थात् जिन के द्वारा पदार्थ प्रहृण किया जाना है वह प्रमाण यह दोनों अपने समान संस्कार को उत्पन्न करते हैं संस्कार नेत्राभ्यन के समान अपने समान ही अनुभूत विषय तथा उसमें ज्ञान की स्मृति को उत्पन्न करता है परन्तु उस स्मृति में भी घोषकर्त्ता कुद्धि है अर्थात् जो विषय प्रहृण का ज्ञान होता है वह कुद्धि है और ग्राह विषय का जो स्मरण है वह स्मृति है। और दोनों कुद्धि और स्मृति दो प्रकार की हैं 'भावितस्मर्त्तव्य और आभावितस्मर्त्तव्य' भेदसे व्यवस्थाएः स्थाय में जो जागृत् अवस्था के अनुभूत पदार्थों की स्मृति होती है वह भावितस्मर्त्तव्य स्मृति और कुद्धि कहलाती है जागृत् अवस्था में जो स्थपनावस्था के पदार्थों की स्मृति होनी है उसे आभावितस्मर्त्तव्य स्मृति कहते हैं। सब स्मृति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पांचों वृत्तियों के अनुभव से होती है और यह सब वृत्तियां सुख दुःख तथा मोह रूप ही हैं सुख दुःख तथा मोह का वर्णन पांच लोकों के वर्णन में किया जायगा। सुख के निमित्त जिसमें प्रवृत्ति होती है उसे द्वेष कहते हैं दुःख के निमित्त जिसमें प्रवृत्ति होती है उसे द्वेष कहते हैं यद्यपि अनुशशी शब्द का अर्थ धात्र्यर्थ के अनुसार पञ्चात्मक होता है परन्तु प्रकरणवश यहाँ निमित्तार्थ करना ही युक्त है मोह अविद्या को कहते हैं योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करे इन वृत्तियों के निरोध होजाने के पश्चात् सम्प्रशात वा असम्प्रशात योग ही सकता है क्यों

कि अब तक वृत्तियां निरुद्ध न होंगी तब तक और मनुष्यों के समान ही योगी भी रहता है किन्तु उसकी योग संशा भी अनुचित ही है ॥ ११ ॥

व्याठ माठ का भावार्थ—सूत्रकार ने जो स्मृति का यह लक्षण किया है कि अनुभूत विषयों के पुनर्विचार को स्मृति कहते हैं इसमें यह शब्द होती है कि विच एवं पदार्थ का स्मरण करता है वा एवं पदार्थ ज्ञान का ? यदि पदार्थ का ही स्मरण करता है तो यिना पदार्थ ज्ञान के स्मरण होना असंभव है क्योंकि स्मरण में तीन ही कारण होते हैं राग द्वैष मोह । इन तीनों में से राग उसे कहते हैं जो सुखनिमित्तक हो और द्वैष वह है जो दुःख निमित्तक हो जैसे देवदत्तः पितरं रमरति देवदत्त अपने पिता का स्मरण करता है यह सुख पूर्वक राग से स्मरण हुआ । भारतवासी धर्म सत्त्वार्दों का स्मरण करते हैं यह दुःख पूर्वक द्वैष से स्मरण हुआ पर्यन्त ही मोह में भी स्मरण होता है, उस स्मृति के दो भेद हैं एक भावितस्मर्तव्य और दूसरा अभावित स्मर्तव्य । स्वप्नावस्था में जो जागृत् अवस्था में देखे पदार्थों का स्मरण होता है वह भावित स्मर्तव्य स्मृति है और जागृत् अवस्था में जो स्मृति होती है वह अभावितस्मर्तव्य है सब प्रकार की स्मृति प्रमाणादि ५ वृत्तियों के अनुभव वा आश्रय से ही होती हैं योगी को उचित है कि इन सब वृत्तियों का निरोध करें, इन वृत्तियों के निरोध होने ही से संप्रक्षात वा असंप्रक्षात योग होता है ॥ ११ ॥

विशेष—समाधिपाद के प्रथम सूक्ष की व्याख्या में भाष्यकारने कहा था कि सर्व वृत्ति निरोधेत्व संप्रक्षातः समाधिः अर्थात् संमस्त वृत्तियों के निरोध होने पर असंप्रक्षात योग होता है और इस ११ वें सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि “पताः सर्व वृत्तिय निरोद्धव्या आसां निरोधे सम्प्रक्षातो वा समाधिर्भवत्य संप्रक्षातो वा,, अर्थात् इन पांच वृत्तियों के निरोध होने ही पर सम्प्रक्षात वा असम्प्रक्षात योग होता है ये दोनों बाक्य परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि सम्प्रक्षात योग जो चार प्रकार का आगे दर्शन करेंगे उस में विचारानुगत योग में अवश्य किसी विषय का विचार किया ही जायगा । ऐसेही विनक्ति भी किसी विषय का ध्यान रहने ही से उस पर तर्क वितर्क हो सकती है इससे सिद्ध होता है कि सम्प्रक्षात योग वृत्तियों के रहते भी हो सकता है । फिर भाष्यकार ने अपने भाष्य में पूर्व प्र

विरोध क्यों लिखा ? उत्तर भाष्यकार ने अपने वचन में पूर्वापर विरोध नहीं लियाँ कैवल संमझने वालोंकी बुद्धिमें पूर्वा पर विरोध है क्योंकि प्रथम शब्दार्थ को समझना चाहिये अर्थे यह है "युग्मोगम् योगभित्याहुजीवात्मपरमात्मनोः.., अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के मिलाने को योग कहते हैं अर्थात् जो जीवात्मा सांसारिक विषयों में लग रहा है उसे इश्वर्य विषयों में लगा देने को योग कहते हैं और उस योग के अवान्तर दो भेद हैं एक संप्रकाश दूसरा असम्प्रकाश; इन का अर्थ पूर्व लिख भी तुके हैं परन्तु फिर यहाँ पर लिखना उचित भान देता है इस लिये फिर लिखते हैं सम्यक् ज्ञायने बुध्यने पदार्थ अनेनेति सम्प्रकाशः भली प्रकार से पदार्थों को जाने जिस के द्वारा उसे सम्प्रकाश योग कहते हैं इसी के अनुसार भाष्य कार ने प्रथम सूच के भाष्य में लिखा है 'सहूभूतमर्थस्पर्धोत्यतीत्यादि' जगत् में उत्पन्न हुए पदार्थों के अर्थ सत्य रूप को जो प्रकाश करे उसे सम्प्रकाश योग कहते हैं ।

११ सू० वि०—प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्ययोऽसम्प्रमोपः संस्कारद्वारेण बुद्धावारोहः सास्मृतिः तातपर्यं यह है कि जागृत अथस्थामें जिन विषयों का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किया जाता है उनका संस्कार हृदय में स्थिर हो जाता है उस ही संस्कार के आधय से जो अनुभूत विषयों का चित्र में विचार मान होता है उसे स्मृति कहते हैं ।

भो० शू०—प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्य योऽयमसम्प्रमोपः संस्कारद्वारेण बुद्धावारोहः सा स्मृतिः तत्प्रमाणविषयविकल्पा । जाग्रदद्यस्था तप्तव तदनुभववलात्प्रक्षीयमरणः स्वप्नः । निद्रातु असंवेद्यमान विषया स्तूतिश्च प्रमाणविषयविकल्पनिद्रानिमित्ता ॥११॥

भो० शू० भा०—जो विषय प्रथम किसी प्रमाण के द्वारा अहीत हो जुका है उसे ही असम्प्रमोप अर्थात् संस्कारों के द्वारा बुद्धि में धारण करने को स्मृति कहते हैं । प्रमाण विषय और विकल्प यह जाग्रत् अवस्था की वृत्ति हैं इस ही कारण से इनके अनुभव केवल से प्रत्यक्षके समान स्वप्न जान पड़ते हैं परन्तु निद्रा के विषय जाने नहीं जाते हैं । प्रमाण विकल्प और निद्रा के हेतु से स्मृति होती है ॥

उक्त प्रकार से वृत्तियों का वर्णन करके अब वृत्तिके निरोध का उपाय कहते हैं ॥ ११ ॥

पृथ्वे दृक्तीव्यख्याय सोपायं निरोधं व्याख्यातुमाह ।

अभ्यासवैराग्याभ्यांतनिरोधः ॥ १२ ॥

पदार्थ—(अभ्यासवैराग्याभ्याम्) अभ्यासश्च वै-
राग्यश्च अभ्यास वैराग्ये ताभ्याम् ” ईश्वर का निर-
न्तर चिन्तन करने से और विषयवासना को त्यागने
से (तन्निरोधः) “ तासां वृत्तीनां निरोधस्तनिरोधः ”
पूर्वोक्त पांचों वृत्तियों का निरोध (रोकना) होता है ॥

भावार्थ—ईश्वर के निरन्तर चिन्तन तथा वैराग्य से उक्त
वृत्तियां रुक जाती हैं ॥ १२ ॥

द्या० भाष्य—चिन्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्या-
णायचहति पापाय च यातु कैवल्यप्राप्तभारा विवेकविषयनिम्ना
सा कल्याणवहा । संसारप्राप्तभारऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा ।
तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते । विवेकदर्शनाभ्या-
सेन विवेकश्रोतु उद्घाटयते इत्युपाधीनश्चित्वतिनिरोधः ॥१२

पदार्थ—चिन्तरूप नदी दोनों ओर से बहनेवाली धहती है
कल्याण के लिये और धहती है पाप के लिये जो कैवल्य अर्थात् मोक्ष
जिसका पर्वताप्रभाव उत्पत्ति स्थान है अर्थात् जैसे ऊँचे स्थल की
ओर नदी का बेग नहीं जाता है वैसे ही इस कल्याणवहा चित्तरूप
नदी का भी बेग मोक्ष की इच्छा रूप पर्वत से उत्पन्न हुआ है और
यह नदी विवेक विषय की ओर नीची है इसी लिये अपने बेग से
कल्याणरूपी समुद्र में प्राप्त होती है संसार अर्थात् जगत् जिसकी
ऊँची भूमि अर्थात् उत्पत्ति स्थान है और अविवेक जिसका बहने
का स्थान नीचा स्थल है और पाप अधर्म रूपी समुद्र में जाकर
मिलती है । उन दोनों प्रवाहोंमें से वैराग्यविषयरूपी नदीको छिन्नमिश्र
कर देता है विवेक सत्य का विचार तथा दर्शन अर्थात् शास्त्र के
अभ्यास से विवेक रूपी नदी का प्रवाह खुल जाता है इस प्रकार से
चित्तरूपी नदी दोनों नहरों के आधीन है ॥ १२ ॥

भावार्थ—प्रसिद्ध चित्तरूपी नदी की दो धारा हैं एक कैवल्य
पदार्थ से निकली हैं और द्विवेक भूमि में धहती हुई कल्याण संगम

में मिलती है दूसरी संसाराचल से निकल कर अविवेक तथा विशय भूमि में यहती हुई अध में सागर में मिलजाती है । जब वैराग्यस्थ परांध से विषयभूमि में घहनेवाली धारण को हिँक मिल कर दिशा जाता है तब विवेक भूमि में घहनेवाली धारा तीव्र होजाती है । वेणिये जैसे जगत् में गङ्गा आदि नदियों की नहर का जब एक और से तख्ते या लोहे के यन्त्र से मार्ग अवरुद्ध (बन्द) कर दिया जाता है और उसका जल दूसरी नहर में छोड़ दिया जाता है तब पहिली नहर (जिस में तख्ता लगादिया था) सूख जाती है और दूसरी घहने लगती है इसी प्रकार से वैराग्यस्थी तख्ते से विष्ट नदी की पापचहा नहर को दन्द करके कल्पणा वहा नहर को खोलना निरन्तर ईश्वर चिन्तनस्थी शक्त्र (कल) से होता है इस से विष्ट-दृष्टि निरोध अभ्यास और वैराग्य के आधीन हैं ॥ १२ ॥

विशेष-चित्त की वृत्तिजो बाह्य विषयों में लिप्त हो रही है वैराग्य आरा उनका निरोध होता है अर्थात् सांसारिक विषयों में दोष दृष्टि होकर धृणा उत्पन्न होती है और धृणा होने ही से वृत्तियों के अभाव होजायगा अतएव घह स्वयम् ही अन्तर्मुख होके लीन हो जाती है जैसे काष्ठ के जल जाने पर अग्नि आप ही बुझजाती है । एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाको दढ़ रखनेके बास्ते अभ्यास अर्थात् पुनः पुनः तनिमित्तक किया करनी चाहिये ।

भोज वृत्ति-अभ्यास वैराग्ये वैद्यमाण लक्षणे ताभ्यां प्रकाशप्रवृत्ति नियमरूप या वृत्तप्रस्तासां निरोधो भवतीत्युक्तं । तासां विनिवृत्त वाहाभिनिवेशानां अन्तर्मुखतया स्वकारणं पद्यचित्ते शक्तिकृपतयाऽवस्थानम् । तत्र विषय दोष दंशेनजेन दैराग्नेणतद्वै मुख्यमुत्पादयते । अभ्यासे न च सुखजनक शान्तप्राप्तादर्दशनद्वाराणे दढ़स्थैर्यमुत्पादयते इत्यें ताभ्यां भवति चित्तभृत्तनिरोधः ॥ १२ ॥ अभ्यास व्याख्यातुमाह

भौ० वृत्ति भा०—जिस अभ्यास और वैराग्य का लक्षण आगे कहेंगे उनसे प्रकाश प्रवृत्तियों और नियमरूप वृत्तियों का निरोध होता है । तात्पर्य यह है कि दूर हो गया है बाह्य भस्तुओं में अभिनिवेश जिन का उन वृत्तियों का अन्तर्मुख होके विच में स्थिर, रखना ही अभ्यास है । विषयों में दोष दृष्टि से उत्पन्न हुआ जो वैराग्य उससे विषयों में विमुखता उत्पन्न होती है और अभ्यास से सुखकी उत्पादक शान्त प्रवाह से दढ़ स्थिरता प्राप्त होती है इसी

वीति से अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है ॥ १२ ॥ अभ्यास का लक्षण लिखते हैं ।

तत्रस्थतौ यत्नोभ्यासः ॥ १३ ॥

पदार्थ-(तत्र)परमेश्वर में (स्थितौ) स्थिर करने में (यत्नोभ्यासः) उत्साह को अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमध्येय परमेश्वर में वल और उत्साह पूर्वक चित्त की स्थिति सम्बद्ध को अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

व्याठ भा० चिचास्यावृतिरुप्य प्रशांतवाहिता स्थितिः तदर्थप्रयत्नो वीर्यमुन्मादः तत्संपिणादधिष्यष्य तत्प्राप्तिनानुष्टानमभ्यासः ॥ १३ ॥

भा० का पदार्थ—राजस और तामस वृत्तिसे रहित चित्त की जो प्रशान्त धाहिता स्थिति है । अर्थात् जब चित्त वाय वृत्तियोंसे उपरत होकर केवल अपने ध्येय में निमग्न होजाता है तब वह अवृत्तिक रहता है । अत्यन्त उद्योग वा स्थिरता के साधनोंका सम्पादन करना वल अथवा हड्डता कभी दुःख प्राप्त होने पर भी चित्त में न्यानि न लाना उस स्थिरता की सम्भादन अर्थात् प्राप्ति की इच्छा से उस के साधन विवरान्तर में मनो निग्रहादि के प्रयोग करने को अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

भा० का० भा०-चित्त जो अनेक विषयों में ज़ञ्चल रहता है ईश्वर में अत्यन्त शान्त स्थिति के लिये उद्योग वल अर्थात् हड्डता और उत्साह पूर्वक जो उस के साधनों का अनुष्टान करना है उसे अभ्यास कहते हैं ॥ १३ ॥

१३ सू० वि�०-महाराज भोजने स्थितिका अर्थ यह लिखा है कि 'वृत्ति रहितस्य विच्छिन्न व्यवस्था व्यवस्था निष्ठःप तिणामिदितिः वृत्तिरहित विच्छिन्नकी जो अपने रूपमें स्थिति है उसका नाम स्थिति है धीभान् स्वामी दयानन्द संरस्तीजी ने जो इससूत्रके अर्थमें ईश्वरके रूपमें हितिका अर्थ किया है वह भाष्यके विच्छिन्नवृत्तिकस्य प्रशांत वाहिता स्थितिः इस वाचकका अवृत्तिकस्य एसा पदब्जेद करने से हो सकता है परन्तु एकाग्र और निरुद्ध भूमि में अभ्यास बढ़ाने से तात्पर्य है सारांश यह है कि विच्छिन्न

को विन रों से रोककर निरुद्ध और एकाग्र भूमि में स्थिर का नाम अभ्यास है ॥ १४ ॥

भोज वृ०-वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठः परिणामः स्थिति तस्यां यत्न उत्साहः पुन युनलत्त्वेन चेतसि निवेशनमध्यास इति ॥ १५ ॥ तत्त्वैव विशेषं माह ॥ १६ ॥

भोज वृत्ते का भाष्य—वृत्ति रहित चित्तका जो स्वरूपः मात्र परिणाम है उसे स्थिति कहने हैं उसमें जो यत्न अर्थात् उत्साह अर्थात् धारम्यात् चित्त को लगाना है उसे अभ्यास याहने हैं ॥ १५ ॥

सतु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारासेविता दद्ध भूमिः॥१६॥

प्रदार्थः (सः) वह अभ्यास दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितः) दीर्घकाल तक अभ्यास से अर्थात् वहुत समयतक ईश्वर के ध्यान से निरन्तर अर्थात् आलस्य प्रमाद को परिन्याम करके नियम पूर्वक ब्रह्मचर्य से सत्कार अर्थात् अद्वा पूर्वक ईश्वर के स्मरण से सेवन कियाहुआ (दद्ध-भूमिः) दद्धभूमि कहलाता है ॥ १६ ॥

ब्या० भा०—दीर्घकाल सेवितः निरन्तरासेवितः सत्कारासेवितः । तपमा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च संपादितः संस्कारवान् दद्ध भूमिवेति व्युथानसंस्कारेण द्वागित्येऽनभिभूतविषय इत्यर्थः ॥ १६ ॥

ब्या० भाष्य का प्रश्नार्थ—व्युत्थान काल तक अभ्यास किया गया, व्युथान न रहित अर्थात् प्रतिदिन अभ्यास किया अद्वा पूर्वक सेवन किया गया, क्लेश सहायता धर्म करना ब्रह्मचर्य अर्थात् धन्त्रु जो वेद उसके द्वान से अथवा द्वाया जो परमेश्वर उसकी उपासना से, कृष्ण से ईश्वर पर्यन्त स्वयं पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से, सत्यधर्मणि किया जाय जिस से वह श्रद्धा कहलाती है अर्थात् सत्यग्राहिणी दुष्कृति वा नीति से प्राप्त किया आदरयुक्त दद्धशिवास होता है और वही उत्त्यान रहित संस्कार द्वारा शोध ही निर्व्यय होजा ने चाला विद्यम होता है यही अभिप्राय है ॥ १६ ॥

भावार्थ—वह आभ्यास दीर्घकाल अर्थात् बहुत दिनोंतक व्यवधान रहित अर्थात् प्रतिदिन वा अपने नियत किये हुये प्रत्येक दिन के भागों में तप अर्थात् युक्तहार विहार अथवा अपने वर्णाश्रम के योग धर्मानुष्ठान से ब्रह्मचर्य अर्थात् मन और इन्द्रियों को धारण विषयों से निरक्ष करके अद्वापूर्वक सेवित होकर हड़ होता है ॥४

भौ० वृ०—वहुकालं नैरन्तरर्च्येषु आदर्शित्येन च सेव्यमानो दद्यमि: सिद्धरी भवति । दार्थार्थं प्रभवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥
दैराग्यस्य लक्षण मात्र ।

भौ० वृ०—वह बहुत समय तक निरन्तर अर्थात् किसी क्षमय किसी अवस्था में वा किसी विष्णु से त्यागन कियाहुया अधिक आदर के साथ अनुष्ठान करने से हड़ होता है ॥१४॥

दृष्टानुश्रविक विषयवित्तुष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

पदार्थ (दृष्टानुश्रविकविषयवित्तुष्णस्य) इस जन्म और दूसरे जन्ममें प्राप्त होनेवाले सुखकी इच्छा रहित पुरुष की वशीकार संज्ञा वैराग्यम्)जो वशमें न हो उर अघश भन को वशमें करनेका नाम वैराग्य है ॥ १५ ॥

भावार्थ—पेहिक और आमुष्मिक अर्थात् सूक वनितादि पेहिक और पुनर्जन्म में अच्छे कुल में दत्यन्त होक यद्य आमुष्मिक विषय में जो अत्यन्त लक्षण उसके निरोध करने को वैराग्य दहते हैं ॥१५॥

३४० भा०—स्त्रियोन्नपानमैश्वर्यमितिृष्टु विषयवित्तुष्णस्य
स्वर्गवैदेशाप कुतिलयत्वं प्राप्तानुश्रविकविषये वित्तुष्णस्य
दिव्यादिव्य विषय संप्रयोगोपि चित्तस्य विषयदोपदर्शिनः
प्रसंख्यानश्चादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा
वैराग्यम् ॥ १५ ॥

आभ्याससत्वनल अल्पकाल यथा स्यात्तथा, व्यवधानराहित्येन विष्ण
वाहुरूपभया भावेत्या, भक्तिवाचिक्येन वा सेवितः सम्यग्नुष्ठितः दद्य
भूमिर्भवतीति फलितार्थः इङ्गा लित्यरा भूमिर्भवतीति समाप्तः ॥ १५

पर्वत्य—छन्द्र जी अम उत्तम २ ग्रन्थ पदार्थ शीतल अलवा दुधादि, पंशुभर्वं राज्यादि सुख इत्यादि इन सांसारिक विषयों में इच्छा रहित दोना अधिक सुख विदेह मुक्तिधा कैवल्यमुक्तिकी प्राप्ति आदि वेदविहित विषय में हृष्णा प्राप्ति की इच्छा विगत अर्थात् दूर हो गई हो जिस की विद्य जन्मान्तरीय सुख वा मोक्षादि और अद्वित सांसारिक विषय के संयोग अर्थात् प्राप्ति में भी सब विषयों में दोष दर्शी चित्त की अध्यात्म विचार बल से जो भोगादि इत्य विषयों में आसक्त न होने वाली त्यज्या और प्राप्ति के विचार से शृण्य घट्टीकार संहा का नाम धैराय्य है। अभिप्राय यह है कि जो धीज वश में नहीं है उसको रापने वशमें फँके ईश्वर परायण द्वोक्त्वा अन्य विषय की इच्छा न करने को धैराय्य पढ़ने हैं ॥ १५ ॥

आगे धैराय्य का लक्षण फँकेंगे ।

शावर्थ—जी इनपाठ शादि राज्य पर्यान्त सब सांसारिक विषयों की दोषदृष्टि से इच्छा न करना एवं पास्तौमिक विषयों की भी इच्छा न करना अर्थात् चित्त को समस्त विषयासना से इटाकर अपने पश में करके ईश्वर में लग रखने को धैराय्य फँकते हैं। यद्यामें तो यह है कि धैराय्य के समान अन्य कोई भी शुद्ध नहीं वर्तोंकि जिस के पश में आप ही और किर उसही को अपने पश में करके इससे अधिक और क्या छुआ होगा। सर्वे परवशं कुरुं सर्वमात्मपर्यं छुखम् ॥ १५ ॥

(१५) सू० विं—जय मुमुक्षु सब विषयों को रथागेगा तथही उसका चित्त योगमें सगेगा अतएव धैराय्य भी योग का साधन है ।

शो० षृ०—द्विविधो हि विषयो ईष्टानुभविकश । एष इदै घो पलभ्यमानः शब्दादि: वेघलोकादावानुभविकः । अनुभूत्यते गुरुमुक्त श्रित्यनुश्ट वेदस्तत आसनभीवे गतश्चनुभविकः । तयाद्यारपि विषयोः परिणामविरस्तत्वदरीता ठिगत गर्वंस्य या वशीकार संहा । मर्मेते वश्या मादमेतेऽनं तत्वं । इति योऽयं विमर्शस्तद्वैराग्यमुच्यते ॥ १५ ॥ तस्यैवं शोपमाह ।

भोज तृतीय भा०—विषयश्चो प्रकार का है एष ईष्ट दूसरा अनु श्रविक । जिनका इसही लोक में भोग किया जाता है उन्हें इसे विषय कहते हैं, वेघलोक अर्थात् लगा० दिक अनुभविक विषय कहते हैं, जब

गुरु सुख से सुना जाय उसे अनुश्रव्य कहते हैं अनुश्रव्य अर्थात् वेद से जिन विषयों का ज्ञान होता है वे अनुश्रव्यिक विषय कहते हैं, इन दोनों विषयों को परिणामी अर्थात् आनन्दित्य जान कर निलोभी की जो धर्मोकार संज्ञा अर्थात् मेरे दृश्य में विषय हैं मैं विषयों के दृश्य में नहीं हूँ इस विचार को वैराग्य। कहते हैं, इसही के विशेष रूप को आगे कहते हैं ॥ १५ ॥ *

तत्परं पुरुषस्यातेगुणवैतुषण्यम् ॥ १६ ॥

पदार्थ-(तत्)वह वैराग्य(परमपुरुषस्यातेः)हृष्टवर के पूर्ण और यथार्थज्ञान होजानेसे (गुणवैतुषण्यम्) प्रकृति के गुण अर्थात् सत्त्व रज तम और उनके कार्य में हृष्णा रहित होना है ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के पूर्ण ज्ञान होजाने से जो प्रकृति के गुण और कार्यों में इरचि होती है उसे वैराग्य कहते हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या ० भा०—हृष्णानुश्रव्यिक विषयदोपदशर्णि विरक्तः पुरुष दर्शना भ्यासातच्छुद्धि प्रविचेकाप्या यित्तुद्धुर्गुणेभ्यो घ्यक्तावयक्त शर्मकेभ्यो विरक्त इति ततद्वयं वैराग्यं तत्र यदुचरं ततज्ञानप्रसादो मालं यस्योदये स तियोगी प्रद्युदित्स्त्रातिरिव दन्यते प्राप्तं प्र पृणीवं जीणा ज्ञेत्तद्यः वलेशाः, द्विन्नःश्छष्टपूर्वाभवसंक्रयोऽस्या विच्छेदात् जनित्वा मियते मृत्वा च जायतइति ज्ञानस्यैव पराकाम्पा वैराग्यम् एतस्येव हि नातर्तीयकं कैवल्यमिति ॥ १६ ॥

अयोध्याद्यद्येन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथ मुच्यते संप्रज्ञातः सपाधिरिति ॥ १६ ॥

भा० का०—लौकिक और पारलौकिक विषयों में द्वोप देखकर विरक्त अर्थात् वशम हुआ पुरुष शास्त्र विचार और योगाभ्यास से चिन्त की शुद्धि होनी है और उससे शुद्धि निमेल होती है । प्रश्न-

* तच्छुद्धे नात्र पूर्वोक्त वैराग्य गृह्णते, पूर्वोक्तज्ञानलक्षितं वैराग्यं पुरुषस्यातेः पुरुषस्येवरस्य श्यातिर्हार्त्तम्, ईश्वर ज्ञानानन्तरं मेनी त्कुण्डं वैराग्यमुत्पद्यते नाम्येति भावार्थः ॥ १५ ॥

क्ष और अप्रत्यक्ष गुणों से उपरत होना यह दोनों प्रकारका वैराग्य होता है । उन दोनों में जो पिछला वैराग्य है वह केवल हान का साधा है जिस के उद्देश्य होने पर उद्वित हुए लान से सुमुच्छ पेशा मानता है जिसकी मुझे इच्छा थी उसे मैंने पाया जिनको मैं क्षय करना चाहता था वे मेरे यहेश दूर हो गये जिसकी संधियाँ परस्पर पक्ष से दूसरी दृष्टि हुई हैं वह संसारमयी वेदा दृष्ट गया, जिस के धिना विच्छिन्न हुये जन्म लेफर मरता है और मरकर जन्म लेता है इस हानही की अधिकता को वैराग्य पाते हैं इसी वैराग्य के विनारहित अभ्यास करने से मोक्ष होना है ॥ १६ ॥ अब दोनों उपायों से निरद विच्छ दृष्टि वाले को सम्प्रहात योग बैंसे होता है ?

भाषार्थ—लौकिक और पारलौकिक विषयों में विरक्त पुरुष को विदेश हारा हुदि शुद्ध होने से स्थूल और दृष्टि गुणों में विरक्तता होने से शुद्ध हान उदय होता है और उस मनुष्य को यह हान होता है कि मुझे प्राप्य मुख दी प्राप्ति हुई है और हेतु दुःखों का नाश नुशा है । जिस आशान से जन्म लेकर मरता है और मर कर फिर जन्म लेता है, वह भी नष्ट हो गया, इस हान का एह होना ही वैराग्य कहलाता है इस हान की निर्विघ्न स्थिति से मोक्ष होता है, इस वैराग्य द्वारा जिस की विच्छदृष्टि निरद होगई है उस को सम्प्रहात समाधि होती है ॥ १६ ॥

भौ० वृ०—तद्वैराग्यं परं प्रष्ट एष प्रथमं दैराग्यं दिष्यविषयं द्वितीयं गुणविषयं उत्पन्नं गुणप्रविवेकं ल्यातेरेव भवति, निरोध समाधेरस्यत्वात् गुक्तलत्यात् ॥ १६ ॥

पदम योगस्य स्वरूपमुक्त् या सम्प्रहातस्वरूप भेदमात् ।

भौ० वृ० भा०—यह वैराग्य उत्तम और प्रथम विषयविषयक है अर्थात् प्रथम संसार के विषयों में दोषहट्टि से उन्हें ल्यागने की इच्छा उत्पन्न होती है, दूसरा गुणविषयक वैराग्य है, वह परम पुरुष के हान से उत्पन्न होता है अर्थात् परमात्महान से प्रहृति के समस्त गुणों में विशृणा उत्पन्न होती है । यह वैराग्य समाधि में अत्यन्त उद्दायक है । इस दोति से नोग का लक्षण कदके अघ योग के सम्प्रहात मेद का वर्णन करते हैं ।

वितर्कविचारानन्दास्मिन्नाख्यानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

पदार्थ—(वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्)

वितर्क उस कहते हैं जिससे सर्व पदार्थों का स्थूल विचार किया जाता है और जिस से सूक्ष्म विचार किया जाता है उसे विचार कहते हैं, जिससे सन्तोष प्राप्त हो उसे आनन्द कहते हैं अस्मिता उस ज्ञान को कहते हैं जिसके द्वारा जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान हो जैसे मैं पांचभौतिक शरीर से मिल जाऊं, ऐसे ही हँस्वर से मी मिल जाऊं, यहां पर अनुगत शब्द का “द्वमान्ते अथमाण्यं प्रत्येकमस्मिसम्बद्धते” इस न्याय से प्रत्येक के संग में योग होता है इन चार दोनों से चार प्रकार का (सम्प्रज्ञातः) संशय जिसमें संशय विपर्ययशूल्य ध्येय का तथा ध्याता का निश्चय हो वह सम्प्रज्ञात योग है ॥१७॥

भावार्थ—सम्प्रज्ञात योग चार प्रकार का है वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भेद से ।

३४० भा० वितर्कः चित्तस्थात्मने स्थूलाभावोः ।
 सूक्ष्मोविचारः । आनन्दोन्हादः । एकात्मकासंविदस्मिता तत्र
 प्रथमः चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः । द्वितीयो वितर्क वि-
 कलः सविचारः तृतीयो विचारविकलः सानन्दः चतुर्थस्तद्विकलः
 कास्मितामात्रइति । सर्वएते सात्मनाः समाधयः ॥ १७ ॥

अथासम्प्रज्ञात समाधिः किमुपायः किस्वाभावो वेति ।

पदार्थ—विनर्क चित्तके अध्यय में स्थूल पूर्णता अर्थात् विचार अथवा स्थूल विषय सम्बन्ध सूक्ष्म सम्बन्ध को विचार कहते हैं आनन्द संतोष को कहते हैं एक जीव ही जिसमें विचार रहता है वह ज्ञान अस्मिता कहलाता है उन दोनों समाधियों में पहिला अर्थात् सम्प्रज्ञात योग चारों के आनुगत है वितर्कानुगत, विचारा-
 नुगत, आनन्दानुगत, और अस्मितानुगत, पहिला वितर्कानुगत

समितके अर्थात् स्थूल आभोग के सहित होता है दूसरा वितकं
रहित विचार के सहित होता है इसलिये उसे विचारनुगत, कहते हैं
तीसरा विचार रहित और आनन्द के सहित होता है चौथा अर्थात्
उस आनन्द से रहित केवल अस्मिता अर्थात् अपने ही स्वरूप का
विचार इसमें रहता है ये चारों आलेख अर्थात् आध्यय के रहित
योग होते हैं इसके पश्चात् असम्प्रहात् योग का क्या उपाय है
योगी का बस्त में कैसा स्वाध रहता है यह अगले सूत्र में
कहते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—वितके उसे कहते हैं जो विच्छ के स्थिर काने में स्थूल
आध्य होता है जैसे घटका फारण मृत्तिका मृत्तिका का फारण
असरेणु प्रसरेणुमा फारण द्वयणुक ऐसे ही लद्दर पर स्थूल दृष्टि
अपने को वितके कहते हैं और वितकं नुगत योग द्वाह है जिस में
वितके का आध्य लिया जाय जैसे समाधि समय में यह विचारना
कि इस जगत् की दरपति वैत्ते शुर्व है तुनः इसके द्वारा समस्त
सृष्टिकर्ता परमेश्वर में विच्छ फो लगा देना । विचार उसे रहते हैं
जिससे सूक्ष्म घस्तुओं का विचार यिया जाय और विचारनुगत
योग द्वाह है जिसमें विच्छ और शरीर के सूक्ष्म अवयव तथा रजों
कार्य से असाध्य उत्पत्ति समझ का जगत् वर्त्ता को अंत्यन्त ही
निपुण गिलगी है उसमें अपनी स्थिति को सम्पादन फरता है सन्तोष
को आनन्द कहते हैं जिसमें पूर्योक्त दो लमाधिसे सम्पूर्ण पदार्थों को
यथा रूप में जान कर और अपने को सब जड़ पदार्थ तथा स्पूल
शरीरसे भिन्न जान कर महाआनन्द अर्थात् सन्तोग होता है उसे आ-
दादानुगत रहते हैं और आरिमतानुगत द्वाह है जिसमें जीव अपने
स्वरूप ही फो देवता विचारता है वर्णोक्त उप तक अपने रघुरप फो
इच्छी प्रकार से नहीं जानेगा तक योगी रिथरचित्त नहीं हो
सकता अब दूसरे असम्प्रहात् योग का लक्षण अगले सूत्र में कहेंगे ।

विशेष सू० योग वा समाधि दो प्रकारकी है एक सम्प्रहात् दूसरी
असम्प्रहात्, सम्प्रकात् का लक्षण यह है “संशयविपर्ययरहितवेन
प्रकर्त्तेऽपोत्त्वात्तवाक्षायते भाव्यस्य रूपं येन से सम्प्रलातः” संशय और
विपर्यय रहित उसमें प्रकार से भेदेय का जिससे रूप जाना जाय उसे
सम्प्रहात् समाधि कहने हैं और विशेष भिन्नत का नाम संगमाधि है।
गो० धू०—समाधिरितिशेषः सम्यक् संशयविपर्ययरहितवेन

प्रश्नावते प्रकर्षेण हायते भावयस्य रूपं येन स संप्रहानः । समाधिः भावनाविशेषः । सविनिर्कादिमेवाच्चतुर्विधिः सवितर्कः सविचारिः सामन्तः साहित्यः । भावना भावयस्य विषयान्तरपरिहारेण वेत्तसि पुनः पूर्णिवेगतम् । भावद्वय द्विविधम्—ईश्वरस्तत्त्वानि च । तात्पर्यपि द्विविधानि जडा जडमेवात् । जडानि चतुर्विशेषतः । अजड़ पुरुषः । तत्र यदा महाभूतानीन्दिशापि स्थूलानि विषयत्वेनादाय पूर्वपरानुसन्धानेन शब्दायोल्लेखसमेवेनचभावना किंवते तदा सवितर्कः समाधिः अस्मिन्नेवलम्ब्यते पूर्वपरानुन्त्यानशब्दोल्लेखश्ल्यस्वेनायदा भावना प्रवर्तते तदा निर्वितर्कः । तर्मात्रान्तःकरणज्ञकण्ठसूक्ष्मविषयमालम्ब्य तस्य देशकालधर्मावच्छेदेन यदा भावना प्रवर्तते तदा सविचारः । तहिनानेवत्र तम्भने देशकालवर्मावच्छेदै निर्विधिमात्रावभावित्वे इ भावना किंविमाशा निर्विकार हत्युक्तः । एवं पर्यन्तः समाधिर्मात्रासमाप्तं तत्त्विति व्यपद्विषयते । यदा तुरजस्तमात्मानुषानुविक्षमन्तःकरणसत्त्वं भावयते तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुखप्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भावयमानस्योर्कैकात् सानन्दः समाधिर्मात्रिः यति अस्मिन्नेव समाधी ये बद्धपूर्णयस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदे शहकारत्वाद्विदेहशब्दवाचः । इयं ग्रहणत्तमापत्तिः । तनः परं रजस्तमोलेशानभिश्रूतं शुद्धसत्त्वमालम्ब्यनिकृत्य या प्रचर्त्तौ भावना तस्यां आद्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावात् चितिशक्तेरुद्धेकात् सत्त्वमात्रविशेषपत्वेन समाधिः सास्मिता इत्युक्तयते । न चाहं कामास्मित्रयोर्मेदः शंकनीयः । यतो यत्रन्तःकरणमहस्तिः उल्लेखेन विषयान् वेद्यते सोऽहंकारः । यत्रान्तसुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलिङ्गते वेत्तसि-सत्त्वामात्रं अवभावित्वा सास्मिता । अस्मिन्नेत्र समाधी ये कुन्यातिरितोऽपि परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति तेषां वेत्तसि स्वराग्ये लयमुपागते प्रकृतिलयाइत्युक्तयन्ते । ये प्रर्तं पुरुषं द्वात्मा भावनायां प्रवर्तत्से तेषामित्रं विवेकयति तिर्प्तीहीनसमापत्तिरित्युक्तयते । तत्र सम्प्रज्ञने समाधो च चोऽवश्यः शक्तिरूपतयाऽवतिष्ठन्ते । तत्रैकेष्वास्त्यागे ऊचरोत्तराने इति अतुरवस्थोऽयं सम्प्रशात् समाधिः ॥ १७ ॥

असं प्रहातेमाह ।

भोज बृ० का भा०—तेंशुर और विषयर्थ में रहिए उत्तम रीति से समाधि द्वारा जिसमें हेतु का रूप जाता जाता है उस घोथ को सम्प्रज्ञात कहते हैं, वह समाधि अर्थात् सम्प्रात् योग वितर्कादि

भेद से ४ प्रकार का है, सवितर्क, संविचार, सानन्द और सास्मित भावना भ वय आर्थित् ध्येय को ही वारम्बार चित्त में चिन्तनकरना और दूसरे विषय को चित्त में न लाना । ध्येय दो प्रकार के हैं—एक ईश्वर दूसरे तत्व । तत्त्वभी दो प्रकारके हैं जड़ और चैतन्य, जड़ तत्त्व २४ हैं और चैतन्य केवल जीव है । यज यजामाणी और इन्द्रियों को विषय बना के और उन के पूर्वापर को विचार कर शब्द और अर्थों के विचार द्वारा ध्यान किया जाता है तथ वह सवितर्क समाधि कहाती है । इस ही आध्यय से पूर्वापर के शब्द और अर्थों के विचार को त्याग कर जो समाधि की जाती है उसे निर्धितर्क समाधि कहते हैं । जिस में केवल अन्तःकरण की तन्मात्रा ही सूक्ष्मविषय हो देश और काल के सम्बन्ध को विचार कर जो समाधि की जाती है उसे सविचार समाधि कहते हैं । इक आधार से देश और काल के विचार को त्याग कर केवल गुणों के परिचान से जो समाधि की जाती है उसे निर्धित्वार समाधि कहते हैं । यहां तक तो समाधि की जाती है उन्हे प्रात्यासमापत्ति कहते हैं, जिस समय रजोगुण और तमोगुण के थोड़े से अंश से युक्त हुआ मन जान पड़ता है, उस समय सत्त्वगुण सुखस्वकृप हो चित्त में संचारित रहता है इस कारण से वह समाधि भी सानन्द कहाती है इस सानन्द समाधि ही में जिनकी धारणा दृष्ट हो जाती है वह यिदेह कालाते हैं पर्योकि इन लोगों को समाधि समय में श्रीराम और जीव का भी वोध नहीं रहता है, यह अद्यत्था प्रदृश्य समापत्ति कहाती है । इस के पश्चात् रजोगुण और तमोगुण के लेशसे रहित शुद्ध सत्त्वगुण को आध्यय करके जो समाधि की जाती है उस में व्याप्ति के पृथक् होने से तथा चित् शक्ति की प्रथलता से सत्त्वामात्र जो समाधि होती है उसे सास्मित समाधि कहते हैं अहंकार और अस्मिता के एक होने की शक्ति न करनी चाहिये पर्योकि अहंकार उसे कहते हैं जिसमें मैं हूँ इस अभिमान के साथ चाला विषय का प्राप्त होता है और अस्मिता वह है जिस से अन्तर्मुख होके चित्त प्रकृति में जब लय हो जाता है इसही समाधि में जिन को सन्तोष होता है और जो परमात्मा को नहीं देखते हैं वह प्रकृत लय कहाते हैं जो परम पुरुष परमात्मा को जान कर समाधि में प्रवृत्त होते हैं उन का विवेक द्वारा प्रतीकृत्यापत्ति में पूर्व

कही चारी अवस्था शक्ति रूप से रहती है उन में से पहली अवस्थाओं को तथाग कर पिछली अवस्थाओंको अहण करना चाहिये १७

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वे ॥ संस्कारशेषोन्यः ॥ १८ ॥

पदार्थ—(विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वे) समस्त चित्त वृत्तियों के आवसान अर्थात् अन्तों को विराम कहते हैं उस विराम का जो प्रत्यय अर्थात् ज्ञान के बारम्बार अभ्यास पूर्वक (संस्कारशेषः) जिस में केवल संस्कार ही शेष हैं, अर्थात् निरालम्ब अवरथा (अनय) असम्पज्ञात समाधि कहलाती है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जिसमें चित्त की समस्तवृत्तियोंका आवसान (अन्त) हो जाता है उस वितकांदिके अभाव हान को बारम्बार विचार पुर्वक केवल संस्कार ही शेष रहते हैं उस निरालम्ब समाधि को असम्पज्ञात समाधि कहते हैं परन्तु चित्त वृत्ति निवृत्ति का मुख्य कारण चराण्य है ॥ १८ ॥

इया० भा०--सर्ववृत्ति प्रत्यस्तपये संस्कारशेषो निरोध-
श्चित्तस्य समाधिरसम्पज्ञातः तस्यपरं वरागम्यायः सालम्बड्य-
भ्यासस्तत्साधनाय न कल्पन इति विरामप्रत्ययोनिर्वस्तुकञ्चाल-
म्बनीक्रियते स चार्थ शैन्यः तदभ्यास पूर्वकही चिरं निरालम्बनप-
भावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्विजः समाधिरसंपज्ञातः स खल्वयं
द्विविश्च उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां
भवति ॥ १८ ॥

पदार्थ—सब वृत्तियोंके अस्त हो जाने पर जिस में केवल संस्कार ही शेष रह जाते हैं वह चित्त का निरोध असम्पज्ञात समाधि कहलाती है उस असम्पज्ञात समाधि का परम उपाय वैराण्य है वितकांदिके आधार से जो प्राणायाम का अभ्यास वह उक्त असम्पज्ञात समाधि के सिद्ध करने को युक्त नहीं है चित्त वृत्तियों को अभाव-

*संस्कार अर्थात् वह गुण जो निमित्त के नाश होने पर भी किंचित्क्रमात् गुण रह जाता है ।

शान आथवा विषयों में विरक्ति निर्वस्तुक अर्थात् निराकार परमेश्वर के आथवमें इष्टकरता है घब्ह निरालम्ब असम्प्रशात् समाधिसांसारिक प्रयोजन से रहित होती है उसके अभ्यास से चिरा निराथय होनेपे पंता भान होता है कि मानो है ही नहीं इस निर्वाज अर्थात् निराथय समाधि को असम्प्रशात् समाधि कहते हैं सो यह निर्विकल्प असम्प्रशात् समाधि दो प्रकार की है उपाय प्रत्यय और भव प्रत्यय उन दोनों में से उपाय प्रत्यय योगियों को होती है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जब चित्त की समस्त वृत्तियां अस्त हो जाती हैं और केवल संस्कार शेष रह जाते हैं तब असम्प्रशात् समाधि होती है उसकी प्राप्ति का परम उपाय वैराग्य है आलम्बन सहित कोई उपाय उसकी प्राप्ति का साधन नहीं है सांसारिक विषय से रहित होती है केवल एश्य पदार्थों में विरक्ति और आकार रहित परमेश्वर स्थिति पवम् प्रणायाम उसका साधन है जिससे चित्तका अभाव सा भान होने लगता है असम्प्रशात् समाधिके दो भेद हैं पक उपाय प्रत्यय दूसरा भवप्रत्यय इन दोनों में से उपायप्रत्यय योगियों को होती है ॥ १८ ॥

भो० दृ०—विरम्यतेऽनेतैति विरामो वितर्कादिचिन्तात्यागः । विराम शास्त्री प्रत्यय श्रेति विराम प्रत्ययस्तस्याभ्यासः पौनः पुन्येग वेत्सि निवेशनम् । तत्र या काचित् वृत्तिश्ललसति तस्या नेति नेतीति नैरस्तव्येण पर्युद्ध संसर्वं वर्त्पूर्वः सम्प्राप्तात् समाधिः संस्कारा शोपेन्यः ताह्लक्षण्योऽन्यमसम्प्रशात् इत्यर्थः । न तत्र किञ्चिद्देहं संप्रशाय इत्य सम्प्रशातां निर्वाजः समाधिः । इह चतुर्थिं चित्तस्य परिणामः द्युत्थानं समाधिप्राप्तमो निरोध एकाग्रता च तत्र त्रिसमूढे विच्छभूमि द्युत्थानं विच्छिता भूमिका । सत्त्वोद्रेकात् समाधिप्राप्तमः । त्रिसूरे काग्रतं च पर्यन्तभूमि । प्रतिपरिणामच्च संस्काराः तत्र द्युत्थान जनिताः संस्काराः समाधिप्राप्तमजैः संस्कारैः प्रत्याहन्यन्ते, तज्जाच्छैकाग्रताजैः निरोधजनितैरेकाग्रताजाः संस्काराः स्वरूपच्च इत्यतः । यथा मुद्वर्णं संबलितं ध्यायमानं सीकमातगानं मुद्वर्णमलञ्च निर्दहति । पद्मसेकाग्रताजनितान् संस्कारान् निरोधजाः सात्मानञ्च निर्दहन्ति ॥ १८ ॥ तदेवं योगस्य स्वरूपं भेदञ्च संक्षेपेणोपाधाँश्च अभिधाय विस्तरपेणोपायं योगाभ्यास प्रदर्शनपूर्वकं वक्तुमुपक्रमते ।

भो० दृ० का भा०— जिसके द्वारा वितर्कादिकों की चिन्ता को दृथागत जाता है उसे विराम कहते हैं विरामलूप प्रत्यय सर्थांपूर्व

शान को धारमधार चित्तमें धारण करने को विरामप्रत्ययाभ्यास कहते हैं । फलितार्थ यह हुआ कि सब वृत्तियों के निवारण करने को विरामप्रत्ययाभ्यास कहते हैं । जिस में विरामप्रत्ययाभ्यास हो-जाता है उसे सम्प्रहात समाधि और उस से जो विलक्षण समाधि हो उसे असम्प्रहात समाधि कहते हैं । असम्प्रहात योग निर्विज समाधि का ही नाम है चित्त का परिणाम ४ प्रकार का है व्युत्थान समाधि प्रारम्भ, निरोध और एकाग्रतान्तिस मूढ़ भूमिकाओंमें जीवित का परिणाम रहता है उसे व्युत्थान कहते हैं, सत्त्वगुणसे समाधिका प्रारम्भ होता है, समाधिके संस्कारोंसे व्युत्थानके संस्कारों का नाश होता है समाधि प्रारम्भके उत्पन्न हुये संस्कार एकाग्रता के संस्कारों से नाश होते हैं, ऐसे ही एकाग्रता के संस्कार विरोधसे नष्ट होजाते हैं, जैसे सोने में मिला हुआ सीसा आग में रखने से सोने के मैल को जला कर आप भी जल जाता है, ऐसे ही निरोध के संस्कार एकाग्रता के संस्कारों को नाश करके आप भी लघु होजाते हैं ।

इस प्रकार से योग के भेद और संनिहित रीति से उपाय दिखला के योग के उपायों को विस्तार के साथ कहते हैं ॥ १८ ॥

भवप्रत्ययोविदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—[भवप्रत्ययः] भव जो जगत् अथवा अविद्या उसका प्रत्यय अर्थात् ज्ञान जिसमें रहता है उसे भवप्रत्यय कहते हैं [विदेहप्रकृतिलयानाम्] विदेह-प्रकृतिलयों को “ भवतीति शेषः”, होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—भवप्रत्यय विदेहलय और प्रकृतिलयसंज्ञक योगियों को होता है विदेहानां देवान् भवप्रत्ययःतेहि स्वसंस्कार मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयनित तथा प्रकृतिलयाः साविकारे चेतति प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवनित, यादन्न उमरावर्तते अधिकारवशाच्चित्तंपिति ॥ २० ॥

पदार्थ—विदेहलय अर्थात् देहरहित जो आत्मसत्ता उसमेंलय अर्थात् तत्पर योगी हैं वे विदेहलय कहते हैं कामादि रश्व तथा

निज इन्द्रियों को जीतने वालों को भव प्रत्यय नामक समाधि होती है योगिकि वे अपने संस्कार की सहायता से चित्त घाग मोदा के शुद्ध भोगते हैं अपने संस्कार के फल को संस्कार के समान ही निर्वाह करते हैं अर्थात् जैसा उनका जन्मान्तरीय शुद्ध संस्कार होना है वैसे ही शुद्धाचरण तथा शुद्ध ध्यानादि भी रहते हैं । ऐसे ही अवशालत प्रकृति उसमें जो संलग्न योगी हैं वे अपने अधिकार्यशुद्ध चित्तमें प्रकृतिमें लीन हों कर भोक्ता के सुख का शुभभव करते हैं, अर्थात् प्रकृति लय नामक योगी सांसारिक पदार्थोंकी सिद्धिको परम एवं मान लेता है जब तक फिर न अपनी पृथ्वीविस्था में लौट पर आवे तभी तक वह मोक्षशुद्ध रहता है पर्योगिकि उसके चित्त में प्राप्त पदार्थों का अधिकार अर्थात् सम्बन्ध निष्टृत नहीं हुआ है ॥ १६ ॥

भा० का भा०—विदेशलय योगी अपने संस्कार मध्य से मोक्ष सुख को प्राप्त होते हैं पर्योगिकि जैसा उनका शुद्ध संस्कार होता है यैसा ही उनको शुद्ध फल भी मिलता है और प्रकृतिलय योगी नभो तक मोक्त के सुख का स्वाद लेते हैं जब तक वे ध्यानायस्थित रहते हैं परन्तु जब उन का चित्त प्राप्तिक पदार्थों में अपने अधिकार के अनुसार लग जाता है तब वह सुख भी नहीं रहता ॥ १६ ॥

भा० छ०—विदेशः प्रकृति भूमिका सूक्त ध्यायतः तेषां समाधि भवप्रत्ययः सत्त्वः संसार सं एव प्रन्तयः कारणं यस्त्र स भवप्रत्ययः अयमर्थः अधिमात्रान्तर्भूता एव ते संसारे तथाधिभूमा-धिभाजो भवन्ति । तेषां पर इत्यादर्थनामु योगभासोऽयम् च तः पर-सत्त्वप्राप्ताने तद्भावनोयाङ्गच मुक्ताकामेन भद्रान् यत्नो विद्येय इत्येतद-र्थमुपदिष्टम् ॥ १६ ॥

तद्विद्येयाभ्यु

भो० छ० भा० विदेश और प्रकृतिलय योगियों का वर्णन पूर्वकर खुले हैं उनकी समाधि भवप्रत्यय होती है । भव कहते हैं संसार का, वही है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसकाव ए भव प्रत्यय कहाता है फलितार्थ यह हुआ कि वह लोग अधिमात्र के अन्तर्भूत हैं उनको समाधि होती है परन्तु वह परम-त्व परमेष्वर को नहीं देज सकते हैं इसलिये उनकी समाधि योगभास कहाती है । इस कारण से योगी का चाहिये कि परमतत्वके जानने से उसके ध्यान करनेगे मुक्ति पाने की इच्छासे भद्रान् यत्न करे ॥ १६ ॥

इन से भिन्न लोगों को अर्थात् जिन लोगों को अभी इच्छामात्र उत्पन्न हुई है उन की समाधि सिद्धि का उपाय अगले सूत्र में कहते हैं ।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

पदार्थ—(इतरेषाम्) विदेहलय और प्रकृतिलय नामक योगियों से । भिन्न सुमुक्तुओं को (श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः) श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, एकाग्र चित्तता और यथार्थज्ञान से उपायप्रत्यय योग होता है ॥ २० ॥

आवार्य—पूर्वोक्त योगियों से भिन्न सुमुक्तुओं को योग, श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, समाधि प्रज्ञा से होता है इसी से वह उपाय प्रत्यय कहाता है ॥ २० ॥

ब्या० भा०—उपायप्रत्ययोगिनां भवति श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः । साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति । तस्य हि श्रद्धदधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते । समुपज्ञातवीर्यस्य स्मृतिरूपं तिष्ठते स्मृति त्युपस्थाने च चित्तमनाङ्कुलं समाधीयते । समाधितनित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपाचर्तते । येन यथावद्वस्तु जानाति तदभ्यासाच्च द्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥ २० ॥ ते खलु नवयोगिनोमूढुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति । तद्यथा मृदूषायोगाध्योपायोऽधिमात्रोपायश्च ॥ २० ॥

पदार्थ—उपायप्रत्यय नामक योग योगियों को होता है यह पूर्वक हञ्चुके हैं परन्तु कैसे योगी को होता है ? चित्त की प्रसंगता को श्रद्धा कहते हैं, उससे युक्त योगी ही उस योग का अधिकारी है । वह प्रसंगता युक्त क्योंकि वह श्रद्धा मात्राके समान हितं चाहने वाले योगीकी रक्षा करती है उस श्रद्धायुक्त सत्यासत्य जाननेकी इच्छा है जिसको ऐसे योगी को उत्साह उत्पन्न होता है जब उसको उत्साह होता है फिर उसे स्मृति कर्थात् उत्तम २ स्मरण होता है और स्मृति के स्थिर होने से चित्त आनन्दमय होकर (समाधीयते) सत-

व्यधान हो जाता है । स्वातंत्र्यान चित्त घाले को हुद्दि और सत्यासत्यका विचार उत्पन्न होता है, जिससे कोक अर्थात् जैसी जो हैं वैयोगी वस्तु को जानता है । इस विवेक के अभ्यास से और इसलाई का निरन्तर चिन्तन रहने से धैराग्य से असम्भवान समाधि होती है गिर्धथ वे नये योगी तोन प्रकार के अर्थात् १-मृदूपाय २-मध्योपाय ३-अधिमात्रोपाय होते हैं उनके प्रष्टार्थ लिखते हैं मृदु अर्थात् शाला है उपाय जिसका मध्यम है उपाय जिस का अधिमात्र अर्थात् उत्तम उपाय घला ॥ २० ॥

भा० का भावार्थ—पूर्व सूत्र में कहा था कि उपायप्रत्यय योग योगियों को होता है परन्तु यह सुमुद्रु योगियों को होता है अर्थात् पहिले योग में शृद्धा होती है उससे चित्त प्रसन्न होता है ज्योंकि कल्पणकारिणी शृद्धा योगी की मात्रा के समान रक्षा फरती है, पश्चात् उस विवेक की रक्षा करने घाले शृद्धालु योगियों को उत्तमाह उत्पन्न होता है पश्चात् स्मृति उत्पन्न होती है स्मृति के लिए ये जाने से प्रसन्न चित्त सावधान होजाता है सावधान चित्त होने से हुद्दि और विवेक अर्थात् सत्यासत्य का विचार प्राप्त होता है जिस से सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है और इस हुद्दि और विवेक के अभ्यास तथा धैराग्य से असम्भवात् समाधि प्राप्त होती है, यह नूतन योगी तीन प्रकार के होते हैं १-मृदूपाय २-मध्योपाय ३-अधिमात्रोपाय ॥ २० ॥

भा० छ०—विवेदप्रकृतिलग्न्यतिरिक्तानां योगिनां शृद्धादिपूर्वकः शृद्धाद्यः पूर्वे उपाया वस्यस शृद्धादिपूर्वकः । ते च शृद्धाद्यः आमा हुपायोपेयग्रावेन प्रवर्तमानाः स प्रशान्त समाधेरुपायतां प्रतिपद्यन्ते । तत्र शृद्धायोगविषये चेतसः प्रसादः धीर्घ्यं सुख्सादः स्मृतिरुभूता सम्प्रमोषः । समाधिरेकांश्रता । प्रांगात्मद्यविवेकः तत्र शृद्धावतो धीर्घ्यं जायते योग विषय उत्साहवान् भवति । सोत्साहस्य च पाश्चात्यातुंभूमिषु स्मृतिरुत्पद्यते तत् स्मरणात्त्वं चेतः समाधीयते । समाहितचित्तश्च भार्यं सम्यग्विवेकेन जानाति । तद ते सम्प्रशात्स्य समाधेरुपायाः । तस्याभ्यासात् पराच धैराग्यात् भवति असम्प्राप्तः ॥ २० ॥

उक्तापायवतां योगिनां उपायमेदाद भेदोनाह ।

भो० वृ० भा०—विदेह और प्रकृतिलय (जिनका पिछ्ले सूत्र में वर्णन हो चुका है) योगियों से भिन्न सुमुक्तश्चों को अद्वा आदि के द्वारा समाधिसिद्धि होती है। अद्वादिक उधाय उपेय भाव से सम्प्रव्यात योग के साधक होते हैं, योग के विपर्य में जो चित्त की प्रसन्नता होती है उसे अद्वा कहते हैं, उत्साह वीर्य कहाता है, चुने हुए विचार को न भूलना स्मृति, चित्त के एकाग्र रखने को समाधि, इथ पदार्थ के विवेक को प्रक्षा कहते हैं। जब मनुष्य को योग में अद्वा होता है तब उसके करने में उसे उत्साह भी बढ़ता है, उत्साह युक्त मनुष्य को पिछ्ले कर्मों की स्मृति होती है, पूर्व अनुभव के होने से चित्त की चंचलता जाती रहती है, जब चित्त एकाग्र होता है तब ध्यान करने योग्य विषयों में विवेक उत्पन्न होता है। इस प्रकार से अद्वादि सम्प्रव्यात योग के उधाय हैं, इन के अभ्यास से और परम वैराग्य से असम्प्रव्यात योग होता है ॥ २० ॥

ऊपर लिखे उपाय युक्त सुमुक्तश्चों के उपाय भेदसे जो भेद होते हैं उनका विण अगले सूत्र में करते हैं।

तीव्रसंवेगानामासनः ॥ २१ ॥

पदा०—(तीव्रसंवेगानाम्) जिनके उपाय का तीव्र संवेग है उन को (आसनः) समीप अर्थात् सुलभ है ॥ २१ ॥

भावार्थ—उपायप्रत्यायसमाधि तीव्रसंवेगवाले सुमुक्त को शीघ्र सिद्ध होती है।

भाष्य—तत्र मृदूपायोपि त्रिविधो मृदुसंवेगो मध्यसंवेगसती-ब्रसंवेग इति । तथा मध्योपायस्तथाधिमात्रोपाय इति तत्राधिमात्रोपायात् समाधिञ्जामः समाधिंफलं च भवति ॥ २१ ॥

भा० का पदार्थ—उनमें से मृदूपाय भी तीन प्रकार के हैं मृदु अर्थात् लघु सिध्ल है किया कि गति था जनमान्तरीय संस्कार जिसका मध्य अर्थात् न मृदु न तीव्र है किया और संस्कार जिसका तीव्र अर्थात् बलवान् किया और संस्कार पाला योग । ऐसे ही ३ भेद का मध्योपाय योग है ऐसे ही

३८ प्रकार का अधिमात्रोपाय योग है उनमें से अधिमात्रोपाय से योग की प्राप्ति और योग का फल होता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—पूर्यं लिहित मृदुपाय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय योगों में से मृदुपाय भी तीन प्रकार का है एक मृदुसंबंधे दूसरा मध्यसंबंधे और तीसरा तीव्रसंबंधे ऐसे ही मध्योपाय और अधिमात्रोपाय के भी तीन २ भेद हैं इनमें से अधिमात्रोपाय से समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल होता है ॥ २१ ॥

भ०० च०—समाधिलाभः इति शेषः । संबंधः कियाहेतुर्दृढतरः संस्कारः च तीव्रो येषामधिमात्रोपायानां तेषामासन्नः समाधिलाभः समाधिं फलज्ञासन्नं भवति शीघ्रमेव सम्पद्यते इत्यर्थः ॥ २१ ॥ के, ते तीव्रसंबंधेगाः ? इत्याह ।

भ०० च०० भ००—तीव्र संबंध वालों को समाधि सिद्धि शीघ्र मिलती है, संबंध अर्थात् क्रिया का हेतु जो दृढ़ संस्कार है वह है तीव्र जिनका अर्थात् दृढ़ उपाय वालों को समाधि और समाधि का फल समीप होता है अर्थात् शीघ्र आप होता है ॥ २१ ॥

अगले सूत्र में तीव्र संबंध वालों के भेद वर्णन करेंगे ।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्तोपि विशेषः ॥ २२ ॥

पदार्थ—(मृदुमध्याधिमात्रत्वात्) मृदु, मध्य और अधिमात्र (ततोऽपि) उनसे भी (विशेषः) विशेष भेद हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ—मृदुपाय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय इनके भी विशेष भेद हैं ॥ २२ ॥

भाष्य—मृदुतीव्रो पद्यातीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति । ततोपि विशेषप्रद्विशेषान् द्रविमृदुतीव्रसंबंधेगस्यासन्नः, ततो पद्यतीव्रसंबंधेगस्यासन्नतरः, तस्मादधिमात्रतीव्रसंबंधेगस्याधिमात्रोपायस्यासन्नतयः सपापि लाभः समाधिफलं चेति ॥ २२ ॥

किमेतस्मादेवासन्नतप्रस्तयाधिर्भवति अथास्य लाभे भवति अन्योपि कथि दुरायो न वेति ।

पदार्थ—मृदुतीव्र मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र उससे आर्थात् उक्त कासज समीप से अधिक होता है उसके अधिक समीप होने से मृदुतीव्र संबंध के समीप उससे मध्यतीव्रसंबंध के अतिसमीप उस से अधिमात्रतीव्र संबंधग्रुक्त अधिमात्रोपाय के अत्यन्त ही समीप है आसम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल यथा इसही से अत्यन्तसमीप समाधि होती है अथवा इसके प्राप्त होने पर समीप होती है और भी कोई उपाय है वा नहीं ? ॥ २२ ॥

गावार्थ—पूर्व सूत्र में मृदुपाय मध्योपाय और अधिमात्रोपाय और इन्हीं तीनों के तीन भेद अर्थात् मृदुपाय मृदुसंबंध, मृदुपाय मध्यसंबंध सूत्रपायतीव्रसंबंध का है थे और यह भी कहा था कि तीव्र संबंध के आश्रय से समाधि सुलभ होती है परन्तु जब मृदु मध्य और अधिमात्र के योग से तीव्र संबंध भी ३ प्रकार का हुया तब उसको सुलभ कहना भी ठीक भान नहीं होता है इसलिये मृदुपायतीव्रसंबंध से सुलभ मध्योपायतीव्रसंबंध से अति सुलभ और अधिमात्रोपाय तीव्रसंबंध से अत्यन्तसुलभ सम्प्रज्ञात समाधि होती है । अब यह प्रश्न होता है कि उपायप्रत्यय योगियों को समाधि लाभ करने का यही एक उपाय है वा कोई और भी उपाय है ? ॥ २३ ॥

भ० २०—तेभ्य उपायेभ्यो मृद्वादिभेदभिन्नेभ्य उपायवतां विशेषो भंवति । मृदुर्मध्योऽधिमात्र इत्युपायभेदाः । ते प्रत्येकं मृदुसंबंध सूत्रसंबंधेगतीव्रसंबंधेगतेदात् विधा । तद्भेदेन च नवयोगिनो शब्दनितं मृदुपायो मृदुसंबंधेगतमध्यसंबंधेगतीव्रसंबंधेगत्य । मध्योपाय मृदुरुद्देशो मध्यसंबंधेगतीव्र संबंधेगत्य । अधिमात्रोपायो मृदुसंबंधेगतमध्यसंबंधेगतीव्रसंबंधेगत्य । अधिमात्रोपाये तीव्र संबंधे च महान् यत्तः कर्त्तव्यो इति भेदोपदेशः ॥ २२ ॥ इदानीमेतदुपायविलक्षणं सुगमं मुपायान्तरं दर्शयितुमाह ।

भ० २० भा०—मृदु, मध्य और अधिमात्र यह उपायों के भेद हैं, यह तीनों उपाय मृदुसंबंध, मध्यसंबंध और तीव्रसंबंध के भेद से तीन प्रकार के हैं, इस रीति से योगी नौ ह प्रकार के होते हैं, १-मृदुपाय मृदुसंबंध, २-मृदुपाय मध्यसंबंध, ३-मृदुपाय तीव्रसंबंध, ४-मध्योपाय मृदुसंबंध, ५-मध्योपाय मध्यसंबंध, ६-मध्योपाय तीव्रसंबंध, ७-तीव्रोपाय मृदुसंबंध, ८-तीव्रोपाय मध्यसंबंध ह तीव्रोपाय

तीव्रसंवेग । फलितार्थं यद्य हुआ कि मुमुक्षु को तीव्रोपाय तीव्रसंवेग वाला होना चाहिये ।

इन उपायों से भिन्न समाधि सिद्धि का एक झुगम उपाय आगले संक्ष में लिखने हैं—

ईश्वरप्रणिधानादा ॥ २३ ॥

पदार्थ—(ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वर की उपासना से (वा) अथवा ॥ २३ ॥

भावार्थ—अथवा ईश्वर की भक्ति से असन्प्रदात उपासना होती है ।

भाष्य—प्रणिधानः भक्तिविशेषादावर्तित ईश्वरस्तमनुगृह्णया-
त्यभिध्यानपात्रेण । तदभि ध्यानदपि योगिन आसनमस्तमा-
धिलापः समाधि फलञ्च भवतीति ॥ २३ ॥ अथ प्रधानपुरुष-
व्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरनामेति ।

पदार्थ—चिन्तन से “इसही का अर्थ शाप्तकार करते हैं” (भक्तिविशेष) से भली प्रकार से जाना गया ईश्वर उस ध्यान कर ने वाले योगी पर अनुग्रह करता है केवल ध्यान से ॥ २३ ॥ अंध प्रश्न होता है कि प्रधान पुरुष अर्थात् सर्वव्यापक से शिन्न ईश्वर नामक यह कौन है ?

शर्वार्थ—ईश्वर भक्ति विशेष अर्थात् निरन्तर चिन्तन से प्रकार-
शित हांकर योगी पर छुपा करता है जिससे योगी को असन्प्रदात उपासना का लाभ होना है ॥ २३ ॥ अब यह प्रश्न होता है कि प्रधान पुरुष से शिन्न यह ईश्वर कौन है ?

गो० वृ०—ईश्वरो वद्यमाणलक्षणः तत्र प्रणिधानं भक्तिविशेषः
विशिष्टपुरासनम् सर्वकियाणां तत्रार्पणं विषयमुखादिकं फलमनिच्छन्
सर्वा किवास्तस्मिन् परमगुरावर्पयति तत् प्रणिधानं समाधेरतत्-
फलतामस्य च प्रकृष्ट उपायः ॥ २३ ॥

ईश्वरस्य प्रणिधानात् समाधिलाग इत्युक्तम् । तत्रैश्वरस्य रथरूपं
प्रमाणं प्रभावं वाचकम् उपासनोक्तम् तत् फलञ्च क्षमेण वक्तुमाह ।

भो० च० भा०—आगे (रु० सूत्र में) जिसके लक्षण कहेंगे उस के प्रणिधान अर्थात् भक्तिविशेष से योग सिद्ध होता है, भक्तिविशेष का अर्थ उपासना है अर्थात् विश्वर्यभाग की इच्छा को त्याग कर सब क्रियाओं को उसही परम गुरु में अपूरण कर देनी उपासना कहाती है ईश्वर की उपासना से समाधि और समाधि का फल प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की प्राप्ति कही परन्तु वह ईश्वर क्या है ? उसका प्रभाव कैसा है ? उस का वाचक कोई शब्द है वा नहीं ? उसकी उपासना की क्या रीति है ? क्रम से इस का उच्चर आगे लिखते हैं—

**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष
ईश्वरः ॥ २४ ॥**

पदार्थ—(क्लेशकर्मविपाकाशयैः) क्लेश कर्म तथा कर्मफल और संस्कार से (अपरामृष्टः) असंबद्ध (पुरुषविशेषः) जीव से भिन्न (ईश्वरः) ईश्वर कहाता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—जिसमें क्लेश, कर्म, कर्मके फल तथा संस्कारों का लम्बन्ध नहीं है वह जीव से भिन्न ईश्वर है ॥ २४ ॥

भाष्य—अविद्यादयः क्लेशाः । कुशलाकुशलानि कर्माणि तत्फलपृष्ठ विपाकः । तदनुग्रहा वासना आशयाः । ते च मनसि वर्त्मानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेभि । यथा जयः पराजयो वा योद्दृष्टु वर्त्मानः स्वामिनि व्यपदिश्यते योद्दानेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः । कैवल्यं प्राप्तास्त्वाहि सन्वि च वद्वः कैवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यमप्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सञ्चन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्यायथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिस्तम्भाद्यते नैवमीश्वरस्य । स तु

सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति । योऽसौ प्रश्नसत्त्वोपादनादी-
श्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्त्रिनिमित्त
इति । तस्य शास्त्रं निमित्तम् शास्त्रं पुनः किं निमित्तं ? प्रकृष्ट
सत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वत्तगानयो-
रनादिःप्रश्नन्यः एतस्मादेतद्द्वयति सदैव मुक्त इति ।
तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम् । त्रावदैश्वर्यान्तरे-
ण तदतिशययते यदेवा तश्याम् स्थाचदेव तत्स्यात् तस्माद्वृत्रका-
म्भापासिरेश्वर्यस्य स ईश्वर इति । न च तत्समानमेष्वर्यं भस्ति
। कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मैन् युगपत्क्रमितेऽर्थे नवमिदप्यस्तु
शुराणविदपस्त्रिति एकस्य यिज्ञावितरस्य प्राकाम्यविद्यातादून-
दृश्मपसक्तम् द्वयोश्चतुल्ययोर्युगपत्क्रमितार्थं प्राप्नुन्नास्ति । अर्थस्य
विरुद्धतात् तस्माद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमेश्वर्यं स ईश्वराः
स च पुरुपनिशंप इति ॥ २४ ॥

पदार्थ—फलेश अविद्याद्विकशर्थान् अविद्या, अस्मिना, राग, द्वेष,
और अभिनिवेश को कहते हैं शुभ और अशुभ कर्म उन शुभाशुभ
कर्मों के फल को विपाक कहते हैं उन फर्म फलोंके अनुसार जो धा-
सना होता है उसे आशय कहते हैं और वे मनमें रहते हैं परन्तु
जीवात्मा में लगाये जाते हैं यद्योकि चह जीवात्मा उन कर्मों के फल
तथा धासना के फल का भोक्ता है । जैसे जीवना या हारना योद्याओं
में रहता है स्वामी अर्थात् राजा में लगाया जाता है इस प्रकार से जो
उन कर्म फल तथा आशय से सम्बन्ध रहित है जीव से विशेष
ईश्वर है । तो अनेक केवली मोक्षको प्राप्त हुये कर्म धन्धमसे मुक्त हैं
यद्योकि वे लोग तीतों कर्मचयन अर्गात् शारीरिक मानसिक और
आध्यात्मिक अथवा प्रारब्धसञ्चित और क्रियमाण आदि कर्मों के
घन्धन को फाट कर मोक्षको प्राप्त हुये हैं । ईश्वर का कर्मफलादि
सम्बन्ध न था और न होगा । जैसे मुक्ति को प्राप्त हुये मनुष्य की
प्रथम घन्धयुक अवस्था जानी जाती है परन्तु ईश्वर में घन्धकोटि
नहीं मालूम होती है जैसे प्रकृतिलीन योगी को योगात्मस्था के पक्षात्
घन्धकोटि निश्चय को जाती है ईश्वर को ऐसी नहीं । वह तो सब

कालमें वन्धन रहित है किसी काल में उसका ऐश्वर्य नष्ट नहीं होता । जो यह सर्वोत्तम घलादि युक्त नित्य ऐश्वर्य है वह क्या कारणः सहित है या विना कारणके है ? उस उत्कर्षे अर्थात् ऐश्वर्यका वेद हा निमित्त है पिर शास्त्रका निमित्त क्या है ? सर्वोत्तम ऐश्वर्य उसका निमित्त है इन दोनों शास्त्र और उत्कर्ष का ईश्वर की सूता में विद्यमान रहने वालों का नित्य सम्बन्ध है । इससे यह सिद्ध होता है पुरुष विशेष सदा ऐश्वर्ययुक्त सदा वन्धन रहित है और उसका ऐश्वर्य समानता और अधिकता से रहित है अर्थात् उस के समान वा अधिक किसीका ऐश्वर्य नहीं है वैसा दूसरे ऐश्वर्य से (अतिशयन्ते) ईश्वर हो सका है । जो ही आत्म ऐश्वर्यवान् हो वही ईश्वर होगा । इस लिये जिस में ऐश्वर्य की सीमा न हो वह ईश्वर है क्योंकि उसमा न गुणवाले दो का पक ही काल में विचार करने से यह नया है यह पुराना है एक की सिद्धि होने से दूसरे की प्रकामता अर्थात् वह ऐश्वर्य कि जिस से किसी प्रकार की इच्छा पूर्ति में भंग न हो उस के नष्ट होने ही से न्यूनता सिद्ध हुई समान गुण वाले दो पदार्थों की ईच्छारूप पक्ता सिद्ध नहीं हो सकी क्योंकि दोनों पदार्थों के गुण में अवश्य कुछ भेद होगा इसलिये जिसका समानता व न्यूनता से रहित ऐश्वर्य है वह ईश्वर है और वह जीव से भिन्न है ॥ २४ ॥

भाष्य का भाव०—अविद्यादि को क्लेश और पाप पुण्यको कर्म कहते हैं एवं कर्म के फल विषाक और फलानुसार वासना आशय कहलाती है वे आशय यद्यपि मन में होते हैं तथापि जीव में आरोपित किये जाते हैं क्योंकि जीव ही उनके फल का भोक्ता है जैसे संश्राम में जीत और हार योद्धा और की होती है परन्तु राजा में आरोपित की जाती है, जो इन वस्तेशादिकों से सम्बन्धरहित है वह जीव से भिन्न व्यापक परमेश्वर है, (प्र० वहुत से कैवल्यां लोग भी भोक्ता को वास हुये हैं, वे लोग तीनों वंशनों को काट कर कैवल्य पद का प्राप्त हुये हैं उन से भिन्न एक ईश्वर क्यों मानना ? (उत्तर) जैसे केवली लोगों को प्रथम वंधन था पश्चात् वंधन से मुक्त हुये जब ईश्वर घने परन्तु ईश्वर में वंधन न कभी था न है न हाँ, वह सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर रहता है (प्र०) अच्छा तो प्रकृदिलीन

* कैवली जैन मतघःलोंके तीर्थकरों को फहते हैं ।

योगी तो ईश्वर हो सकते हैं क्योंकि उन में पूर्व वन्धुकोडि भान नहीं होती । (३०) जहाँ चो भी ईश्वर नहीं हो सकते क्यों कि उनको उत्तर काल में अवश्य वंधन होगा (प्र०) ईश्वर को जो नित्य अविनाशी पेशवर्य है वह सनिमित्त है वा निर्मित है (३०) सनिमित्त (प्र०) उस का कौन निनित्त है ? (३०) उस का निनित्त वेद है (प्र०) वेद का निनित्त पथा है ? (३०) ईश्वरीय द्वान् गेशवर्ये और वेद का ईश्वर चं अनादि सम्बन्ध है क्योंकि शुण और शुणी का नित्य सम्बन्ध होता है इस से यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सदा मुक्त और सदैव पेशवर्य युक्त है परन्तु पेशवर्य उस का तुलना से रहित है क्योंकि दूसरे पेशवर्य से उसकी समानता नहीं हो सकती क्योंकि जिस में अधिक पेशवर्य होगा वही ईश्वर होगा । इसलिये जिस में पेशवर्य की सीमा हो वही ईश्वर है क्योंकि उस के समान पेशवर्य दूसरेमें नहीं है वे जेसे दो वस्तुओंका उत्पत्ति काल विचारनेको एकही समय में प्रवृत हों तो अवश्य यह सिद्ध हो जायगा कि यह वस्तु नई और यह पुरानी है जब एक का नूतनत्व सिद्ध भया तब न्यूनता भी सिद्ध होगई इसलिये जिस में पेशवर्य की पराकारा हो और जिस का पेशवर्य समानता रहित हो वही ईश्वर है ॥ २४ ॥

भो०व०-क्लिश्नन्तीति। क्लेशा अचि द्यादये द्वज्यमाणः। विहित प्रतिधि सिद्ध व्याभिक्रमाणि कर्माणि । विषयन्त इति विषाकाः कर्मफलानि । जात्यायुर्भागः । आफलविषाकाचि च भूमौ शेरत इत्याशयो चासनास्या संस्काराः तैरपरामृष्टः । f. विषि कालेषु न संस्सुष्टः । पुरुषविशेषः अन्येभ्यः पुरुषेभ्यो विशिष्यत इति विशेषः । ईश्वर ईशनशील इच्छामावेण सकलजगदुद्धरण्यक्षमः । यद्यपि संवेष्यमात्मनां ङ्गेशादिस्पर्शो नास्ति तथापि विचाग तस्तेषामुपदिश्यते । यथा योद्धृतातौ जयपरजयौ स्वानिनः । अस्य तु विषाक्षिपि कालेषु तथाविधोऽपि क्लेशादिपरामर्शो नास्ति । अतः सविलक्षण एव भगवानीश्वरः । तस्य च तथाविधमैश्वर्यमनादेः स्तवोत्कर्त्त । सत्खोत्तः कर्षश्वय प्रवृट्टात् शानादेव न च अनयोहर्णनेश्वर्ययोरितरतराक्षयत्वं परस्परानपेक्षत्वात् । ते द्वे ज्ञानैश्वर्य ईश्वरसत्त्वे धर्तमाने अनादिभूते तेन च तथा विधेन सत्त्वेन तस्यानादिरेव सम्बन्धं प्रकृति पुरुषसंयोगवियोगयोरीश्वरेच्छाव्यतिरिक्तेणानुपपत्तेः । यथेतरेषां प्राणिनां सुख दुःख मोहात्मकतया परिण्यत विच्च निर्मले सात्त्विके धर्मानुपास्ये अतिसक्तान्त विच्छाया संक्राते संवेदं भवति नैवमोश्वरस्य । तस्य केवल एव स्तात्विकः परिणाम उत्कर्षवान्

अनादिसम्बव थेन भोवथतया व्यवस्थितः । अतः पुरुषान्तरविलेखतया स एव ईश्वरः । मुक्तात्मान्तु पुनः पुनः क्लेशादियोगस्तैः शास्त्रोंके रूपार्थीर्थवित्ति तः । अस्य पुनः सर्वे दैव 'तथादिवत्यान्त मुक्तात्म तुल्यत्वम् । न चेश्वराणामनेकत्वं, सेपां तुल्यत्वे भिन्नाभिप्राय त्वात् कार्यस्यैवानुपत्तेः उत्कर्षाधिकर्षयुक्तत्वे या दण्डात्कृद्धाः स पवेश्वरः अत्रैव काष्ठा प्राप्तत्वादैश्वर्यस्य ॥ २४ ॥

एवेश्वरल्लहपमभिधाव प्रमाणमाह ।

भी व० का भा०— जीव जिन के द्वारा दुःख पावें वे क्लेश कहते हैं, वे अविद्यादि वा क्लेश आगे कहे जायेंगे । कर्म, वेदमें लिखे वा निषेध किये हुए अथवा दोनों मिले हुए जो पकते हैं वह विपाक अर्थात् कर्म फल कहे जाते हैं वे कर्म फल जन्म, आयु और भोग हैं । फल भोगने तक जा चित्त में रहे उसे आशय रहते हैं सो बासना नामक संस्कार है इन सब से जो तीन काल में स्पृश न रखता हो वह पुरुष अर्थात् जीवों से विशेष अर्थात् विलक्षण ईश्वर अर्थात् इच्छामात्र से जो सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने में समर्थ है । यद्यपि सब जीवों का क्लेश से स्पर्श नहीं है तो भी मनुष्यों के चित्त में जो क्लेश होते हैं वह जीव में आरोपित किये जाते हैं जैसे जीत और हार सिपाहियों में रहती है तो भी राजा में आरोपित की जाती है । ऐसे ही चित्त के क्लेश जीवों में आरोपित होते हैं परन्तु इ काल में भी किसी प्रकार से क्लेश ईश्वर को स्पृश नहीं कर सकते हैं, इस कारण से भगवान् ईश्वर जीवों से विलक्षण है । ईश्वर का ऐश्वर्य अनादि हाँने के कारण से सब से उत्तम है क्योंकि ज्ञानयुक्त है । यदि कोई शंका करे कि ज्ञान और ऐश्वर्य क्या परस्पर आन्तिक है, अर्थात् जहाँ पेशवर्य क्षोगा धाँ हान अवश्य होगा ? फलितार्थ यह हुआ कि ज्ञान के विना ऐश्वर्य नहीं होता और ज्ञान के विना ऐश्वर्य होना असम्भव है अतपव दोनों में अन्योन्याशयदोष आता है ? इसका उत्तर यह है कि इन दोनों में अन्योन्योशय दोष नहीं है क्यों कि वह दोनों परस्पर सापेक्ष नहीं हैं, ज्ञान और ऐश्वर्य ईश्वर में अनादि काल से हैं अर्थात् जैसे ईश्वर अनादि है ऐसे ही उसका ऐश्वर्य ज्ञान भी अनादि है, इससे ज्ञान और ऐश्वर्य का ईश्वर से अनादि सम्बन्ध है क्योंकि प्रकृति और पुरुष का संयोग विशाग ईश्वरेच्छा के विना नहीं हो सकता है । जैसे और जीवों का त्रित

सुज्ञ और कुःख तथा सोहा से प्रुण्ड रहता है और सत्त्व गुण सुकून कर धम्मात्मा भावमें परिणत होता (बदलता) है ऐसे ईश्वर का नहीं होता यद्योंकि उस में सदा सत्त्वगुण रहता है इस हेतु से जीवों से विलक्षण ईश्वर है ।

मुक्ति जीवों को धारम्यार फलेशी का सम्बन्ध शास्त्रोक्त उपायों से दूर करना पड़ता है परन्तु ईश्वर में फलेशी का सम्बन्ध न था और न होगा इससे मुक्त जी वों से भी ईश्वर विलक्षण है, अनेक ईश्वर होने का सन्देश भी नहीं करना चाहिये यद्योंकि अनेक ईश्वर होने से उत्कंपेश्वर्य दी हुलना की जायगी उन में जो अधिक ऐश्वर्य-धान् होगा उहाँ ईश्वर रहेगा । यद्योंकि ईश्वर में ऐश्वर्य का अन्त होता है ॥ २४ ॥

ईश्वर का स्वरूप कह के अब उसमें प्रमाण दिलाते हैं ।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञवीजम् ॥ २५ ॥

पदार्थ—(तत्र) उस ईश्वर में (निरतिशयम्) अस्यन्त अर्थात् समीक्षाप्राप्त (सर्वज्ञवीजम्) सम्पूर्णे ज्ञान का कारण ॥ २५ ॥

भावार्थ—उस ईश्वर में ज्ञान की अवधि भी बोधक है ॥ २५ ॥

भाष्य—यदिदमतीतानागतम् प्रत्युत्पन्नं प्रत्येकसमुच्चया-
तीनिदिग्यद्वयमन्तं वद्विति सर्वज्ञवीजयेतद्वद्वद्वपानं यत्र निरनिशयं
स सर्वज्ञः अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञवीजस्य सातिशयत्वात् परि-
माणवदिति यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष
इति सापान्यपात्रोपसंहारे कृतोपकं यमनुमानं न विशेषप्रतिपत्ती
समर्थपिति, तस्यसंज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या । तस्या-
त्पानुग्रामाभावेषि भूतानुग्रहः योजनम् ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलय
पदाप्रलययेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथाचोक्तं आदि-
विद्वान्निर्व्याणिविज्ञपथिष्ठाय कास्त्रयाद् भगवान् परमपिरासुरये
निज्ञासपान्नाय तत्र योवाचेति ॥ २५ ॥ इति—

भा० का पदार्थ—जो यह भूत भविष्यत् वर्त्तमान रूप समुदाय जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता किन्तु मन और बुद्धि से जिस ज्ञान का सम्बन्ध है थोड़ा वा अधिक सर्वदृष्टि का मूल है यही ज्ञान चढ़ा हुआ जिसमें अनिश्चय से रहिन अर्थात् ज्ञान की सीमा हो जाय चह सर्वज्ञ है, ज्ञान की सीमा अधिक होने के कारण से नोल वा संख्या के समान जिलमें ज्ञान की सीमा हो वह सर्वेष है और वह सर्वज्ञ पुरुष विशेष है यह सामान्य ज्ञान में सामान्य दृष्टि अनुमान किया है विशेष निश्चय में नहीं। उस सर्वज्ञ परमेश्वर (संघादिप्रतिपत्तिः) अभिधान अर्थात् शुणानुसार व्यापक विष्णु आदि नामों का निर्णय वेद से विचारना चाहिये। उस पुरुष विशेष के अपना हित साधन न नहीं करते भी प्राणियों का हित साधन ही प्रयोजन है। ज्ञान के उपदेश और धर्म के उपदेश से नित्य प्रलय अर्थात् जब प्राण और शशीर का विग्रह होता है और महाप्रलय अर्थात् समाप्ति कार्य पदार्थों का जय कारण में लग होगा जीवों का उद्धार कर्त्ता ऐसा व्राह्मण अन्थों में भी लिखा है। प्रथम विद्यावित् परमेश्वर ने वेदविद्या के प्रकाश करने की रचि को स्थिर करके अनुग्रह से ईश्वर ने (परमर्पि) परम ऋषि अर्थात् सम्पूर्णे ज्ञानमय ने (आमुर्ये) जीव को (तन्वं) वेद उपदेश किया ॥ २५ ॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् वर्त्तमान काल ता जो ज्ञान है यद्यपि वह अतीन्द्रिय है तथापि मनसे ग्रहण हाता है, वह ज्ञान प्राणी मात्र को होता है चाहे स्वरूप हो वा अधिक हो परन्तु होता सबको है, घटी ज्ञान बढ़ते २ जिसमें अवधि को प्राप्त हो जाय वही सर्वज्ञ है। ज्ञान की भी अवधि होती है क्योंकि जो वस्तु बद्धती बढ़ती है उसकी अवधि भी अवश्य होती है जैसे परिमाण में न्यूनाविक्य होता है तो उसमें अवधि भी होनी है। वह जिसमें ज्ञान की अवधि होनी है वही सर्वज्ञ ईश्वर है यह सामान्य से सर्वदृष्टि का अनुमान है विशेष निश्चय वेदादि सत्य अन्थों से करना योग्य है। यद्यपि परमेश्वर को ज्ञानोपदेश वा धर्मोपदेश से स्वार्थ कुछ नहीं है क्योंकि वह पूर्णकाम है परन्तु ज्ञानोपदेश और धर्मोपदेश से प्राणियों पर कृपा करना ही प्रयोजन है अर्थात् उसको यही अभिलाप्या होनी है कि मैं नित्यप्रलयादि में जीवों का उद्धार करूँ—ऐसा ही लिखा भी है आदि विद्वान् परमेश्वर ने प्राणियों पर कृपा करके जीव को वेदोपदेश किया ॥ २५ ॥

भो० वृ०—तस्मिन् भगवति सर्वशत्वस्य यद्वीजम् तीतानंग-
तादिग्रहणस्यालपत्वं हत्यं च मूलत्वा द्वीज मिवधीं तत्तत्त्वं रति-
शयं काष्ठां प्राप्तम् । इषा श्लृपत्वमहत्वादीनां धर्मर्थां स्तातिशयनां
काष्ठा प्राप्तिः । यथा परमाणुनष्टत्वस्यापरप्रकाशे गहत्वस्य । एवं
शाना दयोपि चित्तधर्माः स्तात्तत्प्रयेन एरिदिश्यमानाः दवचित्तिभिरति-
शयतामासा दयन्ति । यथ चौसे निरतिशयः स ईश्वरः । यद्यपि सामा-
न्यमावेऽनुमानस्य पर्यवसित्वाच विशेषावगतिः संस्मरति
तथापि शास्त्रादस्य सर्वशत्वादयो विशेषा अवगत्तव्याः । तस्य स्वप्र-
योजनाभावे फर्थं प्रकृतपुरुषयोः संयोगवियाना चा पादपतीति नाशं
कर्त्तयं, तस्य कालयिकत्वाद्भूतानुश्रद्धा परं प्रयोजनम् कल्पप्रत्ययमहा-
प्रलयेषु निःशेषान् संलालिण उद्द्रिप्यामीति तस्याध्यवसायः । यद्य-
स्येष्ट तत्तस्य प्रयोजनस्मिति ॥ २४ ॥

एवमीश्वरस्य प्रवाणमभिधाय प्रभावमाह ।

भो० वृ० का भाष्य—उस परमेश्वर में सर्वंकरता का जो धीज है
भूत और भविष्यत् ज्ञान की अधिकता और न्यूनता जो धीज के स-
मान है वह परन्तेरवर में सीमा को प्राप्त हो गई है । जैसे सूक्ष्मता की
सीमा (हव) परमाणु में और स्थूलता की सीमा अकाश में है,
ऐसे ही ज्ञानादि चित्त के धर्मों की न्यूनता और अधिकता जीवों
में देखी जाती है जिस में ज्ञान की अधिकता सीमा को प्राप्त हो जाय
वही ईश्वर है । यद्यपि सामान्य को देख कर विशेषं का अनुमान
किया जाता है तो ईश्वर के ज्ञान को देख कर उस से अधिक ज्ञान
का अनुमान हो सकता है परन्तु शास्त्रों में उस से अधिक ज्ञान का
अभाव लिखा है इस से ईश्वरनिष्ठ ज्ञान से अधिक ज्ञान का अनुमान
करना केवल बुद्धि को झूम में डालना है । यहां परं पेसी शंका भी न
करनी चाहिये कि ईश्वर को तो कुछ प्रयोजन है ही नहीं तब वह
क्यों सुष्ठि का रवता है ? क्योंकि परमेश्वर दयालु है जीवों पर दया
करना ही उसका अभीष्ट रहता है जो जिसका अभीष्ट होता है नहीं
उसका प्रयोजन होता है ॥ २५ ॥ इस रोति से ईश्वर में प्रभाण
द्विजाके अगले सूत्र में प्रभाव कहते हैं ।

सपूर्वेषामपि शुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

पूर्वार्थ—(सः , यह पूर्वोत्तक ईश्वर (पूर्वेषामपि) पदिले ऋषियों का संमान (गुरुः) उपदेशकाहै (कालन) काल से (अनवच्छेदात्) खण्डन न होने के कारण ॥२३॥

भावार्थ—पूर्वोत्तक गुण युक्त परमेश्वर पूर्व महर्वियों का भी उपदेश है क्योंकि उस में कालकृत सीमा नहीं है ॥ २४ ॥

भाष्य—पूर्वे हि गुरुः कालेनावच्छेदार्थंते । यत्रावच्छेदार्थंन कालोनोपावर्तते स एप पूर्वेषामपि गुरुः । चथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्ष गत्वयासिद्धः तथातिक्रातसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥२५ ॥

भाष्य का पूर्वार्थ—एहिले शुरु अर्थात् शास्त्रप्रणेता ऋषियों लोग समय से खंडित अर्थात् सीमावद्ध होजाते हैं जिस में सीमावद्ध करने के अभिप्राय से समय नहीं पहुँचता है यह परमेश्वर पूर्व ऋषियों का भी उपदेश है जैसे सृष्टि के आदि में ज्ञानयुक्त था तैसे ही सृष्टि के अन्त में भी निश्चय करना चाहिये ॥ २५ ॥

भाष्य का भावार्थ—प्रथम के शुरु लोग भी समयकृत सीमा में बद्ध हो जाते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्ति का समम नियत है परन्तु उन से प्रथम कौन शुरु था यह शङ्का वनी रहती है, किन्तु ईश्वर में कालकृत सीमा नहीं है अर्थात् जैसा वह अथ है वैसा ही आदि सृष्टि में और उस से भी प्रथम ज्ञानयुक्त था और सृष्टि के अन्त में भी वैसा ही रहेगा पवम् सहखों स्थाप व्यतीत होगई और होगी परन्तु उसका अपरिणामी ज्ञान तथा स्थिति इसलिये कालकृत सीमावद्ध परमेश्वर नहीं है और इस ही कारण से परमेश्वर पूर्वजं ऋषियों का भी गुरु है ॥ २६ ॥

भो० छ०—आद्यानां सृष्टिः॒णं ब्रह्मादीनामपि सु.॒गुरुः उपदेष्टा । यतः स कालेन नाव च्छिष्यते अनादित्वात् । तेषां ब्रह्मादीनां पुनरादिमत्यादस्तिकालेनावच्छेदः ॥ २६ ॥

पञ्चंप्रभावशुक्ता उपासनोपयोगाय वाचकमाह ।

भो० छ० का भाष्य—जो अनेक विद्याओं को बनाने वाले सभे से प्रथम उत्पन्न हुए ब्रह्मादिक हैं उन का भी वह परमेश्वर गुरु अर्थात् उपदेश करने वाला हैं क्योंकि 'वह' अनादि होने के कारण

काल से नहीं वंधता है, अनादि पुगने हैं यंसा कहनेसे उनके उत्थन-
न्त होने के समय को सीमा पाई जाती है ॥ २६ ॥ ईश्वर का प्रभाव
कहके अगले दूष में उस कं वाचक का दर्शन करते हैं ।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

पदार्थ- (तस्य) उस परमेश्वर का (वाचकः) वोध
करने वाला (प्रणवः) ओंकार है ॥ २७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का वाचक ओंकार है ॥ २७ ॥

भाष्य—वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य क्रिम्य संकेतकृतं वाच्यवा-
चकत्तमय प्रदीपकाशादस्थितमिति । स्थितोस्य वाच्यस्य वाच-
फेन सह सम्बन्धः । संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमधिनयता ।
यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य
पिता, अयमस्य पुत्र इति । सर्गन्तरेणपि वाच्यवाचकशस्यपं-
क्षस्तथैव संकेतः क्रियते । सम्बन्धिपि चनित्यतया नित्यः शब्दा-
र्थसम्बन्ध इत्यागमिनः प्रतिज्ञनतः ॥ २७ ॥ विज्ञातवाच्यवाच-
कत्वस्य योगिनः ।

भाव का पदार्थ—जिस के द्वारा जाना जाता है वह वाचक,
और जो जाना जाता है वह वाच्य कहता है इस रथल पर वाचक
प्रणव और वाच्य ईश्वर हैं प्रणव का वया । इसका संकेत अर्थात्
मनुष्यों ने अपने वोध के लिये कल्पना मात्र वाच्य वाचकत्वं नियत
किया है । अथवा दीपक और प्रकाश के समान समवाय सम्बन्ध है ।
इस स्थल में वाच्य और वाचक का अनादि सम्बन्ध है संकेत से प्रका-
शित किया जाता है यह इसका पिता है यह इसका पुत्र है, अन्य
सुषिठ्यों में भी वाच्य और वाचक में परस्पर सम्बन्ध शब्द शक्ति ही
से प्रकाशित होता है इसके अल्पसार ही रुकेत किया जाता है और
कि शब्द और अर्थ जित्य हैं नित्य अनादि है शब्द और अर्थों का
परस्पर सम्बन्ध यह शाद्विक मानते हैं वाच्य ईश्वर वाचक का सा-
म्बन्ध योगीलोग जानते हैं ॥ २७ ॥

भाष्य का भावार्थ—प्रणव वाचक और ईश्वर व्यष्टि है । (प्र०)
 ईश्वर और प्रणव का वच्छिय वाचक भाव केवल संकेतमात्र है या दीपक और प्रकाश के समान सम्बन्ध है । (उ०) ईश्वर और का वाच्यवाचक सम्बन्ध सांकेतिक है परन्तु कलिपत नहीं किंतु अनादि है, क्योंकि संकेत भी ईश्वर में जो वाच्यमात्र है उस सम्बन्ध को ही प्रकाश करता है, जैसे पिता और पुत्र का सम्बन्ध नियत है परन्तु संकेत विना प्रकाशित नहीं होता सो कवल इतना ही संकेत फरना घड़ता है कि यह पुत्र और यह इस का पिता है, यह संकेत अवश्य ईश्वर के नित्य सम्बन्ध में लगाना पड़ेगा । एवम् शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध शाविद्क मानते हैं इस लिये योगी लोग भी प्रणव और ईश्वर में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नित्य मानते हैं ॥ २७ ॥

भ० च०—इथमुक्त स्वरूपेश्वरस्य वाचकोऽभिदायकः प्रकर्षण नूयते स्तुतय उनेनात नौति स्तोतित वा प्रणव आकारस्तयोश्च वाच्य वाचकलक्षणः सम्बन्धो नित्यः संकेतन प्रकाश्यत नतु कंतचित् क्रियत, यथा पितापुत्रयोः पितॄमातृ एव सम्बन्धोऽस्यायं पिताऽस्यायं पुत्र इति केनचित् प्रकाश्यते ॥ २७ ॥ उपासनमात्र ।

भ० च० का भा—जिस का पिंडुले सूत्रों में बर्णन कर जुके हैं उसका वाचक अर्थात् कहने वाला प्रणव है, प्रणव का अर्थ यह है कि उत्तम रीति के साथ स्तुति की जाय जिसके द्वारा अथवा उत्तम रीति से जो स्तुति करे उसे प्रणव कहते हैं, प्रणव नाम ओऽम् का है । ओऽम् और ईश्वर का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध (नित्य) अनादि है किंतु वर्ण रूप संकेत से उसे प्रकाशित किया जाता है किंतु बनाया नहीं जाना है जैसे पिता और पुत्र सम्बन्ध को कोई बनाता नहीं है किंतु उसे प्रकाशित करदेते हैं ॥ २७ अथ उपासना कहते हैं ।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

पदार्थ—(तज्जपः) उस प्रणव का जप अर्थात् उच्चारण करना (तदर्थभावनम्) उसके अर्थ का विचारना है ॥ २८ ॥

भावार्थः—प्रणव के जप करने और अर्थ विचार ने से समाधि लाभ होता है ॥ २८ ॥

भाष्य—प्रणवस्य जपः प्रणवाभिष्ठेयस्य चेश्वरस्य भावनम् तद्दस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावनश्चित्तमेकाग्रं-सम्पद्यते । तथा चोक्तम् स्वाध्यायायोगमासीत् योगात् स्वाध्याय-धामनेत् ॥ २८ ॥ भवति इति किंचासंय स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते” ।

भा० का पदार्थ—ओ॒रेम् का प्रणव वाच्य ईश्वर की भावना अर्थात् विचार वा चिन्तन करना है । प्रणव का जप करने से और प्रणव का जो अर्थ ईश्वर है उसके चिन्तन से योगीका चित्त चंचलता रहित हो जाता है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा हैं स्वाध्यायं अर्थात् धेद वा प्रणव के जप से ‘स्वाध्यायो जपउत्त्युक्तो धेदाध्यन कस्मेणि’ योग्याभ्यास करे योग अंथोंत् समाधि होकर जप करे (स्वाध्याययोगसम्पत्या) स्वाध्याय और योग के घल से परमात्मा प्रकाशते ईश्वर का पूर्ण द्वान होता है ॥ २८ ॥

भाष्य का भावार्थ—प्रणव के जप और प्रणव के अर्थ विचारने के द्वारा प्रणव वाच्य ईश्वर के चिन्तन से योगी का चित्त प्रकाश होता है, प्रमाण, उपनिषद् अन्यों में लिखा है कि जप से योग और योग से जप को सिद्ध करे तथा दोनों के घल से परमात्मा का पूर्ण द्वान होता है ॥ २८ ॥

भ० च०—तस्य सादृशिमात्रिकस्य प्रणवस्य जपो यथावदुच्चारणं तद्वाच्यस्य ईश्वरस्य भावनं पुनः पुनर्देवेतसि निवेशनमेकाग्रताया उपत्यः । अतः समाधिस्तिद्वये योगिना प्रणवोऽजप्यस्तदर्थं ईश्वरं अभावनीय इन्द्रुक्लं भवति ॥ २८ ॥

उपासनायाः फलम् ।

भ० च० च० का भा०—उस साड़े तीन मात्रा वाले प्रणव का जप अर्थात् उसका ठोक नीति से उच्चारण करना और उसके चांच्य परमेश्वर का चिन्तन अर्थात् उसका धारम्भार हृदय में ध्यान करना एकाग्रता का उपाय है, इसलिये समाधि सिद्ध के बास्ते योगी को

प्रणव का जप करना चाहिये और उसके अर्थ अर्थात् ईश्वर का स्वान करना चाहिये ॥ २८ ॥ उपासना का फल कहते हैं ।

ततः प्रत्यक्षेतनाधिगमोप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

[ततः] तत् (प्रत्यक्षेतनाधिगमः) परमेश्वर का ज्ञान होता है [अन्तरायाभावश्च] और विद्धों का अभाव भी हो जाता है ॥ २९ ॥

भावार्थ-तत् योगी के विद्धन एष हो जाते हैं और ईश्वर का पूर्ण ज्ञान हो जाता है ॥ २९ ॥

भाष्य—ये तात्पदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वर-प्राणिभानन्नभवन्ति । इतरूपदर्शनप्रथम्यस्य भवती यथेवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गः स्तथायपियुद्धः प्रति-संस्वेदीय पुरुषस्तत्र विधिर्न्यन्ति ॥ २९ ॥

अथकेन्तराया ये चित्तस्थविक्षेपः के मुनस्ते कियन्ता वेति ।

भा० का पदार्थ-जितने विद्धन हैं शरीर के रोग आदि वे ईश्वर की भक्ति से नहीं होते ईश्वर के रूप का दर्शन भी योगी का होता है । जैसा कि ईश्वर सर्वव्यापक है अर्थात् क्रमफल से रहित, अविद्यादि कलेशों से रहित, अद्वितीयं, जन्म मृत्यु रहित परेसे ही यह योगी भी शुद्धि से जानने याचन जो ईश्वर है उसको जानलेता है अब विद्धन कौन हैं जो विच्छ के विगाड़ने वाले हैं उसके नाम क्या हैं और वे कितने हैं ? यह अगले सूच में कहते हैं ॥ २९ ॥

भावार्थ-जितने योग में विद्धन कारक रोगादि हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं और योगी को ईश्वर के स्वरूप का दर्शन भी होता है अर्थात् जैसा ईश्वर सर्वव्यापक आनन्दमय और क्षितिय है जैसा ही यथार्थ क्षान् योगी को हो जाना है । अ॒ यद् भी विचारंग चाहिये कि योग में विद्धन कौन और कितने हैं सो अगले सूच में इसका वर्णन करते हैं ॥ २९ ॥

भा० ह०-तस्माज्जपात्तदर्थं भावनाच्च योगिनः प्रत्यक्षेतनाधिगमो भवते विषयप्रतिकृत्ये इति-स्त्रान्तः करणमिमुखमन्वरि या-

चेनना इक्षुकिः सा प्रत्यक्षेनना तंस्याधिगमो ज्ञानं भवति । अन्तरायादप्रभायः शक्तिप्रतिवन्धोऽपि भवति ॥ २६ ॥ अथ केऽन्तराया । इत्याशङ्कारायामह ।

भौ० च० का भा०—चिन्तन शर्थात् उसका धारन्वर एश्य में ध्यान फरना एकाग्रता का उपाय है इस लिये समाधि सिद्धि के वास्ते योगी को प्रणय का जप करना चाहिये, और उसके अर्थ शर्थात् ईश्वरका ध्यान करना चाहिये ॥ २६ ॥ अब ध्यानों को कहते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरनि भ्रान्तिः
दर्शनलब्ध भूमि करवानवस्थितित्वानि चित्तविक्षे
पास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

मूल का पदार्थ—[व्याधिस्त्यान संशयप्रमादालस्य
विपरोत्तम्भार्तदर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि]
रोगादिशारीरक विधन, स्त्यान सुरती संशय, प्रमाद
आलस्य, [अविरति] व्यापार रहित होजाना [भ्रान्ति
दर्शन] मिथ्याज्ञान, अलब्धभूमि, अर्पात् योगाभ्यास
की विशेष भूमि का प्राप्त न होना [अनवाधितत्व]
ध्येयर्हश्वर में चित्त का स्थिर न होना [चित्ताविक्षेपाः]
चित्त के विक्षेप हैं [ते] वही [अन्तरायाः] योग के
विधन हैं ॥ ३० ॥

स० का भा०—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अवि-
रति, चान्तिदर्शन, आलब्ध भूमिकत्व, और अनवस्थितत्व, चित्त के
विक्षेप और योग में विधन हैं ॥ ३० ॥

पाठ्य——नवान्तरायाधित्तरपविक्षेपाः । सहैते चित्तशृति
र्भवन्येतेपामभावेन भवन्ति पूर्वोक्ताश्रिच्चवृत्तयः । व्याधिद्वातुरस
फरणवैपम्परस्त्यानंपकर्मण्यता नित्यस्य । संशय उभय कोडि-

सदृश् दिव्यानं स्यादिद में नैवं स्यादिति : प्रमादः समाधिसा-
धनानाय भावनम् । आलस्य कायस्य चित्तस्य गुरुत्वादप्रवृत्तिः
अविरतिश्चित्तस्य विषय सम्पर्यगात्मगद्धः । भान्तिदर्शनं
विपर्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमिरखापः । अनवसिथ-
तत्वं यल्लव्यायां भूपौचित्तस्याऽप्तिष्ठा समाधिप्रतिलम्भे हि सति-
तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमत्ता योग-
प्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यधिधीयन्ते ॥ ३० ॥

भाष्य का पदार्थ—जो विषय चित्त के विक्षेप होते हैं इन के न
होने से नहीं होते । व्याख्या उसे कहते हैं जो शरीरस्थ धातु और
रस के विगड़ने से शरीर में विकलता होती है, स्त्यान उस विषय को
कहते हैं जिसमें वित्त कर्मरङ्गित होने की इच्छा करता है संशय
उस ज्ञान को कहते हैं जो दोनों पक्षों को स्पर्श करे अर्थात् कभी
कहै यद्युठीक है कभी कहै दूसरा ठीक है, योग के साधन अर्थात्
उपायों को ब्रिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं, आलस्य उसे कहते
हैं जो शरीर वा चित्त के भारीपन से चेष्टा रहित हो जाना है अव-
रति उस दृष्टि को कहते हैं जिस में चित्त विषय के संसर्ग से
आत्मा को मोहित वा प्रलोभित कर देता है, विपरीत अर्थात् उल्ले-
षाम को भान्तिदर्शन कहते हैं अलब्धभूमिकत्व उसे कहते हैं कि
जिस से समाधि की भूमि की प्राप्ति नहीं होती, अनवसिथतत्व उसे
कहते हैं जिससे प्राप्त हुई भूमि में चित्तकी स्थिति नहीं होती समा-
धि के प्राप्त होने पर चित्त स्थिर होजाता है संख्या ने ह चित्त वि-
क्षेप योग के निवारण हैं अर्थात् योग के शक्ति यही योगान्तराय अ-
र्थात् योग के विषय कहलाते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—चित्त के विक्षेप स्वयम् योग के विषय नहीं हैं किन्तु
चित्तदृष्टियों के साथ भिलकर विषयकारक होते हैं और वृत्तियों के
अभाव में धारक नहीं हो सकते । विक्षेप ये हैं—व्याधि वह है जो
शरीर के धातु और रसादि के विगड़ने से शरीर में अस्वस्थता होती
है, स्त्यान वह है जिसमें चित्त चेष्टा रहित होजाता है, संशय उसे
कहते हैं जिसमें दो विषयों में भ्रम होता है कि यह करना उचित है

या घह करना उचित है, समाधि के साधनों के चिन्तन न करने को प्रमाद कहते हैं, आलस्य वह शहाता है कि जिसमें चित्त और शरीर भारीपत से चेष्टा रहित होने की इच्छा करता है, अधिरति घह है जिसने चित्तचिपय संखरणे शात्माको मोहितकरदेता है, भान्तिदर्शन विषयव्यय शान को कहते हैं, समाधिभूमि की शपामि वो अलब्धभूमिकर कहते हैं और अनवस्थितत्व उसे कहते हैं जिससे योगभूमि प्राप्त होने पर भी चित्त उसमें स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। इन्हीं चित्तचिक्षेयों को योगप्रतिपदा, योगान्तराय भी कहते हैं ॥ ३० ॥

भा० शू०—नवैते रजस्तमोश्लात् प्रवर्च्चमागाच्चित्तस्य दिव्येषा भवन्ति । तैरेकाग्रतादिरेखिभित्यात्तं चिकित्यन इत्यर्थः । तत्र व्याधिधर्मातुवैपन्नगनिमित्तौ ज्यरादिः । स्त्यानमफर्मण्यता चित्तस्य । उभयकांट्यात्मवनं क्षानं संशयो योग साध्यो न वेति । प्रमात्रोऽनवधानहास समाधिसाधने पूर्वोक्तात्मान्यम् । आलस्यं काथचित्तयोगुर्गुर्गत्वं योगविषये प्रदृश्यमाप्तहेतुः । अधिरतिचित्तस्य विषयसंप्रयोगःत्मागर्दः । भान्तिदर्शनं शुल्किकायां रजतविषयस्येयगतनम् । अलब्धभूमिकर्त्तं कुन्धितिनान्तरात् समाधिभूमेरनाभी इस्प्राप्तिः । अनवस्थितत्वं लवधायामपि भूमी चित्तस्य तप्राप्रतिष्ठा । तपते समाधेरेकाग्रताया यथा योगं प्रतिपद्त्वादन्नराया प्रत्युल्यन्ते ॥ ३० ॥ चित्त विक्षेपकारकागन्यानप्यन्तरान् प्रतिपादयितुमात् ।

भा० शू० क्रा गाप्त—रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग से उत्पन्न हुए ह चित्त चिक्षेय हैं, इन प्रकारता के विरोधियों में चित्त चिकित्सा हो जाता है, इन में से व्याधि वो काहती है जो धातुओं की धिपमता शर्थात् न्यूनता वा अधिकता से उत्पन्न होती है, डैसे उच्च आदिकर चित्तका प्रस्ता होजाना जो किसी कामके करने योग न रहे। योग सुझे लिद्दहोगा वा नहीं? ऐसे दो प्रकारके जानोंका धारण करना संशय कहाता है। सावधान न रहने को प्रमाद कहते हैं जैसे योग करने में उदासी दिलाना। शरीर और चित्त के भारी रहने को आलस्य कहते हैं। विषयों की मापि में जो लोम होता है उसे अधिरति कहते हैं। भान्ति दर्शन वह है जिस से सीप में चांची का शान होता है। किसी कारण से योग वंती भूमि को न पाना अलब्ध भूमिकर्त्त्व फहाता है, योग भूमि के प्राप्त होने पर भी चित्त के उस में स्थिर न रहने को

अनवस्थितत्व कहते हैं ये सब समाधि के बिरोधी हैं अतएव इन्हे विद्धन कहते हैं ॥ ३० ॥ चित्त को विगड़ने वाले और विद्धनों का भी वर्णन करते हैं ।

**दुःख दौर्मनस्यांग मेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेप
सहभुवः ॥ ३१ ॥**

मू० का पदार्थ—[दुःख दौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वास प्रश्वासाः] तीनों प्रकार के दुःख, दौर्मनस्य मनकाळो-मित होना, अंगमेजयत्व जो अंगों को कंपित करै श्वास वायु का इन्द्रियोंके द्वारा खींचना, प्रश्वास वायु का निकलाना [विक्षेपसहभुवः] विक्षेप के संग यह उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास, और प्रश्वास, विक्षेप चित्तवालों को होते हैं ॥ ३१ ॥

**दुःखमाध्यात्मिकमाधि भौतिकमाधि दैविकञ्च । येनाभिहताः
प्राणिनस्तदुपधाताय प्रयतन्तेतदुःखम् । दौर्मनस्यमिच्छाभिधाता-
च्चेतसः क्षोभः यदंगान्येनयति कम्पयतितदंगमेनयत्वम् । प्राणो
यद्वाहन्वायुमाचापति स श्वासः यत्कौष्ट्रूण् । वायुं निःसारयति
स प्रश्वासः एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्त चित्तस्थैर्तेभवन्ति समा-
हित चित्तस्थैरेनभवन्ति अथैतेविक्षेपाः समाधि प्रतिपक्षास्ताभ्या
मेवाभ्यासवैराग्याभ्यान्निरोद्धव्याः तत्राभ्यासस्य विषयमूप-
संहरनिनदमाह ॥ ३२ ॥**

मा० का प०—इन्द्रियां जिसमें पीड़ित हों जो मन और शरीरा-दि में रोग होते हैं जो दूसरे प्राणी अर्थात् व्याघ्र वा चौर आदि से होते हैं जो दैवकृत दुःख है जिससे से, पीड़ित हुए प्राणीसमुदाय उसके नाश करने को प्रयत्न करता है उस दुःख को ही (दौर्मनस्य कहते हैं, जो इच्छागंग होने से मन में क्षोभ अर्थात् अपसन्नता उत्पन्न

होती है जो शरीर के अंगों को कंपाता है वह अंगमेजयत्व कहाता है प्राणवायु जो वाहर की वायु को खोता है वह श्वास कहाजाता है जो उदर के वायु को वाहर निफालता है वह प्रश्वास वहाता है । (एते) ये विक्षेप विक्षेप के साथ उत्पन्न होते हैं । विक्षिप्त चित्त वाले को यह दोते हैं सावधान चित्त वाले को ये नहीं होते ॥३१॥

अब विचारना चाहिये ये विक्षेप योग के शत्रु हैं इनको अभ्यास और धैराय्य से रोकना वा निवृत्त घरना चाहिये उनमें से अभ्यास के विषय को धर्मन् फरते हुए अगला सूत्र कहते हैं ।

भागा०—दुःख तीन प्रकार के हैं—आच्युतिक, आधिभौनिक और आधिदैधिक । दुःख का सामान्य लक्षण यह है कि जिससे पीड़ित होकर प्राणी उसके नाश करने का प्रयत्न करता है उसे दुःख कहते हैं । दौर्मनस्य उसे फहते हैं कि जो इच्छायोग हानि से मनमें क्षोभ उत्पन्न होता है । ३ रा विक्षेप अंगमेजयत्व एं इसका लक्षण यह है कि जो अंगों को फंगावे उसको अंगमेजयत्व फहते हैं । ४ था श्वास, जिससे वाहर की वायु को खींचा जाता है उसे श्वास कहते हैं, ५ धा प्रश्वास जिससे उदरस्थ वायु को वाहर निकाला जाया है, यह विक्षेप विक्षिप्त अथोत् चञ्चल चित्त वालों को दोते हैं और सावधान चित्त वालों को नहीं होते ये विक्षेप योगके शत्रु हैं इसलिये इन्हें अभ्यास और धैराय्य से निरुद्ध फरना उचित है, अभ्यास का लक्षण अगले सूत्र में कहते हैं ॥ ३१ ॥

भो० चू०—कुतस्थिभित्तादुत्पन्नेषु विक्षेपेषु एते दुःखादयः प्रवर्त्तन्ते । तत्र दुःखे चित्तस्य राजसः परिणामो वाधनालक्षणः यद्याधात् प्राणिनस्तदुपचाताय प्रवर्त्तन्ते । दौर्मनस्यं धात्ताभ्यान्तरैः कार्यान्मनसो दौरथ्यम् । अद्मेजयत्वं सद्वर्द्धक्षीणो वेष्ट्युरासनमनः क्षेयर्थं स्य वाधकः । प्राणो यद्याद्य वायुमाचार्मितिश्वासः । यत् कौष्ठिग्यं वायुं निः श्वसिति स प्रश्वासः । एतपत्तेविक्षेपैः सद्य प्रवर्त्तमाना यथोदिताभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्भव्या इत्येषामुपदेशः ॥ ३१ ॥

सोपद्वयविक्षेपप्रतिवेधार्थमुपायाःतरमाद् ।

*** भो० चू० का भाष्य—किसी कारण से यदि विघ्न उत्पन्न होजाते हैं तो दुःखादि योगी को आ देते हैं, इनमें से दुःख यह यहाता है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है और माणियों को सताता है जिसके**

सताये हुए प्राणी उसके नाश का उद्योग करते हैं उसे दुःख कहते हैं। दौर्मनस्य उसे कहते हैं जिसमें धाय वा आभ्यन्तर कारणों से मन चञ्चल हो जाय अङ्गमेजशत्व घट है जिसमें सब अङ्ग कांपने लगें ऐसे आसन से भी मन स्थिर नहीं होता है वायु को जो बाहर निकाला जाता है उसे श्वास कहते हैं। प्रश्वास वायु के भीतर खाँचने को कहते हैं। ये सब विज्ञानों के साथ उत्पन्न होने वाली भूमिका है, प्रथम कहे हुए अभ्यास और चैरग्य से इनका नियोध करना चाहिये इस ही उपदेश के बास्ते सूचक.र ने इन्हें लिखा है ॥ ३२ ॥

उपद्रव सहित विज्ञानोंके निवारण का दूसरा उपाय लिखते हैं ।

तत्प्रतिपेधार्थमेकतत्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

पदार्थ—(तत्प्रतिपेधार्थम्) उसके दूर करनेको तत्त्वा भ्यासः एक तत्त्व का अभ्यास करे ॥ ३२ ॥

भावार्थ—उक्त विज्ञेय भूमियों की निवृत्ति के लिये एक तत्त्व अर्थात् एकाग्रचित्तता वा एक ईश्वरस्मरण का अभ्यास करे ॥ ३२ ॥

भाष्य—विज्ञे प्रतिपेधार्थमेकतत्वावलम्बनं चित्तपर्यमेत् यस्यतु प्रत्यर्थं नियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नारत्येव विज्ञिसम् । यदि शुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यै-कस्मिन्दर्थे समाधीयते तदाभवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् । योऽपि सद्वशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहविच्चस्य र्थम् स्तदैकं नास्ति प्रवाहविच्च क्षणिकत्वात् । अथ प्रवाहाशस्यैव प्रत्ययस्यधर्मः, सर्वाः सद्वशप्रत्ययप्रवाही वा विसद्वशप्रत्यय प्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विज्ञ-सूचितानुच्छिः तसपादेकमनेकार्थपवस्थितं चित्तमितिपपयदिच चित्तेनैकेनानन्विताःस्वभावभिन्नाः प्रत्ययाजायेरन्न कथमन्यप्रत्यय-दृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत् अन्यप्रत्ययोपचित्तस्य कर्मशयस्यान्यः प्रत्यय उपमोक्त भवेत् कथंचित् समाधीयमानमध्येतद्गोमय पाय सीय न्यायमान्विपति । किञ्च सत्रात्मामुपवापनहृषः विवक्तस्यान्यत्वे

प्राप्नोति कर्थं, यदहयद्राक्षं तत्सृष्टामि यच्चनोस्पाक्षं तत्पश्यामीत्य
हमिति प्रत्यन्तयः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्य भेदेनो
पस्थितः । एक प्रत्यय विषयोऽयमभेदात्माऽऽमिति प्रत्ययः
कथमप्यन्तमिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्र-
येतत् । स्वानुभवग्राहाश्चायप्रभेदात्माहमिति प्रत्ययः न च
प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते । प्रमा-
णान्तरं च प्रत्यक्षवलेनैव व्यवहारं लभते तस्पादेकमने
कार्थमवस्थितं च चित्तम् ॥ ३२ ॥ यस्यचित्तस्यान्
स्थितस्येदम् । शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ।

भाष्य का पदार्थ—चित्तविज्ञेप के निवृत करने को एक ही परमे-
शब्दरके तत्त्व अर्थात् ज्ञान के आश्रय के धारण और विचार में मग्नता
को चित्त से अभ्यास करे, और जिनका चित्त एक एक विषय
में नियुक्त रहता है केवल ज्ञानमात्र लक्षणिक चित्त है उसका सम्पूर्ण
ही चित्त एकाग्र नहीं है विज्ञिस ज्ञाहे हो परन्तु जब इस
विच्छिन्नों सब विषयोंसे हटाकर एक घ्येय में स्थिर किया जाता है ।
तब एकाग्र हो जाता है । इस कारण से एक २ विषय के लिये
चित्त नियंत नहीं है जो समाव ज्ञान के प्रवाह द्वारा चित्त को एकाग्र
मानता है उसके चित्त की एकाग्रता यदि प्रवाह चित्त का गुण है
तो चित्त एक नहीं हो सका प्रवाह रूप चित्त लक्षणिक होता है यदि
प्रवाहांशं ज्ञान ही का गुण है तो वह सम्पूर्ण प्रवाह समान ज्ञानके
प्रवाह बाला है या असमान ज्ञान प्रवाह बाला है ? प्रत्यर्थं नियंत
होने के कारण यदि एकाग्र है तो विज्ञिस चित्त सिद्ध नहीं हो सका ।
इस लिये एक ही अनेक विषयों में जो स्थित है वह चित्त है और
जो एक ही चित्त से सम्बन्ध रहित अर्थात् भिन्न स्वभावं के ज्ञात
होते हों तो किस प्रकार से और के देखे हुये पदार्थ का दूसरा स्मरण
करने बाला हो सका है दूसरे के द्वारा जो संग्रह किये गये कर्म
उनके फलों का दूसरा भोग करने बाला हो जायगा तो किसी प्रकार
से एकाग्र चित्त होने पर भी गोमयपायसी । यन्याय अर्थात् खीर
और गोबर की जनशुद्धि के अनुसार हो जायगा । जैसे किसी ने
हुता कि गाय से खीर बनती है और दुध से बनी खीर जाई भी

परन्तु पुनर्वार उसने गाय के गोवर को चावलों में मिला कर अग्नि में सिद्ध करके खाना आरम्भ का दिया । और अपने आत्मा के अनुभव में मिथ्यात्व वित्त की भिन्नता में प्राप्त होती है यदि कहते हैं कि भिन्न है तो जो मैंने देखा था उसे छूता हूँ और जिसे छुआ था उसे देखता हूँ इन स्थलों में जो 'मैं' का ज्ञान है वह कैसे अत्यन्त भिन्न विचारों में वर्तमान सामान्य रीति से एक ज्ञानी को आश्रय कर सकता है अपने अनुभव से ग्रहण करने योग्य यह एकही आत्मा 'आहम्' ज्ञान से जाना जाता है और न प्रत्यक्ष प्रमाण का माहात्म्य अर्थात् प्रबलता दूसरे प्रमाण से खंडित होती है और दूसरे अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण के आश्रय ही से सिद्ध होते हैं इस कारण से जो एक अनेक विषयों में अवस्थित अर्थात् अस्त हो (विषम्) उसे चित्त कहते हैं ।

भाग का भावार्थ—पूर्व सूत्र में कहे जो दुखादि विकैर उनके निवृत्त करने को एक अद्वितीय ईश्वर का विन्तन करै परन्तु विन्तन में वित्त एकाग्र होना चाहिये । यदि कोई कहै कि अनेक विषयों में भ्रमण करना वित्त का स्वाभाविक गुण है उसका एक ज्ञात वा अज्ञान विषय में स्थिर होना असम्भव है तो उसे पूछना चाहिये कि यदि भ्रमण वित्त का स्वाभाविक गुण है तो जब सब विषयों से स्वीच कर वित्त को एक विषय में लगाते हैं तब एकाग्र क्षयों हो जाता है ? एकाग्र होजाने से सिद्ध होता है कि वित्त प्रत्यर्थ नियत नहीं है, और ऐसा मानते हैं कि विषय प्रवाह में वित्त एकाग्र होता है अर्थात् एक ही विषयके अवान्तर भेदों में विस्तकी गति को एकाग्रता कहते हैं तो उनसे यह प्रश्न है कि वित्त क्या पदार्थ है ? यदि कहें कि विन्तन को वित्त कहते हैं तो विषय प्रवाह क्षणिक होने से भी क्षणिक हुवा और जो एकाग्रता प्रवाहांश का धर्म भाने तो वित्तवह सम्पूर्ण सदृश प्रत्यय प्रवाह है ? वा विसदृश प्रत्यय प्रवाह ? यदि इन सब प्रश्नों के उत्तर में यह कहें कि एकाग्रता ही वित्त का गुण है तो विकैर वित्त सिद्ध हो सका इस कारण से वित्त वह पदार्थ है कि जिस एक में क्षिति एकाग्रतादि अनेक गुण रहते हैं यदि कहें कि वित्त कोई पदार्थ नहीं है किन्तु स्वभाव से वित्त २ अनेक ज्ञान उत्पन्न हुवा करते हैं, तो हम कहते हैं कि अन्य

पुरुष के देखे हुवे पदार्थों फा अन्य पुरुष भोक्ता होजायें परन्तु ऐसा जगत् मे होना सूक्ष्मी क्रमके विरुद्ध है और यदि चित्त कोई पदार्थ न होता तो किसी प्रकार से साधधान होने पर भी गोमयपायसीय न्याय की कहा वत् होजायगी इसके अतिरिक्त आत्मा के होने में भी सन्देह होने लगेगा क्योंकि जो मैंने देखा था उसे हूँ तो हूँ जिसे लुधा था उसको देखता हूँ स्मरण का आधार कोई नहीं है अर्थात् जिस हानि से भिज पक पदार्थ अयश्य है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष प्रमाण को अन्य प्रमाणों से कोई खण्डन नहीं कर सकता किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार से अन्य प्रमाण भी सिद्ध होते हैं । इस हेतु से चित्त घट पदार्थ है जिस से अनेक विषयों का चिन्तन होता है वह उसही को अनेक विषयों से एटाकर एक ईश्वर या विषय में लगाने के लिये शारण का उपदेश है उसको विषयों से टूटाने का उपाय पदा है ? इसका उच्चर अगले सूत्र में लिखते हैं ॥ ३२ ॥

भो० य० तेषां विद्वेषाणां प्रनिषेधार्थं मेकस्मिन् फस्मिंश्चिद्भिमते तत्त्वेऽभ्यासश्चेत्सः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यः । यद्यत्तत् प्रत्युदिताया भेकाग्रतायां विद्वेषाः प्रणाशमुपरान्ति ॥ ३२ ॥

इदानीं विच्छसंस्कारा पादकरिकर्मकथनमुपायान्तरमाह ।

भोज वृत्ति फा भाष्य — उक्त विद्वानों को निधारण फरने के घास्ते किसी आपने प्यारे तत्व में अभ्यास करे अर्थात् चित्त धारम्यार एक ही तत्त्व ध्यान में लगाये रहे इस अभ्यास के बल से एकाग्रता के विषय नाश हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ अब चित्त के संस्कारों को उत्पन्न करने वाले उपाय कहते हैं ।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःखपुण्यविविषयाणां भावना तश्चित्प्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सू० का पदार्थ—(मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्) भीति, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की (सुखदुःखपुण्यविषयाणाम्) सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों में

(भावानतः धारणा से (चित्तप्रसादनम्) चित्त प्रसन्न होता है ॥ ३३ ॥

स० का.भा०—सुखी से प्रीति, दुःखी पर दया, पुण्यात्मा पर प्रसन्नता और पापी का त्याग करने से चित्त सावधान होता है ॥ ३३ ॥

भाष्य—तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापनेषु मैत्री भावयेत् । दुःखितेषु करुणां पुण्यात्मकेषु मुदिताम् । अपुण्यं शीलेषु पैचाम् । एवग्रस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । तश्च चित्तं प्रसीदति । प्रसन्नपेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ ३३ ॥

भाष्य का पदार्थ—उन में से वे सब प्राणीं जो सुख औ सम्पत्ति से युक्त हैं उन से मित्रता, दुखियों में दया, पुण्य अर्थात् सुकर्म करने वालों में प्रसन्नता, दुष्ट कर्म करने वालों में त्याग अर्थात् उन से दूर रहने की भावना करे इस प्रकार से मनुष्य के भावना करने से चित्त प्रसन्न हुआ एक ईश्वरमें हितनिको प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—सुख सम्भोगयुक्त प्राणियों में मैत्री, दुखियों पर दया पुण्यात्माओं में मुदिता और पापियों में उपेक्षा करने से शुद्ध धर्म की शास्ति होती है उस से चित्त प्रसन्न होकर चित्त एकाग्र तथा स्थिर हो जाता है ॥ ३३ ॥

भ०० दृ०—मैत्री सौदार्दम् । करुणा कृपा । मुदिता हर्षः । उपेक्षोदृ० सीन्यम् । एता यथाक्रमं सुखितेषु दुखितेषु पुण्यवत्सु अपुण्यवत्सु च विभावयेत् । तथाहि सुखितेषु साखुषु एष सुखित्वमिति मैत्रीं कुर्याद्य न तु ईर्ष्याम् । दुःखितेषु कथं तु नामेषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति कुणामेव कुर्यान्तु ताऽस्थिरम् । पुण्यवत्सु पुण्यात्मोदमेन हर्षं मेव कुर्यान्तु किमेते पुण्यवत्स्तु इति त्रिवेषम् । अपुण्यवत्सु चौदासीन्यमेव भावयेन नानुमोदनं नवा द्वेषम् । सत्रे सुख दुःखादिशब्दैस्तद्वन्तः प्रतिपादिताः । तदेवं मैत्र्यादि परिकर्मणां चित्तं प्रसीदति सुखेन समाधेराविभावो भवति । परिकर्म चैतत वाह्यं कर्म । यथा गणिते मिश्रकाण्डि व्यवहारो गणितनिष्पत्तये सङ्कलितादिकर्मणेषां पकारकत्वेन प्रधानकर्मनिष्पत्तये भवति । एवं द्वेषरागादिप्रतिपंचांशुतमैव्यादिभावनयों समुत्पादितप्रसादं चित्तं संप्रशान्तादिसम्प्रथियोग्यं सम्प्रदयते ।

रागहेप्रावेष्मुख्यतया चिह्नेपमुत्पाद यतः । तौ चेत् रामूतसुन्मूलिनौ
स्वातां तदा प्रसन्नत्वान्मनसो भवत्येकाग्रता ॥ ३३ ॥ उपायान्तरमाहा

भो० छ० का भाष्य—मैत्री=वन्धुमात्र, करुणा=पराया दुःख दूर
करने की इच्छा, मुद्रिता=प्रसन्नता, उपेक्षा=उदासीनता वा त्याग इन
संबंधों से शुद्ध साधुओं से प्रीति करे किन्तु ईर्ष्या न करे, दुःखियोंके
दुःख को देख कर हँसी न करे घरन उन के दुःख दूर करनेके उपाय
सोचे, पुण्यान्तमात्रों के पुण्य को देख कर प्रसन्नहो किन्तु दम्भ वश
होके उन से विरोध न करे, पापियों से उदासीन रहे शर्थात् उन के
कर्मों का श्रव्युमोदन भी न करे और न उन से विरोधही करे । सब
में जो सुख और दुःख आदि शब्द लिखे हैं उन से तदिशि
ए जीवों को समझना चाहिये । फलितार्थ यह हुआ कि मैत्री आदि
कर्मों से चित्त में प्रसन्नता होती है और चित्त के प्रसन्न रहने से
सुख शास्त्र होता है और सुख से समाधि लाभ होता है, यह कर्म
व्यविधि उपरी कर्म है जैसे गणित में गिर्ध और अमित्र वा सामान्य
व्यवहार (Compound) गणित के निर्णय फलने के बास्ते हैं और
यह जोड़ (Addition) आदि गणित की प्रधान क्रियाओं के उप
कारक होते हैं ऐसे ही रागहेप्रादि को शान्त करने वाले मैत्री आदि
कर्मों से चित्त शुद्ध प्रसन्नता का भागी होता है और उस से संप्र-
शात समाधि के योग्य घन जाता है । राग और द्वेष ही विद्वानों के
मुख्य उत्पन्न करने वाले हैं यदि घटी जड़ सहित नष्ट होजाय तो चि-
त्त प्रसन्न होने से एकाग्र होजाता है ॥ ३३ ॥ शंग दूसरा उपाय
कहते हैं—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

स० का पदार्थ—(वा) या (प्राणस्य) प्राण वायु
के [प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम्] वलपूर्वक बाहर निकाल
ने तथा पुनः खींचनेसे ॥ ३४ ॥

भा०—अथवा प्राण वायु को बलपूर्वक बाहर निकालने और पुनः
खींचने से अर्थात् प्राणायाम करने से चित्त एकाग्र होता है ॥ ३४ ॥

भाष्य—कौपुच्यस्य वायोर्नासिकापुराख्यां प्रयत्नविशेषावपनं

प्रच्छर्द्दनम्, विधारणं प्राणायामः तांभ्या वा मनसः स्थिता सम्पादयेत् ॥ ३४ ॥

भाष्य का पदार्थ—उद्दर में स्थित वायु को नाक के नथनों से अधिक प्रयत्न से बाहर निकालने को प्रच्छर्दन कहते हैं विशेष धारणा प्राण वायुको खींचकर निरोध करने को कहते हैं इन दोनों से मन की एकाग्रता प्राप्त करे ॥ ३४ ॥

भावार्थ—उद्दरस्थ प्राण वायु को नासिका के नथनों से प्रयत्न पूर्वक बाहर निकालने को प्रच्छर्दन और खींचने को विधारण कहते हैं इन दोनों से मनकी स्थिरता करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

भो० व० प्रच्छर्दनं कौप्यस्य धायोः प्रयत्नविशेषपानमोत्राप्रमाणेन चहिनिः सारणम् । विधारणं मात्राप्रमाणेनैव प्रत्येक्य वायोर्वहिर्गति विच्छेदः । स च द्वयां प्र नाराध गां वाह्य स्याभ्यन्तरापूर्खेन पूरितस्य धा तत्रैव निरोधेन । तदेवं रेचकपूरककुम्भक भेदेन चिविधः प्राणायाम विच्छस्य स्थितिमेकाग्रतायां निवधनाति । सर्वसामिन्द्रियवृक्षानां प्राणवृत्तिपूर्वकत्वात् । मनः प्राणयोश्च स्वव्यापारे परस्परभेदक्योगज्ञेमत्वाब्जीयमाणः प्राणः समस्तेन्द्रिय वृत्तिनिरोधद्वारेण विच्छस्यै काग्रतायां प्रभवति । समस्तदोषकारित्वव्याप्तिः स्याऽऽगमे शून्यते । दोषस्फृताश्च सर्वा विचेपवृत्तयः । अतो दोषनिर्हरणद्वारेणाप्यस्यै काग्रतायां सामर्थ्यम् ॥ ३४ ॥ इदानिमुपायान्तरप्रदर्शनोपक्षेपेण संप्रकातस्य समाधे पूर्वाङ्गं कथयति ।

भो० व० का भाष्य—प्रच्छर्दन का अर्थ है उद्दर स्थित वायु का विशेष यत्न से मात्राके अनुसार बाहिर निकाल देना मात्रा के अनुसार ही अर्थात् गुरु जितनी वायु को पेट से बाहर निकालने को बतावे उससे अधिक वायु को न निकालना, मात्रा के अनुसार ही प्राण वायु के बाहर रोकनेको विधारण कहते हैं । यहां इन दोनों अर्थात् प्रच्छर्दन और 'विधारण' में बाहरकी वायुको भीतर भरनेसे भीतर खींची हुई वायु को भीतर ही रोकने से, इस रीति से पूरक, रेचक, और कुम्भक तीन प्रकार के प्राणायाम होते हैं इन ही को करने से चित्त एकाग्र होता है । इन्द्रियों की जितनी वृत्ति है वह सब प्राण की गति के आधीन रहती है मन और प्राण

और मन की गति और व्यवहार परस्परपेसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं कि एक दूसरे के आधित हैं यस प्राणायाम द्वारा या जय प्राण की गति रुक जाती है तथ मन की गति और इन्द्रियों की सब शृंतियाँ रुक जाती हैं तथ चित्त एकाग्र हो जाता है, थेहों में प्र.णायाम को समस्त दोषों का नाशक लखा है और विक्षेप अर्थात् योग में विद्धन करने वाली सब शृंतियाँ दोष से उत्पन्न होती हैं, इस कारण दोषों को नाश करने के द्वारा भी प्राणायाम वित्त को एकाग्र करने में समर्थ है ॥ ३४ ॥ अब वित्त को ए हःग्र करने के और उपायों को वर्णन करना अर्थ समझ के संप्रवात समाधि के पूर्व अंग का वर्णन करते हैं

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिवन्धनी ॥ ३५ ॥

पदा०—(विषयवती) दिव्य विषय वाली (वृत्ति) प्रवृत्ति (उत्पन्ना) उत्पन्न होकर (मनसः) मन की (स्थितिनिवन्धनी) स्थिरता को स्थिर करती है ॥ ३५ ॥

आवा०—अथवा जब दिव्य विषय में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तब मन स्थिर होता है ॥ ३५ ॥

भाष्य०—नासिकाश्रे धारयतोःस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः जिहवाश्रे रसर्थनित् तालुनि रूपसंवित् जिहवाशये स्पर्शसंवित् जिहवामूले शब्दसंवित् दित्येता वृत्तय उत्पन्नाधित्तं स्थितीनिवन्धनित्, संशयं विधमन्ति, सपाधिप्रज्ञायाच्च द्वारी भवन्तीति । एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीश्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयत्पेत्र वेदितव्या । यद्यपि हि तत्त्वात्मा नुपानाचायोऽपदेशैरव-गतपर्थतत्त्वं सञ्चूतमेव भवती एतेषां यथा भूतार्थप्रतिपादनसामर्थ्यात् तथाऽपि यावदेकदेशोऽपि कथिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तात्र सर्वं परोचमिवापवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न द्वां बुद्धिमुक्ता

दयति । तस्याच्छ्राद्धानुमानाचार्यर्थेपदेशोपोद्गतनार्थमेवावैश्यङ्क-
श्रिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः । तत्र तदुपदिष्टार्थेकदेशमप्यक्षत्वे
सति सर्वं सूक्ष्मविषयमपि आपवगात् चक्षदीयते । एतदर्थमेवेदं
चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते । अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशो-
कार संज्ञायामुपग्रातायां समर्थस्या तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणां
यति । तथाच सति श्रद्धा वीर्यस्मृत्तिसमाधयोऽस्या प्रतिवन्धेन
भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

भा० का पुदा०—नासिका के अग्रभाग में धारण करने वाले
अनुरूप को जो दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है वह गन्ध की प्रवृत्ति है
जिहवा के अग्रभाग में रस का ज्ञान तालु में रूप का ज्ञान अर्थात्
दिव्य है, जिहवा के मध्य भाग में स्पर्श ज्ञान अर्थात् दिव्यत्वक्
जिहवा के सूल भाग अर्थात् जड़ में शब्द ज्ञान अर्थात् दिव्य शब्द
शक्ति वह सब प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त की स्थिति में युक्त
करती हैं संशय को दूर करती हैं और योगोपयोगिनीं बुद्धिके द्वारा
होती हैं इससे चन्द्रमा सूर्य तारागण दीपक और रत्न आदिकों में
प्रवृत्ति उत्पन्नहोकर अपने २ विषय को स्थिर करती हैं। इस प्रकार वे
प्रवृत्ति जाननी चाहिये यद्यपि प्रत्यक्ष शाखा, अनुमान और आचार्य के
उपदेश सेनिश्चय पूर्वक जाना गया अर्थों का तत्त्व सत्य ही होता है
इन सबका यथार्थ रूप से प्रति पादने योगशक्ति से होता है, तो भी
जन्मतक किसी विषय का एक अंश भी अपने नेत्रादि इन्द्रियों में
प्रत्यक्ष नहीं होता तबतक सम्पूर्ण परोक्ष के समान है, मोक्षादिकों
में दिव्य पदार्थों में तिक्ष्णयात्मक बुद्धि को उत्पन्न करता है। इस
लिये शास्त्र, अनुमान, आचार्यों के उपदेशके निष्ठ्य करने की जरूर
कोई विशेष उपाय प्रत्यक्ष करना चाहिये। सूक्ष्म विषयों में से शाखा,
अनुमान और आचार्य के उपदेश किये विषय के एक देश के प्रत्यक्ष
होने से लिम्पूर्ण दिव्य विषयों (मोक्ष पर्यन्त) पर विश्वास होजाता
है इसही प्रयोजन से चित्त का एकाग्र कारबा उपदेश किया जाता है
यदि चित्त इन्ति नियत न रहेगी अर्थात् चित्तिषु बुद्धि रहेगी तो
कुछ प्रत्यक्ष न होगा जब उन विषयाकां। वृत्तियौ द्वा निरोध हो-

लाना है तब सूक्ष्म विषय रों के प्रत्यक्ष करने को शक्ति होती है और जब द्विष्य विषय प्रत्यक्ष होते हैं अद्वा, उत्साह, सूक्ष्मति और समाधि होती है विच्च के निम्न न होने से थद्वादि नहीं होती है ॥ ३५ ॥

भावा का भावार्थ—नासिका के अग्र भाग में जो ध्यान करनेसे अनुष्ठान के द्विष्य गन्ध का धान होता है वह गन्धारी प्रवृत्ति है, जिह्वा के अधरगाम में रसका धान, तालु में रूप का धान अर्थात् द्विष्य दृष्टि, जिह्वाके मध्य में स्पर्श अर्थात् द्विष्य त्वक् जिह्वा की जड़ से शब्द धान अर्थात् द्विष्य ध्वण शक्ति, यह सब प्रवृत्ति उत्पन्न हो कर विच्च को स्थिति में युक्त करती है, संशयों को दूर करती है, योगोपयोगिनी बुद्धि का द्वार होता है, इस से चन्द्रमा सूर्य ग्रहणिआदि में प्रवृत्ति उत्पन्न होकर अपने अपने विषयों को स्थिर करनी है। यद्यपि शाख, अनुमान और गुणपदेश से इन सब का यथार्थ धान होता है व्योंकि अध्यात्मिकों में यथार्थ घोष की शक्ति है तथापि जिस का जब तक एक देश भी प्रत्यक्ष नहीं होता तब तक अत्यन्त सूक्ष्म मोक्षादि विषयों में दृढ़ बुद्धि नहीं उत्पन्न होती इस लिये शाख, अनुमान और गुरु के उपदेश को सत्य करने तथा उस में दृढ़ निष्ठय उत्पन्न करने के लिये कोई विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जब आचार्य के उपदेशादि में निश्चय हो जाता है तब अन्य मोक्षादि विषयों में भी अद्वा होती है इस ही लिये यह विच्च निरोध के उपाय कहे जाते हैं जब किसी विषय य धान का होना कुसार्थ है ॥ ३५ ॥

भ०० छ०—मनस इनि वावयशेषः । विषयाः गन्धरसरसरपरपर्षश्चाद्वास्ते विधन्ते फलत्वेन वस्त्वाः सा विषयवती प्रवृत्तिमनसः स्थैर्यं करन्ति । तथा हि नासाद्वे चित्तं धारयन् । द्विष्यगन्धसंविदुपजायते । तोटश्वैव जिह्वांगे रससंवित् । तालव्ये रूपसंवित् । जिह्वामध्ये स्पर्शं संवित् । जिह्वामूले शब्दसंवित् । नवेवं तत्त्वद्विष्यद्वरेण तस्मिन्नस्ति दिव्ये विषये जायमाना संविचित्स्यंकाग्रताया हेतुर्भवति अस्ति योगस्य फलमिनि योगिनः समाश्वासापादनात् ॥ ३५ ॥

पर्वतिधर्मेवोपायान्तरमाह ।

सोज छ० का भाष्य—सूत्र में मनसः (मने की) शब्द लगा देने से वाक्य पूरा हो जाता है। पर्वतिहृतों के विषय अर्थात् गन्ध, रस,

सर्वा और शब्द यह पांचों जिस में फल रूप से रहते हों (अर्थात् जिन वृत्तियों के यही फल हों), उसे विषयवती कहते हैं, यह विषयवती प्रवृत्ति भी मन को स्थिर करती है उसे नोक के अगले भाग में चित्त को स्थिर करने से दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है । वैसा ही जिब्हा के अग्रभाग में मन को लगाने से दिव्य रस का ज्ञान होता है तालु के अग्रभाग में रूप का ज्ञान । जिब्हा के मध्य भाग में रूपज्ञान और जिब्हा के मूल अर्थात् जड़ में चित्त को स्थिर करने से शब्द का ज्ञान होता है इस ही प्रकार से जिस तत्त्व को ग्रಹण करने वाली जो इन्द्रिय है उसमें चित्त को स्थिर करने से उसही विषय का दिव्य ज्ञान उत्पन्न होता है । और वही ज्ञान चित्त की प्रकारता का कारण हो जाता है उक्त दिव्य ज्ञानों के होने से योगी को, यद्यनिष्ठ्य हो जाता है कि योग से अवश्य फल प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ ऐसा ही और उपाय कहा है ।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

सू० का पदार्थ—(वा) या (विशोका) शोक रहित ज्योतिष्मती प्रकाश युक्त अथवा ज्ञानयुक्त ३६
भावार्थ—अथवा जब शोक रहित युक्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है तब मन स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

भाष्य—प्रवृत्तिरूपना मनसः स्थितिनिष्ठनीतित्य-
मुवर्त्तते । हृदय पुण्डरी के धारयतो या बुद्धिसत्त्वं बुद्धिसत्त्वं हि
भास्त्रसाकाशकल्पं, तत्रस्थितिवैशारद्यात् पवृत्तिः सूर्यन्दुग्रह-
मणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते । तथास्मितायाँ समाप्तं
विच्छिन्नस्तरङ्गपोदधि कल्पं सान्त मन्त्रन्त मस्मितायात्रं वचति-
यत्रोदमुक्तम् । ‘तमणुमात्र मातर्मान मनुष्यास्मीति एवं तावत्
समजानीते’ इति येषद्योर्विशोका विषयवती अस्मितायात्रा च
वृत्तिः योतिष्मतीत्युच्यते यदा योगिनश्चिं दिव्यतिपद्मलभते
इति ॥ ३६ ॥

सू० का पदार्थ—उत्पन्न हुई प्रवृत्ति मनको स्थिर करने वाली

होती है यह वाक्य पूर्व सूत्र से इस सूत्र में आता है । हृदय कमल में धारण अर्थात् ध्यान करने वाले का जो निश्चयात्मक ज्ञान अर्थात् सुखद्रवः खादि का ज्ञान होता है उस में शुद्धि की सत्ता प्रकाश युक्त आकाश के समान विस्तृत होती है उस हृदय कमल में उत्साह युक्त सूक्ष्म प्रवृत्ति सूर्य चन्द्रमा ग्रहण और मणिके प्रकाश रूप आकार में बदल जाती है । जब अस्मिता में चित्त स्थिर हो जाता है तंत्रं ग रहित समुद्र के समान उपाधि रहित ज्ञानन्तं ज्ञानयुक्त स्वच्छ अपने रूप में विचारशील होता है वै जिस अवस्था में यह कहा जाता है कि उस परमाणु के समान आत्मा को मैं जानता हूँ अर्थात् परमेश्वर के वर्थार्थ ज्ञान को प्राप्त हुआ हूँ । इस प्रकार से तब ऐसा ईश्वर को जानता है यह दो प्रकार की विशेषका शोक रहित और विषयधनी लक्ष्यमें परिनिष्ठा अस्मितामात्र अर्थात् जिसमें जीव अपने घास्तविक रूपको जाने और ईश्वरके वर्थार्थ ज्ञानको प्राप्त हो जाय वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कही जाती है जिस से योगी का चित्त स्थिर भाव को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

भा० भावार्थ—हृदयकमल अर्थात् हृदयाकाश में जब प्राणधारण की जाती है तब योगी को निश्चयात्मप्रकाश के ज्ञान की प्राप्ति होती है । शुद्धि अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान प्रकाशयुक्त और आकाश के समान विस्तृत होता है उसमें स्थिर दृष्टि से सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और मणियों के प्रकाश के समान जाग्वलयमान ज्ञान प्राप्त होता है तब चित्त अस्मिता में अर्थात् अपने रूप ज्ञान में स्थिर होता है और उस की दर्शा इस दशा में तरंगरहित महासागर के समान शान्त और निश्चल होती है तब जीव यह समझता है कि मैंने उस सूक्ष्मतेऽपरमात्मा को अब जाना है और अपने सूक्ष्मप्रकाश को भी समझा है इस प्रवृत्ति को ज्योतिष्मती कहते हैं ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से योगी का चित्त स्थिर होता है ॥ ३६ ॥

भो० व०—प्रवृत्तिस्तप्नना चित्तस्य स्थितिनिवन्धनीति वाक्यशेषः । ज्योतिः शब्देन सात्त्विकः प्रकाश उच्यते । स प्रशस्तो भूत्यान तिशयबांश्च विद्यते यस्या सा ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः । विशेषकां विगतः सुखमप्रसुख्याऽपासवशाङ्को रजःपरिणामो यस्यः सा विशेषका

* इस योग की अस्मिताकुण कहते हैं ।

चेतसः स्थितिनिवन्धिनी । अयमर्थः हृदपश्चासम्पुटमध्ये प्रशान्तकल्लोल
क्षीरोदधिप्रब्ल्यं चित्तसत्त्वं भावयतः प्रकालोकात् सर्ववृत्तिपरिक्षये
चेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते ॥ ३६ ॥ उपायान्तरप्रदर्शनद्वारेण सम्प्रहात-
समाधेविषयं दर्शयति ।

भो० वृ० का भाष्य—सूत्र में प्रवृत्ति उत्पन्न हुई चित्त को स्थिर
करती है इतने शब्द और लगानेसे बाब्य पूरा होता है । ज्योति शब्द
से सात्त्विक प्रकाश कहा है वह सात्त्विक प्रकाश जिस में अत्यन्त
अधिक हो उसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं । विशेषका का अर्थ यह
है कि सुख मय योगाभ्यास से दूर होगया है शोक जिस से येस्ती
प्रवृत्ति जब उत्पन्न होती है तब चित्त को स्थिर कर देती है । अभि
प्राय यह है कि हृदयकमल के बीच में प्रशान्त महासागर के समान
चित्त विचारयुक्त एवं प्रकाशमय जब होता है तब सब वृत्तियाँ जय
हो जाती हैं और उस से चित्त स्थिर हो जाता है ॥ ३६ ॥ चित्त को
स्थिरता का दूसरा उपाय दिखाने के बहुने छं संज्ञात समाधिका
विषय दिखाते हैं ।

वीतराग विषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

पदार्थ—(वीतराग विषयम्) रागादि विषय से
शून्य (वा) या (स्वत्तम्) चित्त ।

भावार्थ—अथवा जय चित्त राग से मुक्त हो जाता है, तथ वह
मनकी स्थिरता का हेतु होता है ।

भाष्य—वीतरागचिन्तालम्बनोपरक्तं वायोगिनश्चित् स्थिति
पदंलभत इति ॥ ३७ ॥

भा० का पदार्थ—वीतराग योगी का लालम्बन से उपरक्तचित्त
स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

भा० का भावार्थ—वीतराग योगी का आलम्बनसे उपरक्त चित्त
स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

भो० वृ०—मनसः स्थिति निवन्धनं भवतीतिशेषाः । वीतरागः
परित्यक्त विषयाभिलापस्तस्ययिच्चर्तं परिहतक्लेशं तदालम्बनीकृतं
चेतसः स्थिति हेतुमं इति ॥ ३७ ॥ एवं विवरणायान्तर माह ।

भोज वृ० भावार्थ—विषयों का अभिलाप जिसने त्याग दिया है ऐसे धीतरोग का कलेशरहित जो चित्त उसका लोलम्बन करने से भी चित्त स्थिर होता है ॥ ३७॥ इसी प्रकार का अन्य उपाय कहते हैं—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

पदा०—[वा] वा (स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनम्) स्वप्न के समान अथवा निद्रा के समान ज्ञान के आश्रय से ॥ ३८ ॥

भावा०—अथवा जैसे स्वप्नायस्था और सुषुप्ति (गाह निद्रा) में जागृत अवस्था विषयका ज्ञान और इन्द्रिय चालचल्य नष्ट होजाता है ऐसे ही शानके आधय से जब योगी की वाहाशृणि नष्ट होजाती है तब चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

भाष्य०—स्वप्नायस्था निद्राज्ञानालम्बनम् क्षि वा-
तदाकारं योगिनवित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

भा० का पदा०—स्वप्न के समान ज्ञान के आधय से अथवा अवस्था के ज्ञान के समान होने से योगी का चित्त स्थिरता प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥

भावा०—स्वप्नायस्था के ज्ञान के समान ज्ञान में मरन होने और सुषुप्ति अवस्था के ज्ञान के समान ज्ञान में मरन होने से योगियों का चित्त स्थिर होता है ॥ ३८ ॥

भो० वृ०—प्रत्यस्तमिन्द्राहुनिद्र्यवृत्तेर्भनोमाग्रेणैव । यत्र मोक्ष-
स्वमात्मनः स स्वप्नः । निद्रा पूर्वोक्तलक्षणा । तदालम्बनम् स्वप्नालम्ब-
ननिद्रालम्बनं वा ज्ञानमालम्बयमानं चेतसः स्थिरति करोति ॥ ३९ ॥
नानारूचित्वात् प्राणिना यस्मिन् कस्मिन्विद्यस्तुभि योगिनः अर्थां
भवति तस्य ध्यानेनापीष्टसिद्धिरिति प्रतिपादयितुमाद ॥ ३९ ॥

* द्वन्द्वान्तेश्रयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्धयते ।

भौ० वृ० का भा०—जिस में, इन्द्रियों की प्रचुरतियाँ अस्त हो जाय और केवल मन से ही आत्मा, जिस में विषयों का योग करे उसे स्वप्न कहते हैं, निद्रा का लक्षण पहिले कह चुके हैं इन दोनों के आलम्बन में जो शान होता है उस शानसे भी मनकी स्थिरता होती है ॥ ३८ ॥ पाणियों की रुचि अनेक प्रकार की होती है इस से जिस किसी वस्तु में योगी की अख्ता हो सकती है उस के ध्यान से भी इष्टसिद्धि हो गी है इस का वर्णन अगले सूत्र में किया है ॥ ३९ ॥

यथाभिमतध्यानादा ॥ ३९ ॥

मू० का पदा०—[वा] अथवा [यथाभिमतध्यानात्] इच्छा के अनुकूल किसी सुखपद विषय के ध्यान से ॥ ३९ ॥

भा० का पदा०—अथवा किसी ऐसी वस्तु के ध्यान से जो योगी की इच्छा के अनुकूल हो, चित्त स्थिर होता है ॥ ३९ ॥

भा० का पदा०—यदेवाभिपत्तं * तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्धस्थिति कमन्यत्रापि स्थितिपदं लभते ॥ ३९ ॥

भा० का पदा०—(जो इच्छा के अनुकूल हो उस ही का ध्यान करे उससे स्थिर होने से दूसरे स्थल में भी स्थिरभाव को प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

भा० का भा०—अपनी इच्छाकुसार चुने हुवे किसी एक विषय के ध्यान से भव स्थिर होता है ॥ ३९ ॥

भोज धृति—यथाभिमत वस्तुनि वाह्ये चन्द्राद्रत्याभ्यन्तरे ताढ़ी चक्राद्वै वा भाव्यमन्ते चेतः स्थिरीभूवति ॥ ३९ ॥

एवमुपायान्प्रदर्श्य फलदर्शनायाह—

भौ० भा०—किसी इच्छित वस्तु के जैसे वाह्य चन्द्रादिक और आभ्यन्तरिक नाडीचक्रादिके ध्यान करनेसे भी चित्त स्थिर होता है ॥

चित्त के स्थिर करनेके उपायों का वर्णन करते हैं—

* वक्ष्यमाणकोटिद्वये ।

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

सू० का पदा०—(परमाणुपरममहत्वान्तः) परमाणु से लेकर महा स्थूल पदार्थों तक (अस्य) मनके (चशोकारः) वश करने का स्थान है ॥ ४० ॥

सू० का भा०—मनके वश करने के लिये परमाणु से महा स्थूल एवं तक जो शिव हैं उसी के द्वारा मनको स्थिर करे ॥ ३५ ॥

भा०—सू॒चैनिविशयानस्य परमाणवन्तं स्थितिपद्मल पन् इति । स्थूले निविशयानस्य परमप्रत्यान्तं स्थितिपद्मचित्तस्य । एवन्तामुभयोँकोटिमनुषाक्षतो योऽस्यामतीषातः सप्तो वशीकारः तदृशीकारात् परिपूर्णं योगिनविच्च न पुनरभ्यासकृतं परि कर्मपेत्तन इति ॥ ४० ॥ अथ लब्धप्रियतिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा ममापञ्चिरिति तदृच्यते ।

भा० का पदा०—सू॒चै प्रदर्थमें चिन्तन फरलेसे प्रविष्ट हुये का अपृथक परमाणुत का स्थिरीभाव होता है स्थूल विषयके चिन्तनमें प्रविष्ट हुये चित्त का परम स्थूल महत्त्व पर्यन्त स्थिरता का पद है । चिंता का इस प्रकार से उक दोनों कोटि अर्थात् सू॒चै और स्थूल कोटिको अनुसरण करने वाले दोनों पथ पर चलने से जो दोकना है वह परम वशीकरण है उस वशीकरण योगीका चित्त फिरघरम्बार अनुष्ठान कृत फर्म की अपेक्षा नहीं रखता है । आव यद प्रश्न होता है कि स्थिर हुये चित्त की किस प्रकार की एवं किस विषय की स्थिरति वा धारणा होती है । यह अगले सू॒चै में फहते हैं ॥ ४० ॥

भा० का भा०—जंगात् में दो प्रकार के प्रदर्थ हैं एक सू॒चै दूसरे स्थूल योगी को उचित है कि दोनों में से किसी कोटि को धारण करे अर्थात् जब सू॒चै कोटि में चित्तको लगावेगा तब सू॒चै से सू॒चै परमाणु का चिन्तन करने से उस से भी सू॒चैतर ईश्वर में चित्त स्थिरता को प्राप्त होगा और ऐसे ही स्थूल पदार्थ के चिन्तन से आकाश आदि महास्थूल पदार्थों के चिन्तन के अनन्तर उनसे भी स्थूल परमेश्वर में स्थिरति को प्राप्त हो जायगा उपनिषदमें

भी लिखा है 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' चित्त जो दोनों कोटियों की ओर दौड़ता है उसको पक कोटि में लंगाने को बंस करना कहते हैं, जब योगी का चित्त पक कोटि में स्थिर होजाता है तब उसे दूसरे उपायों की अपेक्षा नहीं रहती ॥ ४० ॥

भोज० वृ०—एभि रूपायै विष्टस्य स्थैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्म-विषय भावना द्वारेण परमाणुवन्तो घशीकारोऽप्रतिधातरूपो जायते । न क्वचित्परमा पर्यन्ते सूक्ष्मे विषयेऽस्य मनः प्रतिहन्यत इत्यर्थः । परं स्थूलमाकाशादि परम महत्पर्यन्तं भावयतो न क्वचिष्वेतस प्रतिधात उत्पन्नंते । सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

एवमेभि रूपायै संस्कृतस्य चेतसः की दग्धर्पं भवतीत्याह—
भोज० वृ०-८८—उपायोंसे दिक्षकी स्थिरताका यन्त्र करतेहुवे योगीके सूक्ष्म विषय की भावना से परमाणु पर्यन्त घश में होजाते हैं । कह भी योगी के मनकी गति नहीं रुकती । ऐसे ही आकाश आदि स्थूल विषयों में भी इसके मनकी गति अव्याहत होजाती है, अर्थात् सर्वत्र इसको स्वातन्त्र्य प्राप्त होजाता है ॥ ४० ॥

इन उपायों से चित्त के स्थिर होजाने पर उसका कैसा रूप होत है? इसका वर्णन अगले चूथ में किया है—

**क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेऽर्हीतृप्रहणग्राह्येषु
तत्स्थितदंजनतासमापत्तिः ४१ ॥**

सू० का पदार्थ-(क्षीणवृत्ते) क्षीण होगई हैं वृत्ति यां जिसकी (अभिजातस्य) स्फटिक (मणेरिच) मणिके समान (अहतिप्रहणग्राह्येषु) प्रहण करने वाले प्रहण करने के साथन और प्रहण करने योग्य पदार्थ में (तत्स्थितदंजनतासमापत्तिः) स्थिर होने से उसकी समानता प्रतीत होने लगती है ॥ ४१ ॥

सू० का भावार्थ—जिसकी वृत्ति क्षीण होजाती है उसके चित्त की प्रतीति ऐसी रहती है जैसी स्फटिकमणि की अर्थात् स्फटिकमणि

जैसे स्वयं स्वरूप है परन्तु यह समीपस्थ पदार्थ के रूप का प्रतीत होने लगता है ऐसे ही योगी का चित्त स्वयं स्वरूप होता है परन्तु शृणिसंशेग से यह तदाकार प्रतीत होने लगता है ॥ ४२ ॥

भाष्य—क्षीणवृत्तरिति प्रत्यस्तमितपत्प्रयस्येत्यर्थः । अपि-
जातस्येव मणेरिति हष्टान्तोपादानश्च यथा स्फटिक उपाध्रयभे-
दात् तत्तद्वौरक्त उपाध्रयस्त्वपाकारेण निर्भासिते । तथा ग्राहण-
लंबनोपरक्तं विच्छ ग्राह संमापनं ग्राहारूपाकारेण निर्भासिते ।
भूतसूच्योपरक्तं भूतसूच्यसप्तमापन्नं भूतसूच्यस्त्वरूपाभासं भवति
तथा स्थूलालंबनोपरक्तं स्थूलस्त्वप्तमापन्नं स्थूलारूपाभासं भवति
तथा निश्चयेदोपरक्तं निश्चयेऽसप्तमं विश्वरूपाभासं भवति ।
तथा ग्रहणेद्वयीन्द्रियोपयि द्रष्टव्यश्च । ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रह-
णसप्तमापन्नं ग्रहणस्त्वरूपाकारेण निर्भासिते तथा ग्रहीरुपरूपा
लम्बनोपरक्तं ग्रहीरुपसप्तमापन्नं ग्रहीरुपरूप स्त्वरूपाकारेण
निर्भासिते तथा मृक्तपुरुपालम्बनोपरक्तं मृक्तपुरुपसप्तमापन्नं मृक्त-
पुरुपस्त्वरूपाकारेण निर्भासत इति । तदेवप्यभिजातविणिकन्पस्य
चेतसो ग्रहीरुपग्रहणग्राहेषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु पातत्स्य तदंजनता
तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा सप्तमापत्तिरित्युच्यते ॥ ४३ ॥

भाषा का पदार्थ—क्षीणवृत्तिं याले की अर्थात् जिसके विकल्पादि
भिष्याकान अस्ति हो गये हैं सूत्र में जो “अभिजातस्येव भये:” यह
लिखा है सो हष्टान्त का अङ्ग किया है । जैसे स्फटिक पत्पर समी-
प मेर एकबीं हुई वस्तु के रूप याला समीपस्थ आध्रय के रूपके समान
ही भान होता है ऐसे ही चित्त जिस विषय को ग्रहण करता है ग्राह
विषय के रूप याला भान होता है जिसका चित्त सूहम भूतों में लगत
होता है सूहम भूतों में लय हो जाने से सूहम भूतों के स्वरूप के
समान ही ही जाता है ऐसे ही जिस योगी का चित्त स्थूल वस्तुओं
में लगत होता है वह स्थूल में मग्न होने के कारण स्थूल स्वरूप का
ही ध्याता होता है ऐसे ही विश्वरूप के चिन्तन में लगा हुआ
नन विश्वकर्पकर हो जाता है । ग्रहण करने में जो सहायता

इन्द्रियां हैं उन में भी संलग्न होने से उनके रूपरूप में भाव होता है ऐसे ही ग्रहण करने वाले पुरुष में उपरक होने से अद्वैत पुरुष के आकार का भाव होता है तैसे ही सुक पुरुष में चित्त के लगाने से सुक पुरुषाकारही चित्त हो जाता है इस रीति से स्फटिक मणि के समान चित्त की गृहीता, ग्रहण और ग्राहा स्थिति और समीपता है, वही तदाकारापत्ति का कारण है, विषयों में उसे समाप्ति कहते हैं ॥ ४१ ॥

भा० का भा० — जिसके चित्तकी वृत्ति ऊस्त होगई है उस का चित्त-रफटिक मणि के समान ग्राहा ग्रहण गृहीतभाव को धारण करता है उसे समाप्ति कहते हैं तापर्य यह है कि जैसे रफटिक मणि जिस घस्तु के समीप रक्खा जाता है उस ही के रूप को धारण कर लेता है ऐसे ही चित्त भी जिस चिपय में संलग्न होता है वैसा ही प्रतीत होने लगता है परम् तदाकारापत्ति को समाप्ति कहते हैं ॥ ४२ ॥

भ० व० ज्ञाना घृतयो यस्य सः ज्ञाणवृत्तिं तस्य ग्रहीतग्रहणग्राहोषु आत्मेन्द्रियविषयेषु तत्स्थवदञ्जनता समाप्तिर्भवति । तत्स्थव तचैकाग्रता । तदञ्जनता तन्मयत्वं, न्यभ्रूते चित्ते विषयस्य भाव्यमानस्यैवोद्युक्तं कर्षः । तथाविद्या समापत्तिः, तदूपः परिणामो भवतीत्यर्थः । इष्टान्तमाह—अभिजातस्येव मणेण्यथाऽभिजातरथं निर्भलस्फटीकमणेहुतच्छदर्पाद्यिवशात्तचद्रूपापत्तिः एवं निर्भलस्य चित्तस्य तचद्रूपाभावनीयवस्तु परागाद्यतद्रूपापत्तिः । यद्यपिग्रहीतत्रग्रहणग्राह्योषु इत्युक्तं तथापि श्रमिकः क्रमवशात् आहा ग्रहणग्रहीतपु इति वोद्यम् । यतःप्रथमं ग्राहननिष्ठ एवं समाधिः ततो ग्रहणनिष्ठः ततोऽस्मितामात्ररूपो ग्रहीतुनिष्ठः, केवलस्य पुरुषस्य गृहीतभाव्यत्वासमवात् । ततश्च स्थूलं सूक्ष्मग्राह्योपरकं चित्तं तत्र समाप्तं भवति । एवं ग्रहणेग्रहीतरि च समाप्तन्तं च वद्यम् ॥ ४३ ॥ इदानीभुक्ताया परम् समाप्तते आच्चुर्विद्यमाद् ।

भ० व० का भा० — जिसकी वृत्ति ज्ञान होगई है उसे ज्ञानवृत्ति कहते हैं उस ज्ञानवृत्ति का ग्रहीता (ग्रहण करने वाला) ग्रहण (ग्रहण करने का साधन) और ग्राहा (ग्रहण करने योग्य) आत्मा, इन्द्रिय और विषयों में तत्त्व तदञ्जनता समाप्ति अर्थात् समाप्ति

होती है तत्स्य का अर्थ है उसही में चित्त का एकाग्र होजाना, तदञ्जनता का अर्थ तन्मय होता है ज्ञाणशृणि वाले चित्तमें विचार-शीय विषय की ही उल्लेष्टता रहती है और वैसे ही समाप्ति अर्थात् उस ही प्रकार का परिणाम वा परिवर्तन होता है, इष्टान्त भी कहते हैं जैसे शुद्ध निर्मल स्फटिक मणिका समीपवर्ती वस्तु के समान ही रूप हो जाता है ऐसे ही निर्मल चित्त का विचारणीय वस्तु के अनु-सार रूप बदल जाता है यद्यपि ग्रहीता, ग्रहण और आण इस कल्प से सूत्र में लिखा है तो भी प्रह्लाद, ग्रहण और ग्रहीता ऐसा लिखना उचित है क्योंकि प्रथम आण विषय में समाधि होती है, फिर ग्रहण में और पश्चात् अस्मिता रूप ग्रहीता में समाधि होती है क्योंकि केवल ग्रहीता आत्मा में विचार वा समाधि नहीं होती है तब स्थूल सूक्ष्म आण के संसर्गसे चित्ततद्रूप होता है ऐसे ग्रहण और ग्रहीताके संसर्ग में भी समझना चाहिये ॥ ४१ ॥ आगे उक समाविके छ मेदां का घर्णन करते हैं ।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का- समाप्तिः ॥ ४२ ॥

सू० का पदार्थ—(तत्र) उस में (शब्दार्थज्ञानवि-
कल्पैः) शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से (संकीर्णा)
अर्थात् समिक्षा (सवि तर्का समाप्तिः) वितर्क
सहित समाप्ति होती है ॥ ४२ ॥

सूत्र का भावार्थ—शब्द अर्थ और पाठनके विकल्प द्वारा समाप्ति
सङ्कीर्णा और सवितर्क के होती है ॥ ४२ ॥

भाष्य—तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानभित्प-
विभागेन विभक्ता नायपि ग्रहणं वृष्टम् विभज्यमानाश्वान्ये शब्द-
धर्मां अन्यर्थधर्मां अन्ये विज्ञानधर्मां इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः
तत्र समापनस्य योगिनोः यो गतार्थ्यः समाधिप्रज्ञायां सपारु-
दः सुचेच्छशब्दार्थज्ञानविकल्पानुविज्ञ उपार्वत्ते सा सङ्कीर्णा स-

मापत्तिः सवितर्केत्युच्यते । यदा युनः शब्दसङ्केतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्प शून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणा-वस्थितार्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते । साच निर्वितकीं समापत्तिः । तत्परम् प्रत्यक्षम् । तच्च श्रुतानुमानयोर्वीर्जम् । ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः । न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तदर्थनम् । तस्मादसङ्कीर्णे प्रमाणन्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजम् दर्शनमिति ॥ ४२ ॥ निर्वितकीयाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं घोष्यते ।

भा० का पदा०—वह समापत्ति जैसे गौ यह शब्द, गौ यह अर्थ और गौ यह ज्ञान इन तीनों की एकता रहती है पृथक् २ भी अहण देखा गया है विभाग किये शब्द के गुण भिन्न होते हैं, अर्थ के गुण भिन्न होते हैं विज्ञान के धर्म पृथक् होते हैं यह इनका पृथक् किया गया मार्ग है । उसमें प्रविष्ट हुये योगी को जो गौ आदि शब्दों का अर्थ स्थिर बुद्धि अर्थात् समाधिस्थ बुद्धि में बैठा हुआ है यदि वह शब्दज्ञान विकल्पयुक्त रहता है वह सीमावद्ध समापत्ति सवितर्क कहलाती है । जब फिर शब्दके संकेत अर्थात् कलिपत अर्थों की स्मृति शुद्ध होनेसे सुनेहुए अनुमान कियेहुए ज्ञान और विकल्प से रहित अथधा श्रुत और अनुभित पदार्थ ज्ञान के विकल्पसे शून्य समाधिस्थ बुद्धि में केवल अपने स्वरूप से अर्थात् अन्य से संग रहित होकर अर्थ रहता है अपने स्वरूप के ही आकार से अवच्छिन्न वा ज्ञान रहता है वह निर्वितर्क समापत्ति वा समाधि कहलाता है वह परम प्रत्यक्ष और वह अवण और अनुमान किये हुए का कारण है उससे अवण और अनुमान उत्पन्न होते हैं नकि अवण और अनुमान ज्ञान के साथ उसका दर्शन होता है, इस कारण से सीमारहित दूसरे प्रमाण से योगी को निर्वितर्क समाधि में प्राप्त हुआ दर्शन होता है ॥ ४२ ॥

भा० का भाषार्थ—जैसे गौ शब्द, गौ शब्द का अर्थ और गौ शब्द का ज्ञान यह तीनों कहीं एक रूप से रहते हैं और कहीं पृथक् पृथक् रहते हैं, जब योगी इनकी भिन्नता के मार्ग को अनुसरण करता है अर्थात् योगी की समाधिस्थ बुद्धि में जब तक यह तीनों भिन्न भिन्न होते हैं तब तक उस की समाधि का नाम सवितर्क समापत्ति रहता

है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस समापत्ति में वितर्क घनी रहती है वह सवितर्क समापत्ति प्राप्त होती है और जब समाधिस्थ शुद्धि में अर्थ मात्र का भान रह जाता है तब निर्वितर्क समापत्ति होनी है यह निर्वितर्क समापत्ति परम प्रत्यक्ष है अर्थात् शुद्ध और अनुभिग सर्व अर्थ इस ही में प्रत्यक्ष होते हैं, यदी थदण और अनुभान का देतु है । इसलिये सीमारहित निर्वितर्क समापत्ति में दूसरे प्रमाण यी अपेक्षा नहीं रहती है सवितर्क समापत्ति का लक्षण कहा फर अगले सूत्र में निर्वितर्क समापत्ति पना लक्षण कहते हैं ॥ ४२ ॥

भो० य० श्व० श्वेतेन्द्रियग्राहा: स्फोटक्षयो धा शब्दः । अभ्ये जात्यादिः । इन सत्त्वप्रधान सुदिन्द्रियस्ति । विकल्प उक्तलक्षणः । क्ते: संश्योर्णा यस्यामेते शब्दाश्यख्यः परस्पराख्यासेन विकल्पस्त्रोणु प्रतिभासने गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरितिदान मित्यनेनाकारेण सा सघित कर्ता समापत्तिरच्यते ॥ ४२ ॥ उक्त लक्षणविपरीत निर्वितर्कमात्

भो० य० पा० भा०—कान हन्त्रिय से प्रहरण करने योग्य इफोट (अक्षरों की विशेष योजना) रूप शब्द है जैसे गौ, आधे जाति को कहते हैं जैसे गौ शब्द का अर्थ गोत्या धर्माचार्यक्षम जानि है, इन सत्त्वप्रधान सुद्धि वी शृति जैसे गौ शब्द का दान साक्षात्कालंगुलं घाली च्यति । विषलग का लक्षण पहिले कह लुकं है यह सब संश्योर्ण अर्थात् परस्पर मिले रहें जिस समाधि से उसे सवितर्क समाधि कहते हैं ॥ ४२ ॥ सवितर्क समाधि के लक्षण से विवर निर्वितर्क समाधि का लक्षण अगले सूत्र में कहा है ।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थपमात्रनिर्भासा
निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

सू० का पदार्थ-(स्मृतिपरिशुद्धौ) स्वच्छ स्मृति होने पर (स्वरूपशून्येवार्थपमात्रनिर्भासा) स्वरूप शून्य के समान भान होने वाली समापत्ति (निर्वितर्का) निर्वितर्क कहलाती है ॥ ४३ ॥

सू० का भावार०—स्मृति के शुद्ध होजाने पर जिसमें अर्थ सरु रहित के समान भाव होता है यह निर्वितर्क समापत्ति है ॥ ४३ ॥

भाष्य—या शब्दसंकेतशु तानुमानज्ञानवि कल्पस्मृतिपरि-
शुद्धौ ग्रन्थस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञास्वमित्र प्रज्ञारूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा
पदार्थं मात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापनेव भवति सा तदा निर्वितर्का
समापत्तिः । तथाच व्याख्यातम् तस्य एक दुदध्युपक्रमो हर्थात्मा-
ज्ञानुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घद्विर्द्वालोकः । सच संस्थानविशेष-
पो भैरु सूक्ष्माणो साधारणो धर्म आत्मभूतः फलेनव्यक्तेना-
क्तुमितः स्वयञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति । धर्मान्तरस्य कपालादेश्येभ
तिरोभवति स एष धर्मोवियवीत्युच्यते योऽसावेकरन्व महांश्चाणी-
याश्च स्पर्शवाश्च क्रियाधर्मकर्त्त्वानित्पश्च तेनाद्यविना व्यवहारः
क्रियते यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः । सूक्ष्मच्च कारणमनु-
पल भ्यन्तस्यावयव्य भाशादत्तवद्रूपमतिष्ठ मिथ्याज्ञानमिति प्राये-
ण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति तदा च सम्यकज्ञान मपि किं
स्मात् विषयाभावात् यद्यदुपलभ्यते तच्चद्वयविल्वेना अम्नातम्
तस्मादस्त्यवयवी या मद्दत्तादिव्यवहारपन्नः समाप्तेनिर्वित-
र्काया विषयी भवति ॥ ४३ ॥

भा० का पदार्थ—जो शब्द सङ्केत=नियत किया आर्थ, सुनाहुआ
अनुमान, विकल्प और स्मृतिकी शुद्धता होनेपर प्राण पदार्थ के रूपमें
प्रतीत होने वाली छुड़ि अपने आप विज्ञान स्वरूप अहशुण के साधन
रूप को त्याग कर पदार्थ के रूप को प्राप्त हुई आहा “अहशुण करने
योग्य” पदार्थ के स्वरूप में परिणाम हुई के समान होती है वह निर्वितर्क
समापत्ति है ऐसे ही कही है उसके निमित्त स्थिर छुड़ि का
उपकाम अर्थात् वानपूर्वक आरक्ष अथवा उपाय आर्थ परमाणु समूह
गौ आदि वा घट आदि संसार है और वह लोक आकार विशेष है
सूक्ष्म तत्त्वों का सामान्य गुण उनसे अभिन्न है फल के प्रत्यक्ष होने
से अपना अनुमित अर्थ प्रगट होता है तद्विन्न धर्म छिप जाता है
यह गुण अवयवी कहलाता है यह धर्म एकलाही वहुत बड़ा अणु से
भी सूक्ष्म और स्पर्शवाला कियायुक्त और अनित्य कहलाता है उस
अवयवी से व्यवहार किया जाता है । जिसका कारण सूक्ष्म है वह

समूह विशेष सूक्ष्म हैं और उल्का कारण प्राप्त होना भी दुरस्थान्य है पर्योकि वह निःवयव द्वेता है इसलिये उसकी । स्वरूपस्थिति नहीं स्वरूप स्थिति के अभाव से मिथ्यादान हुआ इस प्रकार से संसारान्तर्गत प्रायः सब पदार्थ मिथ्या हुये तब यथार्थपात्र का कौत विषय होगा अथवा विषय के अभाव से यथार्थपात्र नहीं हो सकता पर्योकि प्रेय पदार्थ के अभाव से जो जो मिलता है वह सब रूपवत्ता से विद्युत अवयवी है अर्थात् पदार्थ मात्र अवयवी है इसलिये उसे रूपवत्ता महत्त्वादि व्यवहार करने योग्य निर्विकल्प समापत्ति का विषय होता है ॥ ४३ ॥

भा० का भावार्थ—जो समापत्ति, शब्दसंकेत श्रुतशान और अनुभाव, शान, विकल्प प्राप्ति के स्वरूप में भाव होने भाली शर्तात् अपने अहणात्मक रूप को त्याग करके निर्वितर्क समापत्ति में ग्राहयाकार भाव होने लगती है यह सब शुक्रि का विकार है परन्तु आत्मा शब्दादि को त्याग कर केवल अर्थ में आकृह हो जाता है जैसे गयादि अध्याघ घट आदि केवल रूपान्तर है सूक्ष्म तत्त्वों के धर्म स्वयमें एक समान हैं क भी फिसी भूत का और फिसी भूत के धर्म का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता रहता है । यदि कहें कि यह धर्म अवयवी है उस में स्थिर होने से निर्वितर्क समापत्ति नहीं हो सकती, पर्योकि यह एक ही धर्म अणु से सूक्ष्म और महास्थूल स्पर्शवान् क्रियावान् और अनित्य है उस अवयवी से व्यवहार किया जाता है, तो हम कह सकते हैं कि जो अव स्तु-अर्थात् अभाव है वह अतद्वरूप प्रतिष्ठ है और मिथ्या है अध उसका विचार भी मिथ्या हुआ पर्योकि उस कास का कोई विषय नहीं है और जो ध्येय पदार्थ दृश्य हैं वेस्तु अवयवीहैं इसलिये स्थूल पदार्थ भी निर्वितर्क समापत्ति के विषय हैं ॥ ४३ ॥

भा० च०—शब्दार्थसमृतिप्रविलये सति प्रत्युदितस्पृष्टग्राहाकार-प्रतिभासितया न्यग्रन्थानांशुत्येन स्वरूपशृत्येव निर्वितर्क समापत्तिः ॥ ४३ ॥ भेदान्तरं प्रतिपादयितुमाह ।

भो० च० का भा०—शब्द अर्थ और समृति के लिये हो जाने पर ग्राहाकार जब वृच्छि हो जाती है, विषुटिका पृथक् रान नष्ट होजाने से स्वरूप शृत्य के समान जो समाधि होती है उसे निर्वितर्क समाधि कहते ॥ ४३ ॥ अगले सूत्र में दूसरा उपाय कहा गया है ।

अथ वह तके पदार्थों पर दृश्य है ।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

सू० का पदार्थ—(एतया) इससे एव) ही (सविचारा) विचारासहित (निर्विचार) विचाररहित (सूक्ष्मविषया) सूक्ष्म विषय वालीं समापत्ति (व्याख्याता) अर्णित की गई ॥ ४४ ॥

स० का भावार्थ—सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति के वर्णन करने से ही सविचार, निर्विचार स्थूलविषय, और सूक्ष्मविषय समापत्तियों का विषय भी समझना उचित है ॥ ४४ ॥

भाष्य—तत्र भूतसूक्ष्मकेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिषिद्धानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते । तत्रात्येकबुद्धिनिर्गाहामेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालांवनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठुते । या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताध्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते । एवं स्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्मे तेनैव स्वरूपेणाऽलंवनीभूतमेव समाधिप्रज्ञा स्वरूपमूपरंजयनि प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते । तत्रगद्वस्तु विषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मविषया सविचारा निर्विचारा च एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्पहानिर्दर्यारूपातेति ॥ ४४ ॥

भा० का प०—प्रकट हैं धर्मजिनके उन सूक्ष्मभूतों में जो देशकाल, निमित्त और अनुभव से संयुक्त हैं उन में अथवा जिनका देशकाल निमित्त से अनुभव किया जाता है उनमें जो समाधि होती है वह सविचार कहाती है उस सविचार समाधि में भी निश्चल बुद्धि के द्वारा अद्वैत करने वोग्य प्रत्यक्ष धर्मयुक्त सूक्ष्म भूत बुद्धि का आश्रय सविचार समाधिस्थ बुद्धि में प्राप्त होता है और जो (सर्वथा)

स्वयं प्रकार के सब और से प्रत्यक्ष दृश्यपदेश्य अर्थात् सुख्य धर्मधाले पदार्थों में सर्व धर्म आर्थात् गुणों से रहित और सब गुण युक्त जो पदार्थ हैं उनमें जो समाधि है वह निर्धिचार कहाती है (पवम्) इस प्रकार के ही उक्त लक्षण वाले भूत सूक्ष्म हैं । इससे यह सिख दुश्मा कि जो सूक्ष्म के आश्रय से समाधि होती है वह सवितर्क समाधि प्रका के सूक्ष्म पर अपना प्रभाव डालती है । जो समाधि बुद्धिसूक्ष्मपश्चात्य अर्थमात्र नष्ट होती है तब निर्धिचार कहाती है अथवा दूसरा लक्षण इनका यह है स्थूलाश्रयवान्ती समाधि सवितर्क पद्यं निर्धितर्क भी तथा सूक्ष्माधार वाली सविचार पद्यं निर्धिचार भी कहलाती है । इन दोनों में इस ही निर्धितर्क समाधि से विश्वलय की हानि कहीं गई है ॥ ४४ ॥

भा० का भा० सूक्ष्म भूतों के आश्रय देश काल और निभित्त से क्षंयुक्त जो समाधि होती है उसे सविचार और जो सर्व प्रकार से शान्त गुण वाले ईश्वर के आश्रय से समाधि की जाती है वह निर्धिचार कहाती है अथवा जो किसी आलम्य से समाधि होती है वह सविचार और जो आलम्यन को त्वाग कर अर्थमात्र के विन्तन से समाधि होती है वह निर्धिचार कहाती है अथवा स्थूलविषय वाली सविचार और सूक्ष्मविषय वाली निर्धिचार कही जाती है, इस प्रकारसे जिस में संकल्प का नाश होजाय वह निर्धिकल्प समाधि कहलाती है ॥ ४४ ॥

भो० व०—एतत्यैव सवितर्कया निर्धितर्कया च समाप्त्या सविचारा निर्धिचारा च च्यापल्याता कीरणी सूक्ष्मविषय सूक्ष्मस्तन्मात्रेन्द्रियादिविषयो यस्याः सा तथोक्ता । एतेन पूर्व्यस्याः स्थूलविषयत्वं । प्रतिपादितं भवति । साहि मदाभूत लम्बनाशनार्थं विषयत्वेन शब्दार्थविकल्पसहितत्वेन देशकालधर्मादिविद्विभ्रः सूक्ष्मोऽर्थः प्रतिभातियस्यां सासविचारा । देशकालधर्मादिरहितो धर्मिमात्रतयसूक्ष्मर्थस्तन्मात्रेन्द्रियरूपः प्रतिभातियस्यां सा निर्धिचारा ॥ ४४ ॥ अस्या एव सूक्ष्मविषयायाः किं पर्यन्तः सूक्ष्मविषय इत्याद ।

भो० व० का भा०—इस ही सवितर्क और निर्धितर्क समाधि के घर्णन से सविचार और निर्धिचार समाधि का घर्णन भी हो गया अर्थात् सूक्ष्मस्तन्मात्रा (पञ्चतन्मोही के सूक्ष्म गुण) विचारणीय विषय

हों जिसके वह निर्विचार और स्थूल पञ्चभूत विचारणीय विषय हों जिसके वह सविचार समाधि है, सविचार समाधि महाभूत, और द्वादशेन्द्रियों के अर्थ से शब्द, अर्थ और ज्ञान की पृथक्कूना में अर्थ और विकल्प के सहित देशकाल और काल के धर्म सहित सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान हो जिसमें वह सविचार समाधि है और देश काल के गुणों से रहित तत्वों के सूक्ष्म गुण और सूक्ष्मतन्मात्रा ही जिनमें भान हों उसको निर्विचार समाप्ति कहते हैं ॥ ४४ ॥ इस निर्विचार समाप्ति के विषय की अधिकारी कहां तक सूक्ष्म है इसका वर्णन अगले सूच्र में किया गया है ।

सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सू० का ५०—(सूक्ष्मविषयत्वम्) सूक्ष्म विषयता (च) और ('अलिङ्गपर्यवसानम्) चिन्ह रहित पर्यन्त है ॥ ४५ ॥

सू० का पदार्थ—सूक्ष्म विषय की अधिकारी अलिङ्ग पर्यन्त है ॥ ४४ ॥

५० भाव—पार्थिवस्याणार्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः आप्यस्य रसतन्मात्रम् । तैजसस्य रूपतन्मात्रम् । वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम् । आकाशस्य शब्दतरमात्रमिति । तेपामहंकारः अस्यापि लिंगमात्रं सूक्ष्मो विषयः लिंगमात्रस्याप्यलिंगं सूक्ष्मो विषयः न चालिंगाग्रपरं सूक्ष्ममस्ति नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति सत्यम् यथा लिंगात्परमलिंगस्य सौक्ष्म्यं चैवं पुरुपस्य किन्तु लिंगस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति इत्यस्तु भवतीति अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

भाष्य का पदार्थ—पृथिवी के अणुका गन्ध सूक्ष्म विषय है जल के परमाणु का रस अग्नि के परमाणु का रूप धायु के परमाणु का स्पर्श आकाश का शब्द है, इन्हीं को भूतों की तन्मात्रा कहते हैं इन तन्मात्राओं का लिङ्ग अहंकार है इस का भी चिन्ह मात्र सूक्ष्म विषय है चिन्ह मात्र का सूक्ष्म विषय अलिङ्ग कहाता है अलिङ्गसे अधिककोई सूक्ष्म नहीं है यदि कहो कि पुरुष उससे सूक्ष्म है

लो सत्त्र है जैसे लिंग से परे अलिंग का सूक्ष्म भाव है ऐसे पुरुष का नहीं है किन्तु लिंग का समवीर्य कारण पुरुष नहीं है हेतु है प्रधान में (सौकृत्यम्) सूक्ष्मता अतिशय से रद्द कही है अर्थात् उस से सूक्ष्म कोई नहीं है ॥ ४५ ॥

भा० का भा०—पृथिवी आदि पञ्च भूत से उन के आणुकम हैं और अणु से भी गन्धादि तन्मात्रा एवम् उन से भी उनका आहङ्कार और अहङ्कार से भी चिन्ह मात्र से भी अलिंग सूक्ष्म है और अलिंग से सद्वम कोई पदार्थ नहीं यदि कहो कि पुरुष है तो पुरुष है जैसे, चिन्ह मात्र से अलिंग सूक्ष्म है वैसा नहीं है पुरुष लिंग का अन्यीय कारण नहीं है किन्तु हेतु है, अतएव पुरुष से अतिशय सूक्ष्म कोई और है ऐसा नहीं कहा जाता है ॥ ४५ ॥

भा० घ० सविचारनिर्विचारयोऽसूक्ष्मविषयत्वं
शुक्रम तदलिंगपर्यवसानं न विविल्लयते न वा किञ्चित् लिंगति गम-
यतित्यलिंग प्रधानं तत्पर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वम् । तथाहि गुणाना परि-
णामे चत्वारि पर्याणि विशिष्टलिंगमणिशिष्टलिंगं लिंगमात्रमलिंगं
चेति । विशिष्ट लिंगं भूतानि, अविशिष्टलिंगं तन्मात्रेन्दियाणि
लिंगमात्रं शुद्धिः, अलिंगं प्रधानमिति । नातः परं सूक्ष्मस्ती-
त्युक्तं भवति ॥ ४५ ॥ पतेषां समाप्तीतां प्रहृते प्रयोजनमाह ।

भाज० घ० का भा०...सविचार और निर्विचार समाप्तियों के जो विषय वर्णन किये उन विषयों की जो सूक्ष्मता कही है वह अलिंग तक सूक्ष्मता है अर्थात् सूक्ष्मता की अवधि घटाँ तक है कि जिसे अलिंग या प्रधान कहते हैं । लिंग न किसी में लय होता है और न किसी में जाके मिलता है । गुणों के हेर फेर में छ भेद है; एक विशिष्टलिंग, दूसरा अविशिष्टलिंग, तीसरा लिंगमात्र और चौथा अलिंग । विशिष्ट स्थूलभूत और इन्द्रियाँ हैं अविशिष्ट लिंग तन्मात्रा और अन्तःकरण है, लिंग मात्र शुद्धि है । अलिंग प्रधान है, इस अलिंग से सूक्ष्मतम कोई वस्तु नहीं है ॥ ४५ ॥ इन सबस मामतियों का योग साधन में जो प्रयोजन है उसे छागले सूत्र में कहा है ।

ता एव सवीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

सू० का पदार्थ—(ताएव) वोही (सबीजस्समाधि
बीज संहित समाधि) ॥ ४६ ॥

सत्र का भोधार्थ—वो ही ४ प्रकार की समाधि सबीज समाधि
कहाती है ॥ ४६ ॥

भा० भाष्य—तात्त्वतत्त्वः समापत्तयोः विहितस्तु वीजाइति
समाधिरपि सबीजः तत्र स्थूलर्थे सवित्कर्त्त निर्वित्कर्त्त सूक्ष्मपेतर्थे
सवित्तनां रो निर्विचार इति चतुर्थो पैसंख्यातः समाधिरिति ॥ ४६ ॥

भा० का पदार्थ—वे चारों समाधियां वहिं चतुर्थीज समाधि
कहलाती हैं उन में स्थूल अर्थ में सवित्कर्त्त और निर्वित्कर्त्त सूक्ष्म
अर्थ में सविचार और निर्विचार वे ४ प्रकार की समाधि कही गई
हैं ॥ ४६ ॥

भा० का भावा०—आगे कही ४ प्रकार की समाधि बीज संहित कहाती है उनमें स्थूल अर्थ में सवित्कर्त्त और सूक्ष्म अर्थ में सविचार निर्विचार वे ही ४ समाधि सबीज कहाती हैं ॥ ४६ ॥

भ० व०—ता प्लोक्लद्याः समापत्तयः सह वीजेनालंड्ड्वेनेन
घर्त्तते इति सबीजः सम्प्रज्ञातः समाधिरित्युच्यते, सर्वासा सालम्ब-
नत्वात् ॥ ४६ ॥ अथेतदासां समा पत्तीनां निर्विचारफलत्वात् निर्विचारायाः फलसाह—

भ० व० का भा० वहीः सवित्कर्त्त निर्वित्कर्त्त सविचार और
निर्विचार समापत्ति ही सबीज समाधि कहाती हैं क्योंकि यह सब
समापत्ति दिना अलम्ब के नहीं होती है ॥ ४६ ॥ अब दूसरी समा-
पत्तियों का फल निर्विचार समापत्ति के अधीन होने से निर्विचार समापत्ति का फल अगले सत्र में कहते हैं ।

निर्विचार वैशारदे अध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

सू० का पदार्थ—(निर्विचारवैशारदे) निर्विचार
समाधि के विशारद भाव में (अध्यात्मप्रसादः)
आध्यात्मिक प्रसाद होता है ॥ ४७ ॥

सूक्त का भा०-योगी जब निर्विचार समाधिस्थ होता है तब उसे आगे कहा हुआ अध्यात्मप्रसाद होता है ॥ ४७ ॥

‘यो० भा० अशुद्धयावरेणमलापेतस्य प्रकाशात्पनो बुद्धि-
सत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतःस्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्
थदा निर्विचारस्य संपाठेवैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो
भवित्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थं विषयः क्रमाननुरोधि स्फुट-
प्रज्ञालोकः । तथा चोक्तम् प्रज्ञा प्रसादमारुद्धा अशोक्यः शोचतो
जनान । भूमिष्टानिवो शैलस्थः सर्वान प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ ४७ ॥

भा० का पदार्थ—अशुद्धतारूप द्वावरण के मल से छुटे हुए अकाशरूप बुद्धि सत्त्व को रज और तमोगुण से जो जीता न गया हो स्वच्छ स्थित का प्रवाह वैशारद्य कहाता है जब निर्विचार समाधि का ये पूर्वोक्त वैशारद्य वा निपुणता होती है तब योगी को भूतार्थ विषय का अनवरोधी साक्षात् बुद्धि के प्रकाश से युक्त अध्यात्म प्रसाद होता है । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—बुद्धि की आटार पर वैष्ट कर शोक रहित शोकयुक्त जीवों को पहाड़ पर चढ़े जैसे भूमि में स्थित पुरुषों को सब को बुद्धिमान् देखता है ॥ ४७ ॥

भा० का भावार्थ—अशुद्धिरूप ढकने के मल से रहित प्रकाशरूप, रजोगुण और तमोगुण के दान से शून्य, स्वच्छ स्थितिप्रवाह को वैशारद्य कहते हैं जब निर्विचार समाधि से उक्त वैशारद्य होता है तब योगी को आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है अर्थात् तब सब भूतों को क्रम के अनुकूल जानने की बुद्धि का प्रकाश होता है जैसा अन्यत्र भी लिखा है प्रज्ञाप्रसाद को प्राप्त शोकरहित होकर जैसे पहाड़ पर चढ़ा हुआ मनुष्य सब भूमि में स्थितपुरुषों को देखता है वैसे सोचते हुए जीवों को योगी देखता है ॥ ४७ ॥

भा० ब०—निर्विचारतमं व्याख्यातम् । वैशारदा नैर्मल्यम् सवितकर्म स्थूलविषयामपेद्य निर्वितकर्मयाः प्रधात्यम् । ततोऽपि निर्विकल्पलप्याया निर्विचारायाः । तस्यास्तु निर्विचारायोः ग्रहषाभ्यासावशारद्वैशारद्ये नैर्मल्ये सत्यध्या-

स्मप्रसादः समुपजायते । विच्चं क्लेशधासनारहितं स्थितिप्रवाहयोग्यं
भवति । पतदेव चित्तस्य वैशारद्यं यत् स्थितौ दाढ्यम् ॥ ४७ ॥
तस्मिन् सति किं भवतीत्याह ।

भो० वृ० का भा०—निर्विच्चार का वर्णन हो चुका विशारदता था
वैशारद्य का अर्थ निर्मलता है स्थूल विषय वाली सचित्क समापत्ति
की अपेक्षा निर्विच्चार का प्रधानता है, उस से भी सूक्ष्म
विषय वाली सचिच्चार समापत्ति प्रधान है, और उस से निर्विच्चार
समापत्ति प्रधान था उसम है उस निर्विकल्प समापत्ति के अभ्यास
से निर्मलता प्राप्त होने पर अध्यायात्मप्रसाद उत्पन्न होता है अर्थात्
तब चित्त क्लेशों की वासना से रहित स्थिर होने के योग्य होता है
और चित्त की यही निर्मलता है कि जो स्थिति में वृद्ध भाव को प्राप्त
हो जाय ॥ ४७ ॥ आध्यात्मप्रसाद से कथा लाभ है, उसका अगले सूत्र
में वर्णन किया है ।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

सू० का पदार्थ—(ऋतम्भरा) ऋतम्भरा (तत्र)
उसमें (प्रज्ञा) बुद्धि ॥ ४८ ॥

सू० का भावार्थ—(उस समाधि में जो बुद्धि होती है उसे
ऋतम्भरा कहते हैं ॥ ४८ ॥

व्या० भा० तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋ-
तम्भरेति संज्ञा भवति अन्वर्थीच सा, सत्यमेवविभर्ति न च तत्र
विषयर्सज्जानगन्धोऽप्यस्तीति तथा चोक्तम्—आगमेनानुमानेन
ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते ज्ञान-
योगमृतमध् ॥ ४८ ॥

भाव्य का पदार्थ—उस में स्थिरचित्त को जो बुद्धि उत्पन्न होती
है उस की ऋतम्भरा संज्ञा है यथार्थानामनी वह सत्य ही को संग्रह
करती है उसमें विषयरीत ज्ञानकी गन्ध भी नहीं होती येका ही अन्यत्र
भी कहा है वेदवचन से अनुमान से और ध्यान के रस से वे प्रकार
बुद्धि की रचना करके उच्चमज्जान को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

भावा का भावार्थ—उस निर्विचार समाधि से स्थिरचित्त की जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे ऋतम्भरा कहते हैं अर्थात् घट (ऋत) सत्य ही को संप्रग्रह करती है उस के होने में विपरीत ज्ञान की गन्ध मात्र भी नहीं रहती जैसे अन्यज्ञ भी लिखा है “शिष्ट वचन से, अनु मान से और ध्यान के अभ्यास के रस से ३ प्रकार की बुद्धि रचना करता हुआ योगी उत्तम ज्ञान को प्राप्त होता है” ॥ ४८ ॥

भो० ४०—ऋतं सत्य विभर्ति कदाचिद्दधि न विपर्ययेणाऽच्छाद्यते सर्तम्भरा प्रकातस्मिन्स्ति भवतीत्यर्थः । तत्त्वमाच्च प्रकालोकात् सर्वं यथावत् पश्यन् योगी प्रकृष्टं योगं प्राप्नोति ॥ ४८ ॥ अस्याः प्रकान्तराद्वैलक्षण्यमाह ।

भो० ४० का भा०—उस अध्यात्मप्रसार के प्राप्त होने पर बुद्धि सत्य से पूर्ण हो जाती है किर बुद्धि किसी विपर्यय ज्ञान से आच्छादित नहीं होती, उस बुद्धिके प्रकाश में योगी सबको यथावत् रूपसे देखता हुआ योग को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥ उस ऋतम्भरा प्रक्षा की विलक्षणता अगले सूत्र में कही गई है ।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् ॥४८॥

सू० का पदा० (श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्) जो बुद्धि अवण और अनुमान से है उसे (अन्यविषय) भिन्न विषय वाली बुद्धि (विशेषार्थत्वात्) विशेषार्थ अर्थात् समाधि विषयिणी होती है ॥ ४८ ॥

सूत्र का भावार्थ—समाधिज बुद्धि श्रुत और अनुमित बुद्धि से विलक्षण होती है ॥ ४८ ॥

श्रुतमायमविज्ञानम् तत् सामान्यविप्रम् न [शागमेन शक्य विशेषाऽभिधातुं कस्मात्, न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति । तथानुपानं समान्यविप्रमेवा । यत्र प्राप्तिसंतत्र गतिः यत्राप्राप्तिः तत्र न भवति गतिरित्युक्तम् । अनुमानेन च सानान्येनोपसंहारः । तस्मात् श्रुतानुमानविषयो न विशेषः कथिदस्तिनो ।

चास्य सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनों लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणम्-
स्ति । न चास्य विशेष स्याप्रभाणिकस्याभावोऽस्तीति समाधिस
प्रज्ञानिग्राह्य एव सविशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुष गतो
वा तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थता
दिति ॥ ४६ ॥ समाधिप्रज्ञाप्रतिलभ्ये योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्का-
रो नवो नवो जायते ।

‘सब्र का पदार्थ—जो श्रवण विद्या हुआ हुआ शब्द ज्ञान है वह
सामान्यविषय है शब्द प्रमाण से विशेष ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि
विशेष से शब्द का संकेत नहीं किया गया है । तैसे ही अनुमान भी
समानक विषय का ही वोधक हैं जिस में प्राप्ति होती है उसमें प्रवृत्ति
होती है जिस में कुछ प्राप्ति नहीं होती उस में प्रवृत्ति नहीं होती यह
पूर्व ही कहा है । और अनुमान से देशका सामान्य ज्ञान होता है अर्थात्
अनुमान से पूर्ण और यथार्थ ज्ञान नहीं होता इस हेतु से श्रुत वि-
षय और अनुभित विषय कुछ विशेष नहीं है और न जो वस्तु अत्यन्त
सूक्ष्म है वा किसी दूसरी वस्तु की आड़ में है और जो अत्यन्त दूर
स्थित वस्तु है इन का यथार्थ ज्ञान लौकिक प्रत्यक्ष से प्रतीत होसका
है न हस विशेष वस्तुका जिसमें कि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है आभावही है
किन्तु वह समाधिनिष्ठ बुद्धिसे ग्रहण करनेयोग्य है वह विशेष सूक्ष्म
तत्त्वों के मध्य में हो धा पुरुष में हो इसलिये शब्द प्रमाण जन्य बुद्धि
और अनुमान बुद्धि से भिन्न ही वह बुद्धि है क्योंकि वह विशेष को
सिद्ध करने वाली है ॥ ४६ ॥ समाधि बुद्धि के प्राप्त होने से योगी के
बुद्धिद्वारा उत्पन्न हुए नये २ संस्कार होते हैं ।

भाव का भावाव—जो सुन कर शब्द प्रमाण से ज्ञान होता है
वह समान्य विषय है क्योंकि शब्द से सङ्केतों का ज्ञान होता है पर
संकेतित पदार्थ के प्रत्येक शुण और कर्मर्दित का ज्ञान नहीं हो
सकता ऐसे ही अनुमान भी सामान्य विषय है अर्थात् अनुमान प्रमा-
ण से किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता क्योंकि अनुमान वस्तु
के एक देश को देख कर किया जाता है जैसे धूम को देखकर अनिन
का अनुमान कियो जाता है परन्तु अनुमान से यह नहीं जानसकते
कि वह अग्नि लड़की की है वा करण्डे की है अथवा पत्थर के कोयले

की है । जहाँ शब्द और अनुमान की गति है वहाँ तक प्राप्ति भी होती है अर्थात् जहाँ शब्द और अनुमान प्रमाण नहीं जा सके उस वस्तुका ज्ञान भी उन के द्वारा नहीं हो सका है । शब्द प्रमाण से और अनुमान प्रमाण से उन ही वस्तुओं का ज्ञान हो सका है जिन का लौकिक प्रत्यक्ष होता है अर्थात् जिन वस्तुओं का इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता उन सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थित वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण से नहीं होता है किन्तु उन सूक्ष्म व्यवहित और दूरस्थित वस्तुओं का अभाव भी नहीं कह सकते । क्योंकि समाधिगत बुद्धि के द्वारा उन सब का ज्ञान होता है इस कारण समाधिगत बुद्धि और अनुमान जन्य बुद्धि से भिन्न और विलक्षण है और उसका विवेच भी जुदा है ॥ ४८ ॥ योगी को जब ऋतम्भरा प्रश्ना (बुद्धि) प्राप्त होती है तब उसे नये २ संस्कार उत्पन्न होते हैं ।

भो० च०—थ्रुतमागमज्ञानम् अनुमानसुकलक्षणम्, ताम्यां या जायते प्रश्ना सा सामान्य विषया । न हि शब्दलिङ्गयोरिन्द्रियवद्विशेषप्रतिपत्तिः पत्तौ सामर्थ्यम् । इयं पुनर्निर्विचारवैशारद्य समुद्भवा प्रक्षाताम्यां विलक्षणा विशेष विषयत्वात् । आस्या हि प्रश्नाया सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टनामपि विशेषः स्फुटेनैव रूपेण भासते । अतस्तस्यामेव योगिनां परः प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्पुणिषद् भवति ॥ ४९ ॥

अस्पर्याः प्रश्नायाः फलमाह—

भो० च०—का भाष्य—शब्द इन्द्रियों के समान किसी वस्तु के विशेष ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता । किन्तु यह निर्विचार वशारद्य से उत्पन्न हुई ऋतम्भरा, बुद्धि शब्द प्रमाणजन्य शुद्धि और अनुमान प्रमाणजन्य बुद्धि से विलक्षण, क्योंकि इस से विशेषज्ञान होता, है इस बुद्धिसे सूक्ष्म व्यवहित आवृत्त और दूरस्थित पदार्थ भी स्पष्ट-रूप से भान होते हैं इसकारण योगी को चाहिये कि इस ऋतम्भरा बुद्धि को प्राप्त करने में परम उद्योग करे ॥ ४९ ॥ अगले सूत्र में ऋतम्भरा प्रश्ना का फल कहा है ।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

सू० का पदा०—(तज्जः) उक्त समाधि से उत्प-

तन हुआ जो संस्कार (अन्यसंस्कारप्रतिवन्धि) और संस्कारों का दूर करने वाला होता है ॥ ५० ॥

५० का भावार्थ—समाधि से उत्पन्न हुवे संस्कार से और संस्कार नष्ट हो जाते हैं ॥ ५० ॥

५० भा०—समाधिप्रज्ञाप्रधनः संस्कारो । व्युत्थान-संस्काराशयं वावते व्युत्थानसंस्काराभिभवात् त्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति । प्रत्ययनिरोधे समाधिरूपतिष्ठते । ततः समाधिजा-प्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवं संस्काराशयो जायते । ततः प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति । कथमसौ संस्कारा तिशयथित्तं साधिकारं न करिष्यति ति नते प्रज्ञाकृताः संस्कारा वलेशक्तये हेतुत्वात् चित्रप्रधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति । चित्तं हि ते स्वकार्याद्वसादयन्ति । रुद्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टिमिति ॥ ५० ॥ किञ्चास्य भवति-

भाष्य का पदार्थ—समाधिस्थ बुद्धिके द्वारा उत्पन्न हुआ संस्कार लौकिक संस्कारों के नाश होने से उनसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान भी नहीं होते सांसारिक ज्ञान के नए होने से समाधि अवस्था प्राप्त होती है उससे समाधि बुद्धि उत्पन्न होती है उसके पश्चात् समाधि विषयणी बुद्धि के संस्कार होते हैं इस रीति से नूतन संस्कार उत्पन्न होते हैं उन संस्कारों से पुनः बुद्धि और उस बुद्धि से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं । क्या संस्कारों का चक्र चित्त को ग्राह्यादि विषययुक्त नहीं करेगा ? वे बुद्धिकृत संस्कार विषययुक्त नहीं करेंगे क्योंकि वे संस्कार अविद्यादि क्लेशों को क्षय करने के हेतु हैं क्योंकि चित्त को वे संस्कार उसके कार्य से हटाते हैं विकारपर्यन्त ही चित्त की क्रिया है ॥ ५० ॥

भा० का भावार्थ—समाधिज संस्कार विषय संस्कारों को नाश कर देता है जब विषय के संस्कार नए होजाते हैं तब विषय का ज्ञान भी विनष्ट होजाता है जब विषयज्ञान नाश को प्राप्त होजाता है तब समाधिज विषय की बुद्धि उत्पन्न होती है पश्चात् समाधिज बुद्धि से

संस्कार होते हैं । अब यहाँ यह शंका होती है कि शुद्धि से संस्कार और संस्कार से फिर शुद्धि होती रहेगी इस चक्र परिवर्तन से चित्त क भी स्थिर न होगा । इसका यह समाधान है कि समाधिज शुद्धि और संस्कार से चित्त बचाल नहीं होता यद्योंकि यह शुद्धि और संस्कार अविद्यादि कलेशों के नाशक हैं वे योगी के चित्त को समाधि का अधिकारी बनाते हैं और जो चित्त की बचालता है उसे भी नष्ट कर देते हैं ॥ ५० ॥

भो० श०—तथा प्रश्नाया जनितो यः संस्कारः सोऽन्यान् व्युत्थानं जानसमाधिजांश्च संस्कारान् प्रतिवन्धति स्वकार्यकरणाज्ञानान् करोतीत्यर्थः । यतस्तत्त्वरूपतयाऽनया जनिताः संस्कारा घलघत्याद- तत्त्वरूपप्रश्नाजनितान् संस्कारान् धाधितुं शक्नुयन्ति । अतरतामेव प्रश्नामभ्यसेदित्युक्तं भवति ॥ ५० ॥

एवं सम्प्रदातं समाधिमसिधाया सम्प्रदातं धर्ममाण ।

भो० श० का भाष्य—क्रृतमभरा शुद्धि से उत्पन्न हुआ संस्कार व्युत्थान चित्त के संस्कारों की समाधि से उत्पन्न हुए संस्कारों को रोकता है अर्थात् उनको कार्य करनेके अव्योग्य धना देता है यद्योंकि अर्थार्थरूपसे उत्पन्न हुए संस्कार अर्थार्थ शुद्धिसे उत्पन्न हुए संस्कारों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं इस कारण योगी को चाहिये कि क्रृतमभरा प्रश्ना का ही अभ्यास करें ॥ ५० ॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधनिनर्वीजसमाधिः ॥५१॥

सू० का.पदा०—(तस्यापि) उस अन्य संस्कार के भी (निरोधे) निरोध होने पर (सर्वनिरोधात्) सबके निरोध होने से (निर्वीजः समाधिः) निर्विकल्प समाधि होती है ॥ ५१ ॥

सू० का भावा०—जय समाधि के द्वारा चित्त का निरोध हो जाता है तब निर्विकल्प समाधि होती है ॥ ५१ ॥

व्या० भा०-स न केवलं समाधिप्रश्नाविरोधी प्रश्नाकृताना- नापि संस्काराणां प्रतिचन्द्री भवति । कर्मान्विरोधजः

संस्कारः समाधिजान् संस्कारानवाधतइति । निरोधस्थितिकाञ्ज-
क्रपानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुभेयम् व्युत्थाननि-
रोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्ते स्वरूप्या प्रकृ-
ताव विस्थितायां प्रविलीयते । तस्मात्त्वं भेस्काराश्चित्तस्याधिकार-
विरोधिनो न स्थितिहेतवो भवन्तीति । यस्मादवसिताधि कारं
सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं निर्धर्त्तते दलिसन्निवृतेपुरुषः
स्वरूपयात्र प्रतिष्ठोऽतः शुद्धोः केवलो मुक्त इत्युच्यते ॥ ५१ ॥

आ० का पदा०—वह संस्कार केवल समाधिज बुद्धि का विरोधी
नहीं है समाधि बुद्धि से उत्पन्न हुए संस्कारों का भी प्रतिवन्ध करने
चाला होता है । क्योंकि निरोध से उत्पन्न हुए संस्कारों को नाश
करता है, निरोध की जो स्थिति उसके काल के क्रम से पिछड़ किये
हुए चित्त के संस्कारों की विद्यमानता अनुमाने की जाती है व्युत्थान
निरोध और समाधि से उत्पन्न हुए कैवल्य अर्थात् मोक्षभागी सं-
स्कारों से चित्त अपनी प्रकृति में जीन होजाता है इस कारण से
वे संस्कार चित्त के अधिकार के विरोध के द्वारा स्थिति के
हेतु होते हैं जिससे समाप्त हुए अधिकारों से चित्त निवृत होजाता
है जीवात्मा आत्मस्वरूप में स्थिर होता है शुद्ध, केवल और मुक्त
कहाता है ॥ ५१ ॥

आ० का भाव०—जबक निरोधज संस्कार केवल समाधिज
बुद्धि ही का प्रतिवन्धक नहीं है, किन्तु समाधिज संस्कारों का
भी प्रतिवन्धी है, क्योंकि निरोध से उत्पन्न हुए संस्कार समा-
धिज संस्कारों के वाधक होते हैं, जिस समय चित्त और वैषयिक
संस्कारों का निरोध होता है उस समय चित्तकी विद्यमानता केवल
अनुमान से जानी जाती है और चित्त मोक्षभागी समाधि के संस्कार
चित्त अधिकार को नाश करके चित्तस्थिति के हेतु होते हैं क्योंकि
कैवल्यभागीय संस्कारों से चित्त निवृत होजाता है तब पुरुष आद्य-
स्थित अर्थात् इष्टविन्तन में प्रगत होकर मुक्त कहाता है ॥ ५१ ॥

योगस्योद्देशनिर्देशो तदर्थं दृक्ति लक्षणम् । योगीपात्राः प्रभेदात्र
यादौस्त्वुपर्वर्णिताः ॥

योग का उद्देश और निर्देश उसके लिये वृत्ति का लक्षण, योग के उपाय और ऐद इस साधनपाद में घण्टित हुए हैं ॥

ओ० शू० तस्यापि सम्प्रदातस्य निर्देशे प्रविलये सनि सर्वासां चित्त-
वृत्तीनां स्वकारणे प्रविलयाद्यापासंस्कारम् वाऽवृत्तिरुद्देशि तस्या-
स्तंश्या नेति नेतीति केवलं पर्युक्तं दसनार्थीजः समाधिरार्थिर्गच्छनि ।
यस्मिन् सति पुरायः स्वरूपेनिषुः शुद्धो भवति ॥५२॥ तदधिकृतस्य,
योगस्य लक्षणं चित्तवृत्तिनिरांशपदानांच व्याख्यानमभ्यासवर्णाभ्य-
लक्षणं तस्योपायद्वयस्य स्वरूपं भेदवृत्ताभिधाय संम्प्रदातां सम्प्रदात-
भेदेन योगस्य मुख्यामुख्यभेदवृक्तं वा योगाभ्यासप्रदर्शनपूर्वकं विद्धत-
देणोपायान् प्रदर्शय मुगमोपायप्रदर्शनं पत्तये ईश्वरस्य स्वरूपप्रमाण-
प्रभावयाचकोपासनानि तत्प्रलाप्तिं च निर्णय चित्तविद्वपांस्तत् सह-
भुवश्च दुःखादीन् विस्तरेण च तत्प्रतिवेदोपायानेकतत्त्वाभ्यासमैज्यादि-
प्राणायामादीन् सम्प्रदातासम्प्रदातपूर्वार्थभूतविषयवति प्रवृत्तिरित्या-
दीनाएवायोपसंद्वार्यारेण च भगापाचिसलक्षणा । सफलाः सहितो स्थ-
स्वविषयसहिता चोक्तवा सम्प्रदातासम्प्रदातयोरुपसंद्वारमभिधाय
सर्वाजपूर्वकां निर्वीजः समाधिरभिद्वित इति व्याकुतां योगपादः ।
ॐ तत्सत् ।

गौ० वृ० भा०—सम्प्रदात के निरोध शार्थात् लक्ष्य होने पर चित्त
की सब वृत्तियाँ आपने २ फारणों में लक्ष्य होजायेगी तब संस्कार
भाव में योगी की दृष्टि विषयों की ओर नहीं जायगी तब निर्वीज
समाधि की प्राप्ति होगी और उसके प्राप्त होने से योगी का आत्मा
शुद्ध और निर्मल होता है ॥ ५१ ॥

इस साधन पाद में योगशास्त्र प्रनिपाद्य योग के लक्षण चित्त-
वृत्ति का निरोध का व्याख्यानं अभ्यास और वैराग्य के भेद तथा
लक्षणों का घर्णन करके सम्प्रदात और शसम्प्रदात भेद से प्रभानं
योग और अप्रधान योगों का गतिपादन भी कर सके । इसके अति-
रिक्त योगाभ्यास की रीति कहाके उसके उपायों का विस्तार पुर्वक
घर्णन किया फिर योगप्राप्त यां सुगम उपाय ईश्वर गति और ईश्वर
के प्रभाव तथा लक्षणादि, उसकी उपासना का फल विचारविद्वेष
(योग के विधन और विद्वेष के लाभ उत्पत्ति होने वाले दुःखादि फा-
घर्णन शी विस्तार पूर्वक किया उन विच्छिन्नों को दूर करने के उपाय
पक्ष तस्याभ्यास, मैत्री और मुद्रिता श्राद्धि का घर्णन करके प्राणा-

यामादिक, सम्प्रक्षात और असम्प्रक्षात योगी की अङ्गस्वरूप ज्योति-भूति और दिव्य विषयवत्ती आदि प्रवत्तियों का भी वर्णन किया। किंतु पाद समाप्ति के समय समाप्ति उनके लक्षण और फल एवं मुख्यीज और निर्विज समाधियों का वर्णन और फल भी इस साधन-पाद में ही लिखा है।

**इति पातञ्जले सांस्यप्रवचने योगशास्त्रे
समाधिपादः प्रथमः ॥ १ ॥**

तत्र द्वितीयः साधन पादः ।

२३२३०८६६६

तपः स्वाध्यायैश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

सू०का पदार्थ—(तपःस्वाध्यायैईश्वरप्रधानानि) स्वधर्मानुष्ठान वेदादि सत्यशास्त्रों का अभ्यास ईश्वर की भक्तिविशेष (क्रियायोग) क्रियायोग कहालाता है।

सू० का भा०—तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति को क्रियायोग कहते हैं ॥ १ ॥

व्यास भाष्य—उद्दिष्टुः समाहितविच्चस्य योगः कथं च्यु-
त्त्वित विच्चोऽपि योगधुक्तः स्यादित्ये तदारभ्यते । परो-
नातपस्त्विनो योगः सिद्धयति अनादिकर्म्म व्यतीशवासनां
चित्राप्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमा-
पद्यते इति तपसउपादानं । तच्च विच्चपसादनमध्याध्यानमनेना-
सेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणाँ जपो मोक्ष-

शास्त्राध्ययनं वा ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरार्वर्षणं
तत्त्वफलं संन्यासो वा ॥ १ ॥

भा० का पदार्थ—साधान चित्तवाले को योग उपदेश किया गया अथ अब किस प्रकार से चंचल चित्त वाला यागयुक्त होता है यह आरम्भ किया जाता है तपश्चार्थं द्वित मनुष्यको योग सिद्ध नहीं होता है अनादि कर्म और अविद्यादि क्लेशों की वासना में चित्रित विषयों को उठाने वाला विषय जाल और मलिनता विना तपके खण्डन नहीं होती यह तप का कारण है और वह तप चित्त का प्रसन्न करने वाला अखण्डनीय है इस कारण से भली प्रकार से धारण करने योग्य है यह योगी समझता है। स्वाध्याय का अर्थ है कि थोर् आदि पवित्र मन्त्रों को जपना वा जिन शास्त्रों में मोक्ष का उपदेश है उन शास्त्रों के पढ़ने को स्वाध्याय कहते हैं ईश्वरमस्ति का अर्थ है कि सब क्रियाओं को परम गुरु परमेश्वर में अर्पण करना अथवा कर्मफलों का त्याग ॥ १ ॥

भा० का भा—प्रथमपाद में साधान अर्थात् दिथः चित्त वाले के बास्ते संप्रकात आदिं योगी का धर्णन कर चुके किन्तु अस्थिर चित्तवाले को योग कैसे सिद्ध होता है अब इस विषय का आरम्भ किया जाता है, तपश्चार्थं द्वित पुरुषको योगसिद्ध नहीं होता क्योंकि अनादि कर्म और अविद्यादि क्लेशों की वासना से उत्पन्न हुआ विषयजाल तथा चित्त की मलिनता विना तपके कभी नष्ट नहीं होती अस तप करने का यही उपादान कारण है अर्थात् इस ही अभिप्राय से तप किया जाता है तप से चित्त प्रसन्न होता है इस लिये तप रुचि पूर्वक ग्रहण करने योग है प्रणव आदि पवित्र वेदोक्त मन्त्रों के जपको अथवा मोक्षोपदेशक शास्त्रों के अध्ययन को स्वाध्याय और सुक्रमों को ईश्वरार्पण करने अथवा उनके फल त्याग को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं इन तप आदि के करने से अस्थिरचित्त वाले को भी क्रम से योग सिद्ध हो जाता है ॥ १ ॥

१ सू०—प्रथम पाद में समाधि का स्वरूप निरूपण करके अब उस को प्राप्ती के उपाय अर्थात् साधनों का धर्णन करना आरम्भ करते हैं यद्यपि सूत्रकार और भाषकार ने छानयोग पृथक् रूप में

नहीं लिखा है तथापि इस सूत्र से अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा तिद्ध होता है कि ईश्वर प्रणिधानादि क्रियायोग और ईश्वरं ह्यान में लंय रहना ह्यानयोग कहाता है ऐसा ही गीता में भी लिखा है “ शः नयोगेन सर्वात्म्यानांम् कर्मयोगेन योगिनाम् ” , अब यहां पर यह सन्देह होता है कि साधनपाद में केवल योग के साधनों का ही वर्णन होना चाहिये योग के भेदों का नहीं और क्रियायोग का भेद विशेष ज्ञान पड़ना है इसका उत्तर यह है कि आगले सूत्रार्थ से उपष्ट ज्ञान पड़ता है कि क्रियायोग से समाधि में प्राप्ति होती है और क्लेशकूर होते हैं ।

तदेवं प्रथमे वादे समाहितचित्तस्य सोपायं योगमभिधीय व्युत्थितचित्तस्यापि कथमुपायाभ्यासपूर्वको योगः स्वास्थ्यमुपवातीति तत्साधनानुष्ठान प्रतिपादनाय क्रियायोगमात् ।

भा० वृ०—तपः शास्त्रान्तरोपदिष्ट कृच्छ्रवान्द्रायणादि । स्वाध्याय । प्रणवपूर्वणां मन्त्रणां जपः । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां तस्मिन् परमगुणो फलनिरपेक्षतयोः संमर्पणम् । एतानि क्रियायोग इत्युच्यते ॥ १ ॥ स किमर्थमित्याह ।

‘भो० वृ० का भा०—इस प्रकार से पहिले पाद में साधान चित्तवाले ‘योगी’ के निमित्त उपाय सहित ‘योग’ का वर्णन करके अब इस दूसरे पाद में चञ्चल चित्तवाले के ‘चित्त’ को स्थिर करने वाले क्रियायोग का वर्णन किया जाता है ।

तप चान्द्रायणादि (प्रायश्चित्त) स्वाध्याय वेद मन्त्रों के आंतरमध्ये में ओ३८० का योग करके जप करने को कहते हैं, ईश्वर प्रणिधान का अर्थ यह है कि परमगुरु परमेश्वर में सब क्रियाओं के फल को अपेण कर देना, इनको ही क्रियायोग कहते हैं ॥ १ ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

सू० का पदार्थ—वह क्रियायोग (समाधि भावनार्थः) समाधि के सिद्ध और (वेत्तशतनूकरणार्थश्च) वह्यमाण व्येदों के नून करने के लिये है ।

सू० का भा०—उक्त क्रियायोग समाधि के हित और क्लेशों के न्यून करने के हिये होता है ॥ २ ॥

भाष्य— सहि क्रियायोगः श्वासेव्यपानः समाधिं भाव-
यति वलेशांधं तनु करोति । पत्तनूकृतान् वलेशान् प्रसंख्यानाग्निं
दग्धवीजकलानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति । तेषां तनुकरणात्-
पुनः वलेशीरपरामृष्टं सत्त्वपुरुषान्यनामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रक्षा स-
मासाधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति अथ वलेशाः के
क्रियन्वो वेनि ॥ २ ॥

भा० का पदार्थ—पर्योक्ति वह कर्मयोग उत्तम वीति से भारत
क्रिया जाने से समाधि को प्रकाशित वा सिद्ध करना है और फलेशों
को न्यून करता है न्यून किये हुए अविद्यादि फलेशों वा योगिग्नि से
जलेहुए वीजके समान उत्पत्त होनेके अशेष्य करदेगा उनके (ननुकरणते)
सूक्ष्मफलरनेमें फिरकलशोंसे स्पर्शं रहित हुद्धि वा पुरुष इन दोनोंमें
से परकी व्याप्ति अर्गात् विचार करता है सूक्ष्म विषयोंको विचारने
वाली हुद्धि समाप्त होगये हैं विषयमें अधिकार जिसके पुनः फलेशोंको
उत्पन्न करेगी नहीं ।

भा० का भावां०—सूत्रोक्त क्रियायोग जब अच्छे प्रकार से भारत
क्रिया जाता है तब वह समाधि को सिद्ध करता है और फलेशों को
दूर करता है अर्थात् योगिग्नि से फलेशों के वीज को जला करफिर
उन्हें उत्पन्न होने के बोग्य नहीं रखता, जब योगी के फलेश नष्ट हो-
जाने हैं तब उस की हुद्धि सूक्ष्म विचार करने योग्य होती है और
फिर वलेश उत्पन्न नहीं होने यही क्रियायोग कहाता है ॥ २ ॥

अब अगले सूत्र में यह घर्णन करेंगे कि फलेश कौन २
हैं और कितने हैं ॥ २ ॥

भो० व०—झेशा वद्यमाणाभेदां तनुकरणं स्वकार्थं करणप्रति-
यन्थः । समाधिरुक्तं सद्दण्डस्तस्य भावना चेतासि पुनः पुचनिधेशनं
सोऽर्थः प्रथोऽनं यद्यस्त तथोक्तः । एतदुक्तं भवति । एतं तपःप्रभृतयो
ऽभ्यस्यमानाध्यत्त तगान् विद्यादीन् झेशान् शिविली कुर्वतः समाधे-
रुपकावतां भजन्ते । तस्मात् प्रथमं क्रियायोगा विधानपरेण योगिना
भवितव्यमित्युपदिष्टम् ॥ २ ॥ क्लेशतनुकरणार्थं इत्युक्तं तत्र के फलेशा
इत्याह ।

भो० व० का भा —जिन फलेशों का आगे घर्णन किया जायगा

उनको घटाने के निमित्त अर्थात् क्लेशों का व्युत्पन्न हुवादि और कारण कुसंस्कार तथा हुवासिना को दूर करने के बास्ते उक्त लक्षण की समा धि की भावना अर्थात् वारस्वार चित्त में धारण करने के निमित्त ही क्रियायोग किया जाता है तात्पर्य यह है, कि तप आदि के करने से विच त के अविद्यादि क्लेशस्थित हो जाते हैं और समाधि में उप कार करते हैं इस कारण योगी को चाहिये कि प्रथम क्रियायोग में तत्पर हो ॥ २ ॥ इस सूत्र में क्लेशों का शिथिल होना कहा है इस कारण अगले सूत्र में यह लिखा गया है, कि क्लेश किनको कहते हैं ।

अविद्यासिमितारागदैषाभिनिवेशः पञ्चक्लेशाः ॥३॥

सू० का प्रदार्थ-अविद्या वेत्ति पदार्थानां तत्त्वस्व रूपं यथा स विद्या जिससे सब पदार्थों का यथार्थ रूप जाना जाय उसे विद्या कहते हैं और उससे विपरीत अविद्या कहलाती है (अस्मिता) अहंकार (राग) प्रीति (द्वेष) शत्रुता (अभिनिवेश) अनित्यरपि दे हादिभिर्भवियोगो मासूदिति मरणभीतिजनकमज्जानम भिनिवेशः” मरने के भय को अभिनिवेश कहते हैं (पञ्च क्लेशाः) यही पञ्च क्लेश है ॥ ३ ॥

सू० का भावार०—अविद्या १, अस्मिता २, राग ३, द्वेष ४, और अभिनिवेश ५ यह पांच प्रकार के क्लेश हैं ॥ ३ ॥

भाष्य—क्लेश इति पञ्चविपर्यया इत्थर्थः । ते स्पन्दमाना शुणा विकारं दृढयन्ति, परिणाय इस्थापयन्ति. काट फिरख स्रोत उन्न मयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्म्पनियाकञ्चा भिन्निर्हरन्ती इति ॥ ३ ॥

भाव का प्रदार०—क्लेशका अर्थ करते हैं पञ्च प्रकार के मिथ्याक्षान भृक्त वा इवल होकर तमोशुणादि के अधिकार को इड़ करते हैं दूसरी दशा अर्थात् स्वभाव के विकार को (अवस्थापयन्ति) सिद्ध द्वा स्थिर करते हैं अविद्या के कार्य जो मुख छुखादि और अविद्या

का कारण जो अविदेकं इन द्वौलों कार्ये कारण के प्रवाह को बहाते हैं एक दूसरे के सदाचार के कर्म के फल को प्रकाशित करते हैं ॥ ३ ॥

भा० का भा०—अविद्यादि ५ फलेश अर्थात् ५ प्रकार के मिथ्या शान जब अधिक होते हैं तब अपने २ गुणों को दृढ़ कर लेते हैं अर्थात् जब मनुष्यकों अस्मिता अधिक होता है तब अहंकार दृढ़ हो जाता है और विच्च नी प्रकृतिको घटता देते हैं, सांसारिक सुख और दुःख की नदी को बहाने लगते हैं, एक दूसरे के सदाचारी दो के कर्म फलों को प्रकाशित करते हैं ॥ ३ ॥

सू०—इस सू० में अन्य फलेशों का कारण इत्या को कांडा परन्तु अविद्या का कारण चाहा है ? इसका उत्तर वैरोधिक शास्त्रमें लिखा है 'इन्द्रियदोषात्' संस्कार के दोषों शब्दिया उत्पन्न दोनों हैं इससे सिद्ध होता है, कि सम्पूर्ण फलेश इत्यर्थोंके दोषसे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

भा० वृ०—अविद्यादशो वद्यमाणलक्षणा पञ्चते च वाधनालक्षणं परितापेमुपजनयन्तः फलेशशब्दवाच्या भवन्ति ते हि चेतसि प्रवर्च्च मा नाः संस्कारलक्षणं गुणपरिणामं द्रहयन्ति ॥ ३ ॥

सत्यपि सर्वेषां तु लेश श्लेषात्पे मूलभूतत्वादविद्यायाः प्राधान्यं प्रतिपादयितुमाद ।

भ० वृ० का भा०—जिनके लक्षण आगे कहे जायगे वह अविद्यादि फलेश पाँच हैं वह ए पाँचों कुछ वा सन्तापे उत्पन्न करते हैं इस से उनको फलेश कहते हैं, वह चित्त में रह कर अपने गुणों के बहुधा होने वाले फेर को दृढ़ करते हैं ॥ ३ ॥ यद्यपि वे संबंधेश ही हैं परन्तु अविद्या उनका मूल है इस कारण अगले सू० में अविद्या की प्रधानता का वर्णन किया है ।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रमुमतनुविच्छिन्नोदारणाम् ॥४॥

सू० का पदार्थ—(प्रसुतसत्त्वविच्छिन्नोदारणां) प्रमुमतनुविच्छिन्न और उदार (उत्तरेषाम्) आगे के अस्मिता आदि क्षेत्रों का (अविद्याक्षेत्र) अविद्या क्षेत्र स्थान है ॥ ४ ॥

सूत्र का भार-अस्मिता आदि अन्य और सब क्लेशों का अविद्या कारण है ॥ ४ ॥

भाष्य-अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुचरेपामस्तादीनां च तुर्विधविकल्पतानाँ प्रसुसतनुविच्छिन्नोदाराणम् । तत्र का प्रसुसि चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानाँ वीज भवोपगमः । तद्यपव्रोधआलम्बने संमुखीभावः प्रसंख्या नवतो दग्धवक्लेशवीजस्य संमुखी भूतेष्यालम्बने नासी पुनरस्ति, दग्धवीजस्य कुतः प्रोह इति । अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्वरमदेह इत्युच्यते । तत्रैव सा दग्धवीजभावा पञ्चमी क्लेशानस्था नान्यत्रेति । सताँ क्लेशानाँ तदा यो जसापर्यदग्धमिति विपयस्य सम्मुखी भावेऽपि सति न भवत्पेषाँ प्रवोध इत्युक्ता प्रसुसिर्दग्धवीजानाम प्रोहश्च । तमुत्वमुच्यते-प्रतिष्ठाभवनोपहताः क्लेशास्तन्त्रोभवन्ति । तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचार अन्तीति विच्छिन्नाः कथं रागकाले क्रोधस्थादर्शनात् न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति राँ-गंथं क्वचिद्दद्यश्यमानो न विपयान्तरे नास्ति । नैकस्याँ स्त्रियाँ चैत्रो रक्त इति अन्याष्ट स्त्रीषु विरक्तः किन्तु तत्र रागो लब्धवृत्ति । रन्यत्र तु विष्णद्वृत्तिरिति । स हि तदा प्रसुसतनुविच्छिन्नो भवति ।

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः । सर्वएवैते क्लेशविपयत्वं प्रत्यय नातिक्रामन्ति । कस्तर्हिविच्छिन्नः प्रसुसतनुरुदारो वा क्लेश इत्युच्यते सत्त्वमेवैतत, किन्तु विशिष्टानामेवैतेषाँ विच्छिन्नादित्पम् । यथैव प्रतिपक्षभावनानो निवृतस्तथैव, स्वव्यञ्जकाङ्ग नेनाभिव्यक्त इति । सर्वएवामी-क्लेशा अविद्याभेदाः । कस्मात् सर्वेश्वविद्यौ वाभिसवते । यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवाग्नेशेरते क्लेशाविपर्यास-प्रत्यय, काल उपत्तभ्यन्ते क्षीयणाणाँ चाविद्यामनुक्तियत्वात्तिरिति ॥ ५ ॥ नत्राविद्यास्वरूप मुच्यते ।

भाँठ का पदार्थ—प्रसुतं, तत्त्वं, विच्छिन्नं और उदार हैं चारे प्रकार के अस्मिता आदि फलेशों का अविद्या खेत अर्थात् उत्पत्ति इग्नान है उनमें प्रश्नुति क्या है अर्थात् प्रसुति किसे कहते हैं विचार में रहने वाले फलेशोंवा धीजभावको प्राप्त हो जाना उस फलेशका जागृत अर्थात् चैतन्य होने पर (सम्मुखीभाव) फलेश प्रदान करने को उद्यत होना और विषय में फसा देना हो जाता है दग्ध हो गये हैं फलेशोंके धीज जिसके दृद्यमें योगीके ऐसे फलेश फिर सन्मुख धा चैतन्य हो भी जिसका धीज हो जल गया है उसको उत्पत्ति कहां इसलिये जिसके फलेश क्षीण होगयेहैं वह सु चतुर चरम देह अर्थात् घर्तमान शरीर ही जिसकी अन्ताधस्था है कहाना है । उसद्वी में वह भस्म हो गया है धीज जिसका ऐसी पांचवीं फलेश की अवस्था होती है अन्य वे नहीं । फलेशों के होने पर भी उस काल में उत्पन्न होने की शक्ति भस्म होजाती है विषय के सन्मुख होने पर भी फलेशों का प्रवोध नहीं होता इस प्रकार से कंदी जाती है फलेशों की प्रसुत शब्दस्था जले हुए धीज धार्तों का फिर उत्पन्न न होना और तत्त्व अर्थात् एलका होना कहाजाता है प्रतिपक्षः अर्थात् फलेश के शब्द योगकी भावना अर्थात् विचार के साधन से नाश हुए पांचों झोश तत्त्व अर्थात् खूब्या कांतर प्रायः अटश्य के समान होजाते हैं ऐसे ही खण्ड २ होकर आगे २ रूप से फिर आचरित होने लगते हैं खण्डित कैसे होते हैं ? मोह के समय में धोध के गुप्त होजाने से । क्योंकि ११८ के समय में धोध नहीं रहता है और राग भी कहीं नहीं देखा गया दूसरे कोशादि विषयों में नहीं होता । एक सी में चैत्र नामी पुनर्प्रीतिमान् है और क्षियों में विरक्त है लैकिन पद्मिली रुदी में प्रांति लंगी हुई और स्त्रियों में प्रति भविष्यत्बूप से है उस काल में प्रसुत, तत्त्व, अर्थवा विच्छिन्न होता है पैदा विषय में जिस की वृत्ति लगी है वह उदार कहाता है ॥ ४ ॥ ये सब फलेश की सीमा को अंतिकमण्ण नहीं करते । जब पैदा है तो फिर प्रसुत आदि संज्ञा भेद यथो किया गया ? इसका उत्तर यह है कि विशेषता जतलाने के लिए ही यद संषा भेद किया गया है ये सब फलेश वस्तु अविद्या के ही भेद हैं ? क्योंकि इन सब में अविद्या व्याप्त हो रही है । अविद्या से जो अवस्था में वस्तु का आरोपण किया जाता है, वही फलेशों की अनुयुत्ति का कारण है अविद्या के उदय होने पर फलेश

भी उद्दय होते हैं जीण होने पर वे नष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥ अब अविद्या का स्वरूप कहते हैं—

भा० का भावा०—इन सब क्लेशों का मूल कारण अर्थात् उत्पत्ति स्थान अविद्या है, क्योंकि विना अविद्या के अन्य चारों क्लेश प्रसुप्त के समान पड़े रहते अर्थात् उनका धीजमात्र हृदय में रहता है परन्तु जब अविद्या को मनुष्य के हृदय में सञ्चार होता है तब अन्य क्लेश भी जागृत हो जाते हैं किन्तु योगार्दिन से जिस के क्लेश भस्म हो जाते हैं उसको पुनः किसी क्लेश का आविर्भाव नहीं होता क्योंकि जले वीजसे बृक्ष की उत्पत्ति होना ही शास्त्रमय है ॥५॥

भो० वृ० अविद्या मोहः अनात्मन्यात्माभिमान इति यावद् रूक्षं प्रस वभूमि रूचेरेणामस्मितादीनां प्रत्येक प्रसुप्ततन्धादिभेदेन चतुर्विधानाम् । अतो यत्रा विद्या विपर्ययकानरूपा शिथिलीभवति तत्र क्लेशानामस्मिता दीनां नोद्भवो दृश्यते । विपर्यय व्यानसद्भावे च तेपामुद्भवदर्शी नात् विथतमेव मूलत्वभविद्यायाः । प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोद्वाराणामिति तत्र ये क्लेशाद्विच्छिन्नभूमौ स्थिताः प्रबोधकाभावे स्वकार्यं नऽप्तरभन्ते तेप्रसुप्ता इत्युच्यन्ते । तथा धात्रावस्थायां चालस्यहि वासनारूपेण स्मिता अपि क्लेशाः प्रबोधकसहकार्यं भवेनाभिव्यज्यन्ते । ते तनवोंये स्वस्वप्रतिपक्षभावनया शिथिलीकृतकार्यसम्पादनशक्तयो वासनाध्येष्योपतया चेतस्यवस्थिताः प्रभूतां सामग्रीमन्तरेण स्वकार्यं मोरघ्नुपक्षमाः । यथोऽभ्यासवतो योगिनः । ते विच्छिन्नाये केनचिद्विलवता क्लेशोनाभिमूलतशक्तयस्तिष्ठन्ति । यथा द्वे पावस्थायां राग रागवस्थायां चा द्वे पा, न ह्यनके: परस्परविश्वद्वयोगर्युग्मपत्सम्बवोऽस्ति । त उदारा ये प्राप्तसहकारी सनिधयः स्वं स्वं कार्यमस्मिन्निर्वत्तयन्ति । यथा सदैव योगपरिपन्थिनोः युथानदशायाम् पपां प्रत्येकं चतुर्विधानामपि मूलभूतत्वेन स्थिताप्यविद्यान्वयित्वेन प्रतीयते न हि अचिद्विद्यपि क्लेशानां विपर्ययान्वयनिरपेक्षाणां स्वरूपसुप्लभ्यते । तस्यां च मिथ्यारूपायां सम्यग्भानेन निर्वित्तायां दग्धबीजवदपाना मेषां न क्वचित् प्ररोहोस्ति । अतोऽविद्यानिमित्तत्वमविद्यान्वयश्चैतेषां निश्चीयते । अनः सर्वेऽपि अविद्याव्यपदेशभाजः । सर्वेषां च क्लेशानां चित्तविक्षेपकारित्वात् योगिना प्रथममेव तदुच्छ्रेयत्नः कार्यं दृष्टि ॥ ५ ॥ अविद्या लक्षणमाह ।

भो० वृ० का भा०— अविद्या का अर्थ मोह है अर्थात् अनात्म हुद्दि रखने को अविद्या कहते हैं, वह अविद्या दूसरे कलेशों क उत्पन्न करने वाली भूमि है, प्रत्येक कलेश के चार भेद हैं, ततु, प्रसुप्त विच्छिन्न, उदार जहाँ अविद्या का अभाव होता है वहाँ अन्य फ़ैश भी नहीं रहते हैं, यद्योंकि अस्मिताविद् क्लेश विषयव्यक्तान से ही उत्पन्न होते हैं । इस से स्तिद्ध होता है कि अन्य चारों फ़ैश अविद्या से ही उत्पन्न होते हैं । प्रसुप्त ततु विच्छिन्नोदाराणाम् का अभिप्राय यह है, कि जो कलेश चित्त भूमि में रहते हैं वह प्रबोधक अर्थात् उस काने वाले के विना अपने कार्य को नहीं कर सकते हैं इससे ही प्रसुप्त कहलाते हैं । जैसे वालक अवस्था में वालकों के चित्त में कलेश रहते भी हैं तो भी विना सहायकारी के वह प्रकाशित नहीं होते हैं । वेतनु जो अपने शब्दार्थ के दबावसे ऐसे डुर्वल हो जाते हैं कि वह केवल वासनावश होकर चित्त में रहते हैं इस कारण वे अपने कार्य को करने में असमर्थ हैं, यद्योंकि वे अपने काम करने की पूरी सामग्री नहीं पाते हैं । जैसे विच्छिन्न वे हैं, जो किसी घलघान् कलेश से दबकर रहते हैं, दोप की अवस्था में राग और राग की अवस्था में द्वैप, इन दोनों का एक समय में होता । असमर्थ है, उदारहण वे अपने सहायक की समीपताको पाके अपने २ कार्य को करते हैं जैसे योग के विज्ञ कारक लदैव रहते हैं चित्त की चडचल दशों में इन में भी प्रत्येक के चार चार भेद होते हैं यरन्तु उन भेदों से से भी प्रत्येक भेद का कारण अविद्या ही है यद्योंकि विना विषयव्यक्तान के कोई भी कलेश उत्पन्न नहीं होता है इस कारण मिथ्याकान रूप जो अविद्या है उसके नाश होने से और सब फ़लेशों के बीज ही जले हुये के तुल्य हो जाते हैं तब वह फ़लेश उत्पन्न नहीं होते हैं इस कारण अविद्या सम्यक् शान में परिणत होनाही कलेश नाशका हेतुहै, सम्पूर्ण कलेश अविद्यासे ही उत्पन्न वा० प्रकाशित होते हैं और सब ही कलेश योग में विज्ञकारक और चित्त में विक्षेप करने वाले हैं इस कारण योगी को प्रथम अविद्या का ही नाश करना चाहिये ॥ ४ ॥ अगले सूक्ष्म में अविद्या के लक्षण कहे हैं ।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म
ख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

सू० का पदा० — (अनित्याशुचिद्गुणानामसु) अनित्य में, अपवित्र में हुःख में अनात्म अर्थात् जड़ पदार्थों में (नित्य शुचि सुखात्मरूपातिः) क्रमशः नित्यः पवित्र, सुख आत्मा अर्थात् चेतन्य बुद्धि को (अविद्या) अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥

सू० का भावा०—अनित्य में नित्य बुद्धि, अपवित्र में पवित्र बुद्धि हुःख में सुख बुद्धि, अनात्म में आत्म बुद्धि को अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥

ध्या० दे० क० भाष्य—अनित्ये कार्ये नित्यरूपातिः । तथाऽध्यात्मुच्छिवी, धुवा सदन्द्रतरकार्यौः, अमृतादिद्वौकस इति । तथाऽशुचौ परमवीमतसे कार्ये, शुचिरूपातिः । उक्तक्षण “स्थानादीजादुपरम्भानिस्यन्दानिधनादपि । कार्यमाधेय शौक्तत्वात् परिहतात्मशुचि विदुः” । इत्यशुचौ शुचिरूपातिर्विद्यते । नवेय शशाङ्कलेखा कमनीयेय कन्या पञ्चमृतावयवनिर्मितेव कन्द्रियभूत्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोपलंपत्रायतान्ती हृषीकेगर्भाभ्यो लोचनाभ्याङ्गीवलोकमाश्वासयन्तीर्वति कर्त्य केनभिसम्बन्धः । भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्या सप्रत्ययः इति । एतेनापुरुषे पुरुष-प्रत्ययस्तथैवनार्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः । तथा हुःखे सुखरूपातिः वन्देयति—परिणापतांपसंस्कारद्वैर्वैर्गुण्यबृत्तिविरोधाद्विच दुःखमेव सर्वं विवेहिनं इति । तत्र सुखरूपातिरिविद्या तथा अनात्म न्यात्मरूपातिर्वीर्यमकरणेषु चेतना चेतनेषु भोगाधिष्ठाने वाशरीरे पुरुषोपकरणे वा पनस्य अनात्मन्यात्मरूपातिरिति तथैतदत्रोक्त ये द्वयक्तपर्यक्तं वा संत्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदभनु शोचत्यात्मवृपदपदमन्वानः संसर्वप्रतिबुद्धः इत्येषां चतुर्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य वक्षेशसन्तानस्य कम्माशंशयस्य च सर्विपाकस्येति । तस्याशामित्रा

गोप्यदद्रस्तु । सतत्वं विज्ञेयम् यथा नामित्रो मित्रा भावो न मित्र
मात्रं किन्तु तद्विलङ्घः सपत्नः यथाचाहगोप्यादं न गोप्यदाभावे
न गोप्यदमात्रं किन्तु देशएव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्, एवमविद्या
न प्रपाणं न प्रमाणाभावः किंतु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तर-
मविद्यति ॥ ५ ॥

भा० का पदार्थ—अनित्य अर्थात् स्थिर अथवा प्रहृति के का
र्य रूप जगत् में नित्य अर्थात् चिरस्थायी अथवा कारण बुद्धि करना
जैसे अनित्य पृथिवी में धूघ अर्थात् अचल और स्थिर बुद्धि करना
अविद्या है तारामण और चन्द्रमा के सहित दर्द लोकों को अविनाशी
मानना अविद्या है देवता लोग अमर अर्थात् मृत्यु रहित हैं इसको
अविद्या कहते हैं इसी प्रकार से अपवित्र में पवित्रता विषयक बुद्धि
दीखती है यह चन्द्रकला नवीन है यह कन्या कमनीय अर्थात् काम-
ना योग्य वा मनोहर हैं कोमल अमृत के समान अंगों वाली हाव
भाव भरे नेत्रों ले प्राणियों को आभ्यासन करती है इसप्रकार अपवि-
त्र में पवित्र बुद्धि ज्ञान वा निष्ठय होता है इस ही के समान पाप में
पुण्य पान तथा अनर्थ में झर्यशान कहा गया है । अब दुःख में सुख-
ख्याति को कहते हैं—भोगादि में जिन का परिणाम दुःख है, सुख वा
यक समझकर लिस होना यह तीसरी प्रकार की अविद्या है । अनात्म-
में आत्म बुद्धि उसको कहते हैं कि भोगाधिष्ठान शरीर में वा बाहा
उपकारण इन्द्रियादि में अथवा अन्तःकरण मन शादि में आत्म बुद्धि:
करना, जैसाकि पञ्चशिख आचार्य ने कहा है:—द्यक्=पुत्र दार पक्षा
दि में और आव्यक्त शश्वासनादि में आत्म बुद्धि करके उनकी बुद्धि से
हरपिंत और उनके नाम से दुःखित होना चौथी प्रधारकी अविद्या
है । इस प्रकार से उभा वाली अविद्या होती है उक्त वलेश समुदायकी
तथा वामशिय और उनके फलों की मूल अविद्या ही है और
उस अविद्या का अभिप्राय अभिन्न अगोप्यद के समान तत्वार्थ के स-
हित समझना योग्य है जैसे (नामित्रः) हित साधक को मित्र कहते
हैं और जो उसके विपरति अर्थात् अहितचिन्तक हो उसे अभिन्न क-
हते हैं, एवम् जो अभिन्न के विपरोति हो चोह नमित्र कहाता है अभि-
प्राय यह है, कि नामित्र शब्द से गित्रा गाव सर्वात् शब्दु ता है रुद्ध-

नहीं होनी ऐसे ही अगोपद शब्द से ननो गोपद। भाव और न शो-
पद मात्र की तितिक्षा है किन्तु देश अभिप्रेत है, जैसे ही अविद्या न
तो प्रमाण है और न अग्रमाण किन्तु विद्या के विपरीत ज्ञान का नाम
अविद्या है ॥ ५ ॥

भ० का भावां०—अनित्य कार्य अर्थात् पृथिवी और आत्मिक-
स्थ सवलोक अचल हैं, अथवा वेवता अमर हैं इत्यादि विपरीत
बुद्धि को अविद्या कहते हैं, अथवा मल मूत्रादि परम अशुचि पदार्थों
के स्थान वेदादि में पवित्र बुद्धि करना अविद्या है, क्योंकि जगत् में
देखते हैं, कि कोटिशः मनुष्यों को ली के अपवित्र शरीर में और सी-
का वैसे ही पुरुष के शरीर में पवित्रता की बुद्धि होती है, ऐसे ही
दुःख में सुख बुद्धि, और अनात्म पदार्थों में आत्म बुद्धि को अविद्या
कहते हैं ॥ ५ ॥

५. सू०—अविद्या का लक्षण सूक्ष्मता से यह अच्छुआ ज्ञान पड़ता
है कि “अतस्मिन्स्तत्प्रतिभासोऽविद्या” ॥ ५ ॥

भ० च०—अतस्मिन्स्तप्रतिभासोऽविद्या इत्यविद्यायाः सामान्य
लक्षणम् । तस्या एव भेदप्रतिपादनम्—अनित्येषु घटादिषु नित्यत्वा-
भिमानोऽविद्या इति उच्यते । एवमशुचिपु कायादिषु शुचित्वाभिमानः,
दुःखेषु च विषयेषु सुखत्वाभिमानः, अनात्मनिश्चरीरेआत्मदाभिमान
एतेनागुणे पुण्यग्रन्थानर्थे चार्थभ्रमो व्याख्यातः ॥ ५ ॥ अस्मिता
लक्षणितुमाह ।

भ० च० का भावां०—अविद्या का अर्थ यह है कि किसी वस्तु में
तद्विरुद्ध वस्तु का ज्ञान होना यह अविद्याका सामान्य लक्षण है, इस
हीके भेद कहते हैं, अनित्य घट आदि पदार्थों में नित्य अर्थात् सदैव
स्थिर रहने के मिथ्या ज्ञान को अविद्या कहते हैं ऐसे ही अपवित्र में
पवित्र बुद्धि को अविद्या कहते हैं अर्थात् अपवित्र शरीर में पवित्र
बुद्धि करने को अविद्या कहते हैं । दुःख रूप विषयों में सुख समझने
को अविद्या कहते हैं, जड़ शरीर आत्म बुद्धि करना अविद्या कहाता
है इससे यह भी सिद्ध हुआ कि पाप में पुण्य बुद्धि और अधर्म में
धर्म बुद्धि करने को भी अविद्या कहते हैं ॥ ५ ॥ अस्मिता का लक्षण
कहते हैं ।

द्वग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

सू० का पदार्थ—(द्वक्षर्णशनशत्तयोः) द्रष्टा और दर्शन अर्थात् देखने में सहायक हन दोनों शक्तियों को (एका त्वंतेव) अभिन्न जानना (आस्मिता) आस्मिताकहाती है

सू० का भावा—प्रधा और दर्शनशक्ति में अभेदज्ञान को अस्मिता कहते हैं ॥ ६ ॥

थ० भाष्य—पुरुषोद्वक्षशक्तिर्द्वर्णनशक्तिरित्येत योरेकस्वरूपापत्तिरिवासिपता कलेश उच्यते । भोग्यभोक्तृ योरत्य न्तविभक्त्योरत्यन्तासङ्कोर्णयोरविभागप्राप्ताविच सत्यां भोगः कल्पते । स्वरूपप्रतिलम्भे हु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति । तथाचोक्तश्च—बुद्धिः परंपुरप्रमाकारशीलविद्यादिभिः विभक्तपरम्यन् कुर्यात्तत्त्वबुद्धिं मोहनेति ॥ ६ ॥

भा० का पदार्थ—पुरुष अर्थात् जीवमें देखने की शक्ति होती है । दुद्धिमें दर्शन अर्थात् देखनेमें सहायकारी शक्ति होती है । इन दोनों शक्तियों को एक स्वरूप अर्थात् अभिन्न मानना आस्मिता कलेश कहां ता है ऐसे ही भोग्य शक्ति और भोक्तृ शक्तियों को जो अत्यन्त ही भिन्न हैं और जो अत्यन्त असंकीर्ण अर्थात् जिन का परस्पर कुछ भी मेल नहीं है विभाग इति अर्थात् एक मान कर भोग की कल्पना करना है उसे अस्मिता कहते हैं । जब जीव को परमेश्वर वा अपने रूपकी प्राप्ति अर्थात् शान होता है तब तो द्वक्षशक्ति और दर्शन शक्ति ऐवलय को प्राप्त हो जाती हैं फिर भोग ही पाया होगा, ऐसा ही अन्यव भी कहा है । बुद्धि से ईश्वर और जीव को आकार, शील और विद्या विकार से अभिन्न देखता हुआ उनमें आत्मबुद्धि मोह से करे ॥ ६ ॥

भा० का भा०—पुरुष अर्थात् ईश्वर, और जीव इनमें देखनेकी शक्ति है और बुद्धिमें विज्ञानेकी शक्ति है इन दोनोंको एक मानना इसेही आस्मिता कलेश कहते हैं, जिस प्रकार से भोग्य अर्थात् भोग करने के योग्य और भोक्तृ शक्ति अर्थात् भोग करने घाले की शक्ति जो परस्पर अति ही भिन्न और अत्यन्तही असंकीर्ण है उनको एक मानना । ऐसा ही अन्यव भी लिखा है कि बुद्धि से परम पुरुष अर्थात् ईश्वर वा जीवको लक्षण विद्यादिसे विभक्त अर्थात् भिन्न विना विचारे तिन में एक बुद्धि करना केवल भूख्यता ही है ॥ ६ ॥

३ सू०—इस सूत्र का अभिवार्य यह है कि आत्मा और बुद्धि को एक मानने को अस्मिता कहते हैं ॥ ६ ॥

भा० श०—दृक्शक्तिः पुरुषः दर्शनशक्ती रजस्तमोभ्यामनभिभूतः सात्त्विकः परिणामोऽन्तःकरणरूपोऽनयोर्भावन्यभोक्तव्येन जड़ाजड़त्वेन तत्त्वाभिन्नरूपयोरेकतासिमानोऽस्मितेति उच्चर्ते । यथा प्रकृतिर्वैद्युतः कर्तृत्वभोक्तव्यरहिताऽपि कर्त्ताहं योग्यहमित्यभिमन्यते सोऽयमस्मिताख्योविपर्यासः क्लेशः ॥ ६ ॥ रागस्य लक्षणमाह ।

भा० श० का भा०—दृक्शक्ति पुरुष है और दर्शनशक्ति रजोगुण और तमोगुण के संसर्ग से रहित केवल सत्त्वगुण से युक्त अन्तःकरण फहाता है यह दोनों भोग्य और भोक्ता, परम् जड़ और चैतन्य आदि गुणों में अत्यन्त ही भिन्न भान होते हैं । उन दोनोंमें जो एकता का अभिमान है उसे अस्मिता कहते हैं । जैसे आत्मा कर्ता और भोक्ता नहीं है तो भी पुरुष में काव्यों का कर्ता हूं, भोक्ता हूं, ऐसा मानता है । यही क्लेश अस्मिता कहाता है ॥ ६ ॥ राग का लक्षण कहते हैं ।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सू० का पदा०—(सुखानुशयी) सुख का अनुस्मरण पूर्वक जो सुख की प्रवृत्ति होती है (रागः) राग कहाता है ॥ ७ ॥

सू० का भावा०—सुख के साधन को राग कहते हैं ॥ ७ ॥

भा०—सुखाभिन्नस्य सुखानुसृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वायो गर्वः दृष्ट्या लोभः स राग इति ॥ ७ ॥

भा० का पदा०—जिसको सुख का धान है उसको सुख के अनुस्मरण पूर्वक सुखमें अथवा उसके साधन में जो लोभ है वह राग कहलाता है ॥ ० ॥

भा० का भावा०—जिसने कभी सुख भोगा है उसे सुखकी सृति होती है । उस सृति से जो सुख के साधनों में लोभ होता है उस ही लोभ से राग कहते हैं ॥ ७ ॥

भा० व०—सुखमनुशेत इति सुखानुशयी सुखशस्य सुखानुस्मृति पूर्वकः सुखसाधनेषु तृष्णारूपो गधीं रागसंक्षेपः ॥७॥ द्वे प्रत्यक्षणमाद्

भो० व० का भा०—सुखके पश्चात् जो होता है उसे सुखानुशयी कहते हैं, जिस पुरुप को सुख का प्राप्त है उसको सुख का स्मरण होता है फिर सुख में जो लोभ होता है उसही लोभ को राग कहते हैं ॥ ७ ॥ द्वे प्रत्यक्षण कहते हैं—

दुःखानुशयी द्वेपः ॥ ८ ॥

सू० का पदार्थ—(दुःखानुशयी) दुःख का अनुस्मरण (द्वेपः) द्वेप कहाता है ॥ ८ ॥

सू० का भावा०—दुःख के साधन को द्वेप कहते हैं ॥ ८ ॥

भा०—दुःखभिक्षस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने यायः प्रतिशोभन्युर्जिवांसा क्रोधः स द्वेपः ॥ ८ ॥

भा० का भावा०—दुःख के जानने वालोंको दुखानुस्मरण पूर्वक दुःखमें अथवा उसके साधन में जो क्रोध या अप्रीति वह द्वेप है ॥ ८ ॥

भा० का भावा०—दुःख को जानने वालोंका दुःख स्मरण पूर्वक उसके प्रति जो क्रोध उसे द्वेप कहते हैं ॥ ८ ॥

भो० व०—दुःखमुक्तलक्षणं, तदभिक्षस्य तदनुस्मृतिपूर्वकं तत्स्वाधनेषु अनभिलिपतो योऽयं निन्दात्मकः क्रोधः स द्वेपत्वाणः क्लेशः ॥ ८ ॥ अभिनिवेशस्य लक्षणमाद्—

भो० व० का भाव्य—दुःख का लक्षण पहिले कह छुके हैं उस दुःख का जिस को प्राप्त है उसको दुःखका स्मरण होता है फिर वह दुःख के साधनों को इकट्ठा करने की इच्छा नहीं करता वरन् उसकी निन्दा करता है निन्दाकृप जो क्रोध होता है उसही को द्वेप कहते हैं ॥ ८ ॥ अगले सूत्र में अभिनिवेशका लक्षण कहा जायगा ।

स्वरसवाही विद्युषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥९॥

सू० का पदा०—(विद्युषोऽपि) परिष्ठितोंको भी (स्व-

रसधार्ही) अपने स्वभाव को प्राप्त कराने वाला (तथा) तैसे (अरुहः) प्राप्त (अभिनिवेशः) अभिनिवेश घटेश है ॥ ६ ॥

सू० का० भाया०—जो सूर्खं तथा पण्डितों को पक समान प्राप्तहो उसे अभिनिवेश कहते हैं ॥ ६ ॥

भाष्य—सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्णित्या भवति मा न भूर्बं शूयासमिति । नचानन्तु भूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते स चायाभिनिवेशः क्लेशः स्व-रसधार्ही कुपेरपि जातपात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैः सम्भावितो मरणात्राश उच्छेदद्वय् यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणादुःखमनुशापयति । यथा चायपत्त्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशसत्था विद्वपोऽपि विज्ञा तपूर्वीपरान्तस्य रुद्धः । कस्मात्-समानादि तयोः कुशलाङ्कशलं चोः मरणादुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ६ ॥

भा० का पदा०-सब प्राणियों को यह आत्मा अर्थात् अपने जीवको आशीर्वाद अर्थात् दित्यिन्तन सदैव होता है। मैं न हूं यह नहीं किन्तु मैं हूं नहीं जिसने मरने के दुःख को अनुभव नहीं किया उसको यह हितचिन्ता नहीं हो सकती । और इस आशीर्वाद से पूर्वजन्म का अनुभव प्रतीत होता है यह अभिनिवेश क्लेश कहाता है । तत्क्षण उत्तर न्य हुए अपने रस में मरन कीड़े को भी यह हितचिन्ता होती है । अतरक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण से कीड़े ने मरने के दुःखको नहीं समझा मरने से शरीरसत्ता भंग हो जाती है यह पूर्वजन्म में भोगे हुए मरने के दुःखको। अनुमान कराता है यह भय जैसा अत्यन्त मूर्खों में ही जाता है वैसा ही पूर्वोपर को जानलेवाले विद्वानों में भी देखाजाता है । क्योंकि सूर्खं और विद्वान्को मरण दुःख के अनुभव से यह संस्कार तुल्य ही होता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—प्राणिगत को आत्महित चिन्तन जरूर रहता है अर्थात् सब को यही चिन्त रहती है, कि मैं कभी न मरूँ, परन्तु विना मृत्यु का दुःख भोगे यह अपना हित चिन्तन होना ही असम्भव

है, इस से पुनर्जन्म सिद्ध होता है मृत्यु का भय प्राणिमात्र में देखते हैं जो भय प्राणियों में समान पाया जाता हो उसे अभिनिवेश कहते हैं, यदि कोईकहे कि मरण समयमें दूसरेका दुःख देखकर प्राणियों का भयभीत होना। कहा जाय तो अभी उत्पन्न मुआ कीड़ा मृत्यु से पर्याप्त दूरता है ? उस कीड़े को प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण से मृत्यु के दुःख की सिद्धि नहीं हुई परन्तु उसको भय होता है इस से सिद्ध भया कि पुनर्जन्म अवश्य है, इत्यादि सर्व समान व्यापि दःख को अभिनिवेश कहते हैं ॥ ६ ॥

भो० श०—पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखानुभववासनावलाद्भयरूपः समुपजायमानः श्रीरविषयादैर्मम वियोगो माभूदिति आन्वहमनु-घन्धरूपः लर्वस्यैवा आकुमेद्ग्रहापर्यन्तं निमित्तमन्तरेण प्रवर्त्तमा-नोऽभिनिवेशात्यः क्लेशः ॥ ६ ॥

तदेवं व्युथानस्य क्लेशात्मकत्वादेकोशताभ्यासकामेन प्रशमं फ्लेशाः परिहर्त्याः । न चाकातानां तेषां परिहारः कर्तुं शशध इनि तज्ज्ञानाय तेषामुद्देशं लक्षणं क्लेश विभागद्वाग्निधाय इथूलसूदम भेद भिन्नानां तेषां प्रदाणोपायविभागमात् ।

भा० श० का भा०—पूर्वजन्म में जो मरने का दुःख भोगा है उस के अनुभव और वासना के बल। से जो भय होता है अर्थात् प्रत्येक प्राणी को यह चाहता है कि शरीर से और विषयों से मेरा वियोग न हो, यह कीड़े से ब्रह्मा पर्यन्त को जो भय होता है उस ही को अभिनिवेश क्लेश कहते हैं ॥ ६ ॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

सू० का प०—(ते) वे दुःख (प्रतिप्रसवहेयाः) उत्पन्न होते ही त्याज्य और (सूक्ष्माः) सूक्ष्म हैं १०

सू० का भा०—पूर्वोक्त पञ्च क्लेश प्रतिप्रसवहेत्र अर्थात् उत्पत्ति के साथ ही त्याज्य और सूक्ष्म हैं ॥ १० ॥

भाष्य—ते पञ्च क्लेशा दग्धवीजकल्पा योगिनश्चिनाधि-कारेचेतसि प्रलीने सहतेनैवासतङ्गच्छन्ति स्थितानान्तु वीज-भावोपगतानाम् ॥ १० ॥

भा० का प०—वे पांचों क्लेश द्रग्ध वीज के समान योगी के न्यत्रिविधिकार योग में चित्त लीन होने पर उसके ही संग अस्त हो जाते हैं। वीज भाव से स्थित होने पर उनके नाशका उपाय कहते हैं।

भा० का भा०—पूर्वोक्त पञ्च क्लेश द्रग्ध वीज के समान योग में चित्त लीन होने से उस ही के संग अस्त हो जाते हैं। वीज भाव से स्थिर रहने पर उनके नाश का उपाय अगले सूत्रमें कहा है ॥१०॥

सूत्र—सप्ताधि पाद में जो द्वाधि आदिक चित्त के विक्षेप और योग के विद्वन वर्णन किये थे उन सब के मूल यही ५ क्लेश हैं। अतएव योगाभिलापी को प्रथम क्लेशों को त्यागना चाहिये परन्तु विना यथार्थ रूप से जाने किसी वस्तु का त्याग वा संभ्रह नहीं होता, इस लिये उनके लक्षण, उद्देश और उत्पत्ति स्थान को वर्णन करके अब उन के त्याग का उपाय कहते हैं ॥ १० ॥

किन्तु योग से उक्त क्लेश जब सूदम अर्थात् निर्वल हो जाय तब उन्हें प्रतिलोम परिणाम के छारा दूर कर दे। सारार्थ यह है कि योगी के क्लेश निर्वाज वा द्रग्ध वीज के समान हो जाते हैं फिर उनका प्रति प्रसव अर्थात् जन्म नहीं होता है ॥ १० ॥

भो० वृ०—ते सूक्ष्मः क्लेशा वे चासनारूपेणैव, स्थिताः स्व-वृत्तिकपं परिणाममारभन्ते, ते प्रतिप्रसवेन प्रतिलोमपरिण मैन श्वयस्यक्लव्याः । स्वकारणप्रसिद्धायां कृतार्थं सवासनं चित्तं यदा प्रविष्टं भवति तदा कुतस्तेषां निर्मूलानां सम्भवः ॥ १० ॥ स्थूलानां हान्युपायमाह ।

भो० वृ० का भा०—इस शीति से चित्त की चञ्चलता ही क्लेश का है अर्थात् क्लेशोंके विना चित्तमें चञ्चलता नहीं होती है। इस कारण जिसे चित्त एकाग्र करना हो उस को चाहिये कि पहले क्लेशोंको दूर करे परन्तु विना क्लेशों को जाने उनका छोड़ना असम्भव है इस कारण क्लेशों के लक्षण उत्पत्तिस्थान और भेदों को वर्णन करके अब उनके प्रत्येक स्थूल भेद के नाश का उपाय कहते हैं।

वह सूक्ष्म रूप के क्लेश जो चासनारूप से चित्त में रहते हैं आप-नो शृति के अनुसार ही चित्त को घदल देते हैं इस कारण उन क्लेशों वा त्यागना चाहिये, जब वह अस्मिता आदि क्लेश अपने कारणकर

वित्त में लग होजाने हैं तथा किर उनका प्रायुर्गिव नहीं होना है ॥१०॥
अब इन्होंने के नाम का उपात्र कहते हैं ।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

दू० का पदार्थ—(ध्यानहेयाः) कियायोग से त्या-
जय है (तद्वृत्तयः) क्लेशकी वृत्तियाँ ॥ ११ ॥

सू० का भाग यह पञ्च क्लेश की जो वृत्तियाँ हैं वे पूर्व ही किया
योग से होए आर्थित् त्यागने योग्य हैं ॥ ११ ॥

क्लेशानां या वृत्तयः स्युत्वास्ता; कियायोगेन तनूकृताः स
त्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत् द्वृद्धीकृता यावद्गच्छी
जकल्पा इति । यथावद्वाणां स्थूलोमत्तः पूर्वनिदधूर्यते पश्चात्
सूक्ष्मां पत्नेनोपायेन चापनीयते तथा स्वरूपप्रतिपक्षाः स्थूलाः
द्वृत्तयः क्लेशानाम् सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षाइति ॥ ११ ॥

भा० का पदार्थ—क्लेशों की जो वृत्तियाँ स्थूल हैं वे कियायोग
से सूक्ष्म की हुईं विचारसे ध्यान से त्यागने योग्य हैं, जयतक सूक्ष्म
हीं जयतक दण्डवीज के समान हों । जैसे वस्त्रों का ऊपर का मैल प्र-
थम धोया जाता है तिम के पीछे सूक्ष्म मल यत्न और उपाय से दूर
करते हैं तैसे ही क्लेशों की अल्प प्रतिक्रिया करने वाली स्थूलवृत्ति हैं
सूक्ष्म वृत्ति वे हीं जो महाविद्ध फरने वाली हैं ॥ ११ ॥

भा० का भा०—क्लेशों की वृत्तियाँ जो स्थूल हैं और कियायोग
से सूक्ष्म हो रही हैं, वे विचार तथा ध्यान से त्यागकरने योग्य हैं ।
जयतक सूक्ष्म वा दण्ड वीज के समान हों जैसे वस्त्रों का स्थूल मल
प्रथम धोया जाता है, पश्चात् सूक्ष्म मल यत्न और उपाय से दूर
किया जाता है, वैसेही जिनका अहप प्रभाव है वे स्थूलवृत्ति और
जिनका वृहत् प्रभाव है वे सूक्ष्मवृत्ति हैं । इन दोनों का वर्णने वाली
विचार और ध्यान के द्वारा त्याग करे ॥ ११ ॥

सू०—तात्पर्य यह है कि प्रतिदिन ध्यानका अभ्यास करने से
क्लेशों की स्थूलवृत्ति अर्थात् शोक, मोहादि दण्डवीज के समान हो-
जाती है ।

भो० व०—तेषां क्लेशानामरब्धकार्थाणां वा: सुखं दुःखं मोहां
तिका दृच्यस्तां द्वयाननव विच्छिन्नत्राप्रतात्क्षणेन हेया हातव्या इत्यर्थः
विच्छिन्नत्रेकर्माभ्यासमावैषेव स्थूलत्वात्तासां निवृत्तिभवति । यथा
घरुदादौ स्थूलो मैलः प्रकालनभावेण्येव निवृत्तते, यस्तत्र सूक्ष्माणशः स
तैस्तैरुपावैरुत्तापनं प्रभृतिभिरेव निवृत्तयितुं शक्यते ॥ १२ ॥

एवं क्लेशानां तत्त्वमभिधाय कर्माशयस्याभिधातुमाह ।

भो० व० का भा०—जिन क्लेशों का कार्य आरम्भ हो गया है
उनकी जो सुख, दुःख और मोहज्जरी वृचि हैं उनको द्वयान से नष्ट
करना चाहिये, अर्थात् द्वितीयकी एकाप्रता रूप जो द्वयान है उससे उन
द्वितीयों को रोकना उचित है, विच्छिन्न को योगाभ्यास में लगाने मात्र
से ही क्लेशों की स्थूलद्वितीयां निवृत्त हो जाती हैं, जैसे घरुदका स्थूल
मैल धोने मात्र से ही कूट जाता है और मैल का सूक्ष्म भाग अँच पर
चढ़ाने वा अन्य उपायों से कूट सकता है ॥ ११ ॥ उक रीति से क्लेशों
के तत्व को वर्णन करके कर्माशय का वर्णन करते हैं ।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

सू० का पदा०—(क्लेशमूलः) उक्तं पांचों
क्लेशों का मूल (कर्माशयः) कर्मों का समूह (दृष्टा
दृष्टजन्मवेदनीयः) पत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जन्म में
जानने योग्य अर्थात् मोगने योग्य है ॥ १२ ॥

सू० का भा०—पञ्च क्लेश का मूल कर्म समूह ही है और इष्ट
तथा अदृष्ट जन्मों में भोगा जाता है ॥ १२ ॥

तत्र पुण्यायुण्यकर्माशयकामलोभमोहकोधभवः । सद्गु-
जन्मवेदनीयश्चादृष्ट जन्मवेदनीयश्च । तत्रतीव्रसंवेगेन मन्त्रतापः
संपादिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतायद्विष्महातुभावानामाराधनाद्वा
यःपरिनिष्पब्दः । स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति । तथा
तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु चित्तासोपगतेषु वा महातुभावेषु
वा तपस्विसु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशय

सद्य एव परिपूर्वते । यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः । तथा नहुपोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्थकृत्वेन परिणत इति तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्मशयः । क्षीणकलेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्मशय इति ॥ १२ ॥

भा० का भा०—धर्म और अधर्म सम्बन्धी कर्मशय है । काम, लोभ, मोह, कांध का उत्पत्ति स्थान और वह धर्च मान जग्म में भोगने योग्य है तीव्र धेग योग से मन्त्र, तप, और समाधियों से आचरित ईश्वर देवता और महर्पियों की आराधना से जो पूर्ण हो वह शीघ्र ही परिणाक को प्राप्त होता है, फल देता है वह पुण्य कर्मशय है तैसे तीव्र कलेश से भयप्राप्त रोगी और कृपणों में घा विश्वास को प्राप्त हुवे उत्तम पुरुषों में अथवा तपस्त्वियों में घार घार किया हुवा अपकार पाप कर्मशय है घट भी शीघ्र परिणाक होता है, फल देना है जैसे नंदीश्वरकुमार मनुष्य भाव को स्पाग कर देवभाव को प्राप्त भया तैसे ही नहुप भी देवराज होकर निज भावको स्पाग कर तिर्थकृ भावमें प्राप्त भया इनमें नारकीय जीवों का दृष्ट जन्म वेदनीय कर्मशय नहीं है । तथा जिन के कलेश क्षीण होगये ही उनका अदृष्ट जन्म वेदनीय परजन्म में भोगने योग्य कर्म नहीं है ॥ १२ ॥

भा० का भा०—पुण्य और पापकृप कर्मस्तमुण्ड काम, क्रोध, लोभ और मोह से उत्पन्न होता है, पहले प्रकार का है एक दृष्टजन्म वेदनीय और दूसरा अल्पजन्मवेदनीय, इन में से जो कर्म तीव्र संधेग नामक योग से घा वेद से अथवा धर्मानुष्ठानसे किंश परमेश्वर या महर्पि आदि की सेवा से जो कर्म खिद्द होते हैं, वह शीघ्र ही फल देते हैं और: जो कर्म तीव्र फ्लेश से किसी दीन को स्ताना आदि अथवा किसी महजन भद्रतमा का धारम्यार अपकार किया जाता है, वह भी शीघ्र ही फल देता है । जैसे नन्दीश्वर कुमार मनुष्यता को स्पाग कर देवता हुए ऐसे ही मनुष्य भी देवयोनि से तिर्थकृ योनिमें प्राप्त हुए जिन कर्मोंसे नरकको प्राप्त होता है उनका फल इस जन्म में नहीं मिलता और जिन योगियों के फ्लेश नष्ट होगये हैं उनके कर्मोंका फल जन्मान्तरमें नहीं मिलता है ॥ १२ ॥

१२ सू०—क्लेशों का मूल कर्मफल है, जो इस जन्म तथा पर जन्म में भोगा जाता है। इस के उदाहरण भाष्यकार ने नन्दीश्वर तथा नहुच को लिखा दिया है परन्तु महाराज भोज ने केवल जाति के परिमाण का उदाहरण विश्वमित्र को भी लिखा है इस से जोन पड़ता है, कि अत्युत्कट शुभाश्रुत कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है।

भा० छ०—कर्माशय इत्यनेन तस्य स्वरूपमभिहितम् । यतो चात्मनाश्रयाद्येव कर्माणि क्लेशमूल इत्यनेन विश्वरणमभिहितम् । यतः कर्माणो शुभाश्रुतानां कर्मणा एव विमित्तम् । द्वाष्टादृष्टजन्मवेदनीय इत्यनेन फलमुक्तम् । अस्मिन्नेव जन्मनि ग्रन्थभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः । जन्मान्वरानुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीयः । तथाहि, कानिचित् शुण्यानि कर्माणि वेष्ठाताराधनादीनितीवस्त्रवेगेन कुतानीहैव जन्मनि जात्याशुभ्योगलक्षणं फलं प्रपञ्चकृत्ति । यथा नन्दीश्वरस्य भगवन्महे-श्वरान्दाधनश्वलादिहैव, जन्मनि जात्याश्रयो विशिष्टाः प्राङ्मूर्त्ताः । एवमन्येषां विश्वमित्रादीनां तपः भावात् जात्याशुभी । केषाविज्ञा तिवेव यथां तीव्रसंवेगेन दुष्टकर्मफलान् नहृष्टादीनां जात्यन्वरादि परिणामः । उर्वश्याश्च कार्यात्मकेयथने लतारूपतया । एवं व्यस्तंसमस्तरूपत्वेन यथायोर्गं योज्यमिति ॥ १२ ॥ इत्यनीं कर्माशयस्य स्वभेदभिंशं फलांमाद ।

भो० छ० द्वा भा०—कर्माशय शब्द से कर्म समुदाय का स्वरूप कहा, इस से सिद्ध हुआ कि कर्म की वासना रूप ही है, क्लेशमूल इत्य शब्द से कर्माशय का कारण कहा क्योंकि शुभ और आशुम-कर्मों के कारण क्लेश ही है। द्वाष्टादृष्टजन्मवेदनीय का अभिप्राय यह है कि इस जन्म तथा परजन्ममें उक्तका फल भोगना होता है, इस जन्म में जो कर्म फल भोगा जाता है, उसे दृष्टजन्मवेदनीय और जो परजन्म में भोगा जायगा उसे अदृष्टजन्मवेदनीय कहते हैं। कोई कोई पुराण देवता का आराधन आदि जो तीव्रसंवेग से किये जाते हैं इस ही जन्म में जाति, आशु और भोग रूप फल को देते हैं जैसे नन्दीश्वर को महादेव अर्थात् ईश्वर के आराधन से उत्तम जाति और आशु और भोग प्राप्त हुए थे ऐसे ही विश्वमित्र ने तप के प्रभाव से उत्तम जाति और आशु कर्म से इसी जन्म में उत्तम जाति की प्राप्ति हुई और ही जाति

है ऐसे ही तीव्रसंवेग से पाप कर्म करने वालों को इस ही जन्म में फल मिलते हैं जैसे नदुष को इस ही जन्म में इन्द्रधनुष से परित छोना पड़ा था उर्वशीका कार्त्तिकेय वनमें लंतारु र में परिणत होना इत्यादि ॥ १२ ॥

सति भूले तद् विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

सू० का प०— (सति भूले) क्लेश भूले रहने से (तद्विपाकः) उन का फल (जात्यायुर्भोगाः) वर्ण-अवस्था भोग हैं ॥ १३ ॥

स० का भा०—यदि फलेशमूल अर्थात् कर्म शेष रहेगा तो उसका फल जाति, आशु और भोग अर्थात् शुभाशुभ होते हैं ॥ १३ ॥

४० भाष्य—सत्सु फलेशेषु कर्मशयो विपाकारम्भी भवन्ति नोच्छुन्न क्लेशभूलः । यथा तु पाधनदः शालितएहुला शादग्धवीजभावाः प्ररोह समर्थ्य भवन्ति नापनीतलुपा दग्धवीजभावा वा, तथा क्लेशावनदः कर्मशयो विपाकप्ररोही भवन्ति नापनीतक्लेशो तप्रसंख्यानदग्धक्लेश वीजभावोऽवेति । सच विपाकलिविभो जातिरायुर्भोगहृति । तत्रेव विचार्यते किंमेकं कर्म एकरण जन्मनः कारणमसैकं कर्मनिकजन्माऽन्नक्षिपतीति । द्वितीया विचारणा किमनेकङ्कर्मानेकजन्म निर्वर्तयति अथा नेकंकमैकजन्म निर्वर्तयतीति । न तावदेकं कर्मेकस्य जन्मनः कारणं कस्मादनाशिकालप्रवितस्यासंख्येयस्यावशिष्टस्यकर्मणः सांप्रतिकस्य च फलक्रमानियमात् अनाशवासो लोकस्य प्रसक्तः सत्वानिष्ट इति । न वैकं कर्मनिकस्य जन्मनः कारणम् कस्मादेकेषु कर्मसु एकैकमेव कर्मनिक स्व जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाकफालाभावः प्रसक्तः स चाप्यनिष्ट इति । न चानेकं कर्मनिकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात्तदनेकजन्मयुगपक्ष संभवतीति क्रमेणैव वाच्यम् । तथाच पूर्वदोषानुपर्यगः । तस्मा उजन्मप्रायणांतरे कृतः पुण्यापुण्यकर्मशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपत्त उर्जनभावेनावहितः प्रायणाभिवक्त एकप्रघट्टकोन मरणं प्रसाध्य संमूलित एकमेव जन्मकरोति, तत्त्वजन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुषकं भवति । तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भीगः संपद्यत इति । असौ कर्मशयो जन्मायुर्भोगहेतुन्वात् त्रिविपाकोऽभिधीयत इति । अत एकभविकः कर्मशय उक्त इति ।

एषजन्मवेदनीयस्थिरेकविषयाकारमभी भोगहेतुत्वात् छिविषयाकारमभी चःयुर्भागेहेतुत्वान् नन्दीश्वरविज्ञानयवद्वेति । क्लेशकर्म विषयाकालमभिनिवैर्तिताभिस्तु धासनाभिरनादिकालसंमुच्चितमिवं चित्तं विषित्री कृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं प्रथिमिरिवाततमित्येता अनेकमवपूर्विका वासनाः । यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकमविक उक्तं इति । ये संस्काराः स्वृतिहेतवस्ता धासनाः ताङ्कालादिकालीनाः इति ।

यस्त्वसावेकमविकः कर्माशयः सनियतविषयाकालानियतविषयाक श्च । तत्र एषजन्मवेदनीयस्य नियतविषयाकस्यैवायं नियमो न त्वद्यजन्मवेदनीयस्यानियतविषयाकस्य । कस्मात्, यो ह्य एषजन्मवेदनीयानियतविषयाकस्य ज्ञाती गतिः । कृतस्याधिपक्षस्य नाशः प्रधानकर्मण्याभिभूतस्य च चिरमध्यस्थाननितितत्त्वकृतस्याधिपक्षस्य नाशो यथा शुक्लकर्माद्यविहैव नाशः कृष्णस्य यवेदमुक्तम् ‘द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकृतस्यैवो राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति तदिच्छुद्ध कर्माणि तुकूटानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेद अन्ते’ । प्रधानकर्मण्याधापनमनम् । यवेदमुक्तम् “स्यात् स्वल्पः सङ्कृतः सपरिहारः सप्रत्यवर्मणः कुशस्य नापकपर्यालम् । कस्मात् कुशलं हि मे वहृष्टन्यदस्ति ब्राय मावार्प गतः सर्वेष्यपकर्यमलर्पं करिष्यतीति” । नियतविषयाकप्रधानकर्मण्याऽभिभूतस्य च चिरमध्यस्थानम् । कथमिति, आवृजन्मवेदनीयस्यैव नियतविषयाकस्य कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम् । न त्वद्यजन्मवेदनीयस्यानियतविषयाकस्य । यत्तद्यजन्मवेदनीयं कर्मानियतविषयाकं तत्त्वस्येदाकार्याणां वाचच्छ्रेदभिभूतं धा चिरमध्युपासीत यावत्समानं कर्माभिव्यजकं निमित्तमस्य न विषयाकामिसुखं करोतीति । तद्विषयाकस्यैव वेशकालनिमित्तानवधारणादियं कर्मगतिविषयाकुर्विकाला चेति । न चोत्सर्गस्यापवादात् निवृत्तिरित्येभविकः कर्माशयोऽनुक्षायत इति ॥ १३ ॥

आ० का पदा०—क्लेश रहने से कर्म समूह फल देने के योग्य होता है उच्छिन्न क्लेशमूल नहीं । जैसे तुष से वेष्टित चावल जिनकी धीजोत्पत्ति नष्ट नहीं भवी पुनः उत्पन्न होनेमें समर्थ होते हैं तुष वज्रित वा दग्ध धीज भाव नहीं तैसे ही क्लेशयुक्त कर्म समूह भी फल देने में समर्थ होता है नकि यतक्लेश अध्यवा कियायोग से जिसका धीज भाव नष्ट होगया है । घट फल इप्रकारका है जाति, आयु और भोग ।

अब यह विचारणीय है क्या एक कर्म पक्षकी जन्मका कारण है अथवा एक कर्म से यहुत जन्म होते हैं दूसरे बात विचारने योग्य यह है क्या अनेक कर्म अनेक जन्मके कारण होते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म के कारण होते हैं इसका उत्तर यह है कि न तो एक कर्म एक जन्म का कारण है, यद्योंकि अनादि काल से सञ्चित हुए आस-ख्य अवशिष्ट कर्मको और धर्तमान कर्म के फलक्रम का नियम न होने से लोगों को यह विश्वास नहीं होता कि यह सञ्चित अवशिष्ट कर्म का फल है अथवा धर्तमान कर्मका ? यह अनिष्ट है । इसीप्रकार एक कर्म अनेक जन्म का भी कारण नहीं होसकता । क्योंकि अनेक कर्मों में जब एक ही कर्म अनेक जन्म को कारण है तो जो कर्म अवधिरहे, उनके विपाक काल का अभाव प्रसक्त होता है और यह भी इष्ट नहीं ।

अब रही दूसरी विचारणा क्या अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण है अथवा अनेक कर्म एक ही जन्म का कारण है ? इसका उत्तर देते हैं-अनेक कर्म भी अनेक जन्मके कारण नहीं होसकते । क्योंकि वे अनेक जन्म एक साथ नहीं होसकते । इसलिए पूर्व दोष का यहां भी अनुपम है । इसलिए जन्म और मरण के बीच में कियेहुये शुभाशुभ कर्मों का सञ्चय बड़ा ही विवित्र है, कोई उनमें प्रधान कर्म है, जो सद्यः फल देते हैं, काई उपसर्जन ! भावसे अवस्थित होते हैं, जो विलम्ब से फल देने वाले होते हैं । अतएव चौथा पक्ष ही ठीक है कि अनेक कर्म एक जन्मके कारण होते हैं । वे प्राणीके मरण समय कर्माशय में सञ्चित होकर जन्मका कारण होते हैं उन्हींके अनुसार आयु भोगकी व्यवस्था होती है । निदान यह कर्माशय जन्म, आयु और भोग का हेतु होने से विविपाक कहलाता है अतएव कर्माशय एक ही जन्मका कारण है ।

अष्ट जन्मवेदनीय कर्माशय ही उक्त तीन प्रकार का है, दृष्ट जन्म वेदनीय कहीं केवल भोग हेतु होने से एक विपाक, जैसा कि नायुष का, कहीं आयु और भोग का हेतु होनेसे द्विविपाक, जैसा कि नन्दीश्वर का होता है ।

क्लेश और कर्म फल के अनुभव से निर्मित वासनाग्रोंसे अनादि समय से मूर्च्छन हुआ चित्त विवित्र हुआ चारों ओर से

मच्छुली के जाल के समान ग्रन्थियों में फंसा हुआ है ये अनेक जन्म की वासनायें हैं । और जो यह कर्म समूह है यह एक ही जन्म का कहा है जो संस्कार स्मृति के हेतु है वे वासना अनादि काल की हैं ।

यह जो एक जन्म का कर्मशिय, वह दो प्रकार का है—एक नियतविपाक, दूसरा अनियतविपाक । उन दों नों में इलौही जन्म में भोगने योग्य नियत फलवाले कर्मों का ही यह नियम है अदृष्टजन्म-वेदनीय अनियत विपाकका नहीं क्योंकि जो अदृश्य जन्म द्वारा जानने योग्य अनियत फलवाला है उसकी तीन प्रकार की गति है एक तो किये हुए कच्चे कर्मफल का नाश दूसरा प्रधान कर्ममें मिलजाना अथवा नियतविपाक प्रधानकर्म द्वारा अभिभूत होकर चिरकाल तक स्थिर रहना इन तीन प्रकार की गतियों में किये हुवे कर्म के कच्चे फल का नाश जैसे पवित्र कर्मों के उदय होने से इसकी अगत में अपवित्र कर्मों का नाश होजाता है । जिसके प्रमाण में यह कहा जाता है ‘कर्मों की दो दो गति अथवा राशि समझनी चाहिये । एक पाँकर्मों की राशि है जोकि पुण्यकृत कर्मों का नाश करती है, दूसरी पुण्यकृत कर्मों की राशि है जो पापकृत कर्मों का नाश करती है । इसलिये सुकर्म, करने की इच्छा करे अब इही अदृष्ट जन्मवेदनीय की दूसरी गति अर्थात् प्रधान कर्म में अप्रधान का समावेश, जिसके विषय में कहा गया है—“प्रधन कर्म में यदि योऽप्ता सा संकट भी होजाय तो उसका परिहार या प्रतिकार होसकता है और वह उस के फल में धारा नहीं ढाल सकता । यदि प्रधान कर्म उत्कर्ष के लिए है तब उसमें अप्रधान का कुछ अंश अपकर्म के लिये नहीं होसकता ।

अब इही नीसरी गति अर्थात् नियत विपाक प्रधान कर्म द्वारा अभिभूत की चिरकाल तक अवस्थिति, यदि क्योंकर होती है अदृष्ट जन्मवेदनीय नियतविपाक कर्म का ही मरण अभिव्यक्ति का कारण कहा है न कि अनियत विपाक का । जिसका कोई फल नियत नहीं ऐसा अदृष्ट जन्मवेदनीय कर्म नाएं हो वा संकीर्ण हो वा किसी से अभिभूत हो, चिरकाल तक रहता है । यदि तक इसका कोई अभिव्यक्ति कर्म निभित होकर इसे फलोन्मुख नहीं करता । फलके ही समझ देश, काल और निभित के अनुभाव से यह कर्म-

नति वही ही विविध और दुर्दोष है । उत्तरसर्ग की अपवाह से निषेचि नहीं होती इसलिये एकजन्म का कर्माशय ही इसका कारण है ॥ १३ ॥

भा० का भा० कलेशीं की विद्यराजन्तो में कर्मों के फल उनके आत्मग कर्त्तव्याते होते हैं, जैसे कांवलों पर जब तक त्रुप (छिलका) रहता है नव तक उनमें उत्पन्न होने वाली शक्ति रहती है, परन्तु जब उनका छिलका उतार दिया जाता है तब उनमें उत्पन्न होने की शक्ति नहीं रहती । ऐसे ही जबतक एक कर्मफल में क्लेश रहते हैं, तब तक फल कलेशीं को उत्पन्न करते हैं, परन्तु जिस कर्माशय में छुलेशीं का अभाव हो गया है, उससे पुनः फ्लेशीं का उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव है । कर्म विपाक तीन प्रकार का है, एक जाति, दूसरा आयु, तीसरा भोग, अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है, कि एक कर्म से एक जन्म होता है वा एक कर्म से अनेक जन्म होते हैं । दूसरा प्रश्न नहीं है, कि अनेक कर्म अनेक जन्म को देते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म को देते हैं । इसका उत्तर यह है, कि एक कर्म एक जन्मका दाता नहीं है, यद्योंकि अनादि कालके इकट्ठे हुए असंख्य कर्मों का फल मिलने में अविद्यम होगा अर्थात् यदि कहा जाय कि परमेश्वर केयल एक ही जन्म में एक कर्म का फल देता है तो अनादि काल से जो कर्म इकट्ठे हैं उन के फल देने में अनियम होगा और मनुष्यों को घयराहट भी होगी और वह अनाश्वास अनिष्ट है । इसी कारण एक कर्म से अनेक जन्म भी नहीं हो सकते हैं यद्योंकि जब एक ही कर्म से अनेक जन्म हो जायंगे तो अनेक कर्म निप्पल होंगे, यद्योंकि एक जन्म में असंख्य कर्म भी मनुष्य करता है तो सब के फलों का भोगना असम्भव होगा । ऐसे ही अनेक कर्म अनेक जन्मों के दाता भी नहीं हो सकते हैं, यद्योंकि अनेक जन्मों का एक समाज में होना ही असम्भव है । तब क.हिवेगा कि कर्मशः होंगे तब वही पूर्वोक्त दोष आवेगा, इस लिये जन्म ग्रांसि के अनन्तर जो कुछ शुभाशुभ कर्म किये जाते हैं वे सब एक समूह में मिलकर प्रधान और, अप्रथान रूप में जन्म से भरण पर्यन्त एक ही जन्म देते हैं वह जन्म उसही कर्म समुदाय से अल्पायु वा दीर्घायु होता है और उस अवस्था में उस ही कर्म समुदाय से जीव भोग करता है इस वास्ते यह कर्म समुदाय जन्म,

आयु और भोग का हेतु होने से विविध कारण होता है। एक जन्म का आटम करने वाला तथा समात करने वाला कर्म समूह कहा। इसका दृष्टान्त नन्दीश्वर और नहुप है कलेश और कर्म विपाक की अनुभव से वनी हुई वासना से मूर्छित हुआ चित्त चित्रलिखित के समान रहता है, जो स्मरण करने वाले संकार हैं उन्हें वासना कहते हैं वह वासना अनादि है, क्योंकि कर्म और संस्कार अनादि हैं। पूर्व जो एकमनिक (एक जन्म का देने वाला) कर्मसमूह कहा था वह दो प्रकार का है। एक नियतविपाक और दूसरा अनियतविपाक उक्तनियम नियतविपाक कर्मसमूह का है क्योंकि जो अटए जन्म वेदनीय अर्थात् अनियत विपाक कर्मसमूह है उसकी गति तीव्र प्रकार की है। एक अपन्त्र फल का नाश, दूसरी प्रधान कर्म में संयोग, तीसरी प्रधान कर्मफल से श्वरोघ द्वाकर चिरकाल तक विषफल रहना। जैसे शुद्ध कर्म के उदय होने से दुष्कर्म यहाँ नाश हो जाता है—तिथा भी है कि कर्म की दो राशि समझनी चाहिये एक पुण्यकृत, दूसरी पापकृत ॥ १३ ॥

भो० द३०—मूलसुकलत्त्वाणः कलेशाः । तेष्वनभिभूतेषु सत्त्वु कर्मणां कुशलाकुशलरूपाणां विपाकः फलं जात्यायुभोगा भवन्ति । जातिर्मनुष्यत्वादिः । आयुष्विरकालमेकशरीरसम्बन्धः । भोगा विषया इन्द्रियाणि सुखसंवित् दुखसंविच्छ । कर्मकरणमावयोधनव्युत्पत्त्या भोगशब्दस्य । इदमत्रतात्पर्यम् विच्चभूमावनादिकालसक्तिः । कर्मवासना यथा पाकमुपायान्ति तथा तथा गुणप्रधानभावेन स्थितां जात्यायुमें गलकण्णं स्वकारर्यमारमन्ते ॥ १३ ॥ उकाम्यं कर्मफलत्वेन जात्यादीनां स्वकारणकर्मनिसारिणां कार्यकर्तृत्वमाद ।

भो० द३० का भा०—जिन कलेशों के लक्षण पूर्व कह लिए हैं, जब तक वह वर्त्तमान रहते हैं, तब तक अच्छे और बुरे कर्मों के फल, जाति, आयु और भोग होते हैं। जाति अर्थात् मनुष्यत्व और पश्चल्य आदि (साधमयैषद्व्याख्यां प्रत्यवस्थानं जातिः) जिस समुदाय की व्यक्तियों के अनेक गुण परस्पर मिलते हैं उस समुदाय का नाम जाति है। आयु का अर्थ यह है कि चिरकाल तक जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध रहना। भोग का अर्थ है विषय, इन्द्रिय, सुखशान और दुःखशान। सुख और दुःखादि विषय कर्म करने के भावों को जागृत करते हैं इस कारण वही भोग शब्द के

लक्ष्यार्थ हैं, चित्त में जो भ्रनादिकाल से कर्मों की चासना संचित रहती है वह ज्यों ज्यों परिपक्ष होती जाती है जैसे ही तैसे प्रकृति के सत्य रज और तम आदि गुणों की प्रश्नानता से जाति, आशु और भोग अपने अपने कार्यों को आरम्भ करते हैं ॥ १३ ॥ उक्त जाति आदि कर्मों के फल हैं इस कारण कर्मों के अनुसार ही फल भी देते हैं ।

तेह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

सू० का ४०—(ते) वे (ह्लादपरितापफलाः) आनन्द और दुःख फलयुक्त हैं (पुण्यापुण्यहेतुत्वात्) पुण्य और पाप हेतु होने से ॥ १४ ॥

सू० का भा०—ये जाति, आशु और भोग आनन्द और दुःख फल देने घाले हैं, पर्योकि उनका हेतु पुण्य और पाप है ॥ १४ ॥

ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला अपुण्यहेतुका दुःख फला इति । यथाचेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विपयसुखकालो ऽपि दुःखप्रस्तपेव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥ १४ ॥ कथंतदृप-पाधते ।

भा० का भा०—ये जाति, आशु, और भोग पुण्यमूल घाले सुख-फल देनेवाले हैं, पापमूल घाले दुःख फल घाले हैं जैसे ये दुःख अधिय हैं ऐसे ही विपयसुख कालमें भी योगी को अधिय (दुःख) ही है । पर्यो कर दुःख है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

भा० का भा०—ये जन्म, आशु, भोग पुण्यहेतुक सुखफल देनेवाले और पापमूलक दुःख फलवाले हैं जैसे दुःख पापात्मक है ऐसे ही सुखकाल में भी योगी को पापमूलक होता है वह ऐसे उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

सू०—जगत् मैत्कर्म दो ही प्रकार के होते हैं, एक पुण्यरूप अर्थात् शुभ कर्म, दूसरे पापरूप अशुभ कर्म, इन्हीं से जन्म, आशु और भोग होते हैं । इस कारण से जन्म, आशु और भोग भी सुख और दुःख स्वरूप ही होते हैं । पुण्य कर्म से सुखस्वरूप होते हैं।

और पापसे दुःख स्वरूप होते हैं। परन्तु यह भेद सामाज्य मनुष्योंकी हाइ में होते हैं योगी को नहीं सो अनले सूक्ष्म में दिखलाते हैं।

ओ० दृ०—द्वाद०: शुखं परितापो दुःखं, तौ फलं येऽपां ते तथोक्तः । पुण्यं छुश्लं कर्म तद्विपरात्मपुण्यं ते पुण्यापुण्ये कारणे येऽपां तेपां आवस्तसमादेतदुक्तं भवति पुण्यकर्माद्या जात्यायुर्भागः । हलादफला अपुण्यकर्माद्यधास्तु परितापफलाः । एतच्च प्राणिमा आपेक्षतया द्वैविध्यम् ॥ १४ ॥ योगिनस्तस्वर्वं दुःखमित्याह

ओ० य० का भा०—हलाद शुख को और परिताप दुःख को कहते हैं अर्थात् जाति, आशु और भोग सुख और दुःख के दायक होते हैं। अच्छे कर्मको पुण्य और बुरे कर्म को अपुण्य वा पाप कहते हैं, इस सूक्ष्म का फलितार्थ यह है, कि पुण्य कर्म से आरम्भ हुए जाति, आशु और भोग शुख के देने वाले और पाप कर्म से आरम्भ हुए जाति आयुर्द्वारा भोग दुःख के देने वाले होते हैं ॥ १४ ॥ परन्तु योगी सबही को दुःख समझते हैं, यह अगले शूल में कहा जायगा ।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुरुशृतिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

सू० का पदा०—परिणामतापसंस्कारदुःखैः । परिणाम ताप संस्कार और दुःखों से (गुणवृत्तिविरोधात्), सत्त्वादि शुणों के जन्म विरोध से (दुःखमध) दुःख ही है (विवेक युक्त योगी को) ॥ १५ ॥

सू० का भा०—परिणाम, ताप, संस्कार और दुःखों से तथा शुणों के वृत्तिनिरोध होने से जो होता है उस सबं को विवेकशील दुःख ही मानते हैं ॥ १५ ॥

व्या० हे० का भा०—सर्वस्यार्थं रागानुविद्यथेतनाचेतनं साधनाधीनः द्विवानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः । तथा च द्वे द्विदुःखसाधनानि मृशति चेति द्वे परोद्वक्त्रोप्यस्ति कर्माश-

यः । तथा चोक्तम् - 'नानुपहत्पभूतान्युपभोगः सम्भवतीति हिसाङ्कं' तोऽप्यस्ति शरीरः कर्माशयः' इति । विषयसुखं चाविद्ये त्यक्तं द्यु । या भोगेचिन्द्रियाणां त्रृसेहपशान्तिः तत्सुखम् । या लौल्यादनुपशा नितस्तद्दुःखम् न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैत्यर्थं कर्तुं शक्यम् । कस्मात्, यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति, तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति । स खल्वर्थं वृश्चिकविपभीत इत्राऽऽशीविचेण दृष्टे यः सुखार्थी विपाकुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति । एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखात्मस्थायामपि योगिनमेव विलक्षनाति ।

अथ का तापदुःखना, सर्वस्य द्वे पानुविद्यश्चेतनाचेतनसा धनार्थीनस्तापानुभव इति तत्रास्ति द्वे पजः कर्माशयः । सुखमाधानानि च पार्थीयमानः कायेन वाचा यनसा च परिस्पन्दते ततः परमनुशृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहीढाभ्यां धर्माधर्माद्युभवचिनोति । स कर्माशयो जोभान्मोहात्त्वं भवतीत्येषा ताप दुःखतोच्यते । का पुनः संस्कारदुःखता, सुखानुभवात्मुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति । एवकूर्मर्घ्यो विषया केऽनुभूत्यमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयमचय इति ।

एवं मिदमनादिदुःखस्रोतविप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वाद्दुद्देश्यति कस्मात्, अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति । यथोर्णीतन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति न चान्येषु गात्राश्यवेषु, एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पे योगिनमेव विलक्षनन्ति नेतरं स्प्रतिपत्तारम् । इतरन्तु स्वकर्मोपहतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं त्यक्तं त्यक्तमुपादानमनादि वासनाविचित्रया विचकृत्या समन्तोऽनुविद्यमिवाविद्यया इतत्व्य एवाहङ्कारममकारानुपातिनज्जना तं जातं बाह्याध्यात्मिको भयनिमेत्तास्त्रिपत्रीणस्तापा वानुपज्जनते ।

तदेवमनादिमादुःखस्तोतसा व्युत्थापानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा
योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यते इति ।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । प्रख्याप्रवृ-
त्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा शान्तं धोरं
मूढं वः प्रत्ययं त्रिगुणमेवारमन्ते चत्तंच गुणवृत्तिमिति क्षिप्रपरि-
णामित्तिरूपम् । रूपातिशयाचृत्यतिशयाश्च परस्परेण विरुद्ध्य-
न्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह भवत्तन्ते । एवमेते गुणा इतरे-
तराश्रयेणोपार्जितसुखं दुःखमोदप्रत्ययाः सर्वं सर्वरूपा भवन्तीति,
गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्मात् दुःखमेव सर्वं
विवेकिन इति ।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभाववीजमविद्या । तस्या
श्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम् रोगो
रोगहेतुरारोग्यं भैपञ्चयमिति । एवमिदमपि शास्त्रतुर्व्यूहमेव ।
तथथा संसारः संक्षिप्तहेतुमेत्क्षो मोक्षोपाय इति तत्र दुःखवहुलाः
संसारो हेयः । प्रधानशुद्धयोः संयोगो हेयहेतुः । संयोगस्यात्यन्ति-
की निवृत्तिर्हीनम् हानोपायः सम्यग्दर्शनन्तत्र हातुः स्वरूपमू-
पादेयं वा हेयं वा न भवितुमेहतीति हांने तस्योच्चेदनादप्रसंगं
उपादानेच हेतुवादः । उभयप्रत्याख्याने शाश्वतवाद इत्येतत्स-
म्यग्वर्णनम् ॥ १५ ॥ तदेतच्छास्त्रत्वतुर्व्यूहमित्यभिधीयते—

भा० का प०—राग में लिपटे हुवे सब पुरुषों को चेतन आरं
अचेतन साधनों के अधीन सुख का अनुभव होता है । इसमें कर्म
शय राग से उत्पन्न होता है । तैसे ही दुःख के साधनों से छोप करता
है और मोहित होता है इस लिए छोप मोहकृत भी कर्मशय है
जैसा कि कहा है प्राणियों को विना पीड़ा दिये विषयसुख का हो-
ना असम्भव है इसलिए दिसाकृत भी शारीरिक कर्म समूद्र है विषय
सुख को अविद्या बहुते हैं ।

जो भोगेन्द्रियों की वृत्ति की शान्ति है वह सुला है । जो चञ्चलता से अशान्ति होती है वह हुँख है (भोगभ्यासेन) भोग के अभ्यास से इन्द्रियों के विषय में विरक्ति नहीं हो सकती, यद्योकि जहां भोगभ्यास है, वहां राग और इन्द्रियों की चंचलता वहती है इसलिए भोगभ्यास सुख का साधक नहीं है । विच्छृंख के विष से ढरा हुआ सांप से काटा गया जो सुख की इच्छा करने वाला विषर्णों में लिप्त होता है वह घड़ी फीचड़ में फंस जाता है । यह प्रतिकूल परिणाम दुःखता सुला की अवस्था में भी योगी दी को दुःख होती है । अब ब्रह्मण यह है कि तापदुःखदा किसे कहते हैं, ? औप से युक्त सब प्राणियों को वेतन और अवेतन साधनों के द्वारा ताप का अनुभव होता है औप से उत्तर दुश्मा (फार्माशय) कर्मसमूह है । सुख के साधनों को चाहने वाला शरीर, वचन और मनसं कुछ उद्योग करता है इसके पश्चात् किसी पर अनुग्रह करता है अथवा किसी का उत्पीडन करता है । इस अनुग्रह और उत्पीडन से धर्म और अधर्म फा संग्रह करता है । यह कर्मशय लोभ और मोह से होता है । यही तापदुःखता कहानी है । फिर संस्कारदुःखता पाया है ? सुख के अनुभव से सुख संस्कारों की प्रवलता, दुःख के अनुभव से दुःखसंस्कारों की अधिकता इस प्रकार से कर्म द्वारा फल फा अनुभव करने पर सुख अथवा दुःख जैसे मुनर्वार कर्म और फल का संग्रह हो जाता है ।

इस प्रकार से यह विस्तृत अनादि दुःखप्रवाह योगी दी को विच्छृंख दोनेके कारण दुःख होता है । क्योंकि विद्वान् चश्मे के समान होता है । जैसे मकड़ीका आखनेवके गोलकने लगनेसे दुःख होता है ऐसा शरीरके अन्य भागोंमें नहीं । इस प्रकार से सब दुःख अक्षियांत्र के समान योगी दी को दुःख होते हैं अन्य निष्ठय करने वालों को नहीं अन्य लोगोंको अपने कर्मसे सचय किया दुःख धारण ग्रहण किये हुवे को दशगना और धारण्यागे हुवे को पुनः ग्रहण करना दूष अनादि वासमासे चित्रित विच्छृंखिसे चारों ओरसे अनुविष्ट, अहंकार और भमता के पीछे दौड़ने वाले लोगों को तीन ताप सदा धेरे रहते हैं । इस प्रकार से अनादि दुःख के प्रवाह से घन्थे हुए आत्माको तथा पञ्चभूत समुद्राय को देखकर योगी सब दुःखों के नाश करने वाले ८. भित्ति सम्पदर्शन (यथार्थ शान) के आश्रयको धारण करते हैं ।

गुण और मनोवृत्तियों के विरोध से विचारशील मनुष्य को सब दुःख ही है बुद्धि के यह तीन गुण हैं पक प्रलय अर्थात् विचार दूसरा प्रवृत्त अर्थात् तत्परता तीसरा स्थिति अर्थात् भोग वे तीनों गुण आपस में एक दूसरे के सहायक होकर शान्त, धौर अथवा मूढ़ तीन प्रकार के ज्ञान अरम्भ करते हैं गुणों का स्वभाव चल है और विचार क्षिप्रपरिणामी है, रूप और वृत्तियां एक दूसरे से विरद्ध हैं सामान्य गुण विशेष गुणों के संग वर्तते हैं इस प्रकार से गुण एक दूसरे के आधार से सुख दुःख तथा भोग को उत्पन्न करते हैं सब गुण एक कप होजाते हैं गुण की प्रधानताही इन में विशेष है इसलिये विचारशील को सब दुःख ही जान पड़ते हैं ।

इसलिये इस महा दुःखसमूह का उत्पन्न करने वाला वीज अविद्या है और उस अविद्या का यथार्थ ज्ञान ही नाश का कारण है । जैसे आशुर्वेद चार भाग वाला है १ रोग, २ रोग का कारण, ३ आरोग्य, ४ मैपञ्च अर्थात् रोग निवृत्तिके उपाय । इस ही प्रकारसे यह भोक्त्वशाली भी चार भाग वाला है जैसे १ संसार, २ संसार हेतु, ३ भोक्त्व, ४ भोक्त्वोपाय । जिसमें दुःख की अधिकता हो वह संसार हेयहै प्रधान प्रकृति और पुरुष-आत्मा का संयोग मानना संसार का हेतु है संसार के खंयोग की अत्यन्त निवृत्ति होना यथार्थ ज्ञान अथवा सम्यविचार ही हानोपाय है ३नमें हेतु का सर्वरूप प्राण धा त्याज्य नहीं है यह त्याग में और उसके उच्छेष्वचाद में और उपादान में हेतु चाद है दोनों के त्याग में शाश्वत अर्थात् अनादिवाद कहाता है यही यथार्थ ज्ञान कहलाता है ॥ १५ ॥ यह शाश्वत्वार भाग वाला कहलाता है ।

भा० का भा०—सुख दुःख का ज्ञान प्राणिमात्रको रागके द्वारा होता है । कर्मसमूह तीन प्रकार का है । एक रागज दूसरा द्वेषज, तीसरा मोहज, ऐसा ही अन्य ऋषियों का भी मत है । अर्थात् विनां हिंद्वा के भोग होना असम्भव है । शारीरिक दिल्लाकृत भी कर्म होते हैं, इसलिये सांसारिक भोग को अविद्या कहते हैं सुख का लक्षण यह है कि “जो भोग से इन्द्रियों की दृष्टि शान्ति है उसे सुख कहते हैं”, और दुःखका लक्षण है कि “जो विषव की इच्छा से इन्द्रियों की चञ्चलता है उसे दुःख कहते हैं” यदि कोई कहै, कि विषव भोग से इन्द्रियां स्वयं थककर शान्त हो जायंगी, तो इस का उत्तर यह है,

कि भोग के ध्यानास से इन्द्रियां कभी शान्त नहीं हो सकती । पर्योक्ति ध्यानास से राग को चुक्रि होती है और इन्द्रियों अपने विषयों में चब्बल होती जाती है । इसलिये सुखप्राप्ति का उपाय भोगाभ्यास नहीं है, और जो ऐसे उपाय करना है उस का घटी दाल होता है, जैसे कोई मनुष्य बीची से डर कर भागा। परम्परा उसे लर्प ने काट लिया, ऐसे जो मनुष्य इन्द्रियों की शान्ति के घास्ते विषय भोग करता है उससे वह और भी फंसकर दुःख का भागी होता जाता है ।

यह परिणामदुःखता सुखावश्या में भी योगी को दुःख देती है ताप प्रश्न यह है, कि पाप दुःखता किसे कहते हैं ? सब लोगों को ताप का जो अनुभव होता है चाहे वह चेतनसे हो या जड़से हो, वह ताप द्वेष से ही होता है । इस से सिद्ध होता है, कि वहुत से कर्म द्वारा पूज हैं । सुखसाधन प्राप्ति की खामना से जो मनुष्य शरीर, मन और धार्य से यत्न फरता है, उस यत्न में जो उस के सहायक होते हैं, उम पर अनुग्रह करता है और जो विज्ञकारक होते हैं, उनको मारता भी है । तो यह कर्म लोभ और मोह से उत्पन्न होते हैं । इस से मनुष्य धर्म वा अधर्म का संग्रह करता है । ऐसे ही ताप कुखता कहते हैं । भोग के समय जो सुख के नाश का भय रहता है उसे तापदुःखता कहा जाता है । अब पुनः प्रश्न है, कि संस्कारहुःयता किसे कहते हैं ? उ०-सुख के अनुभवसे सुखके संस्कारों की अधिकता होती है और दृश्य के अनुभव से दुःख के संस्कारों की और उन संस्कारों से पुनर्वार मनुष्य दुःख सुख का संग्रह करता है । ऐसे यह अनादि दुःखस्रोत बहता है, किन्तु अब स्रोत योगियों को अधिक दुःख देता है जैस नेत्र में मकड़ी लगने स दृश्य होता है ऐसे ही योगियों को यह संस्कार दुःखदेते हैं ।

जिस प्रकार से आशुर्येद चतुर्व्यूह कहलाता है, अर्थात् रोग, दोग हेतु, आरोग्य, और चिकित्सा, ऐसे ही यह योगशास्र भी चतुर्व्यूह है अर्थात् संसार, यंसारहेतु, मोक्ष, मोक्षोपाय संसार उसे कहते हैं जिस में दुःख की अधिकता रहनी है, योगाभ्यास छारा हृश्वर को न दिच्चरण अर्थात् विषयासकि संसारका हेतु है—योगाभ्यास से संसारके वर्तन को छाँटना मोक्ष है और मोक्ष का उपाय यथार्थशाब्द है ।

सू० -योगीकी दृष्टिमें सब दुःख ही है पर्योक्ति सुखका भी अन्त होता

है और जिस समय सुख का नाश होता है उस समय अत्यन्त दुःख घोष होता है अतएव सुख भी दुःखरूप ही है। दुःख रूपता इ प्रकार की है एक परिणामदुःखता दूसरी ताप दुःखता और तीसरी संस्कार दुःखता। सुख के अन्त में दुःख अवश्य होता है, इस का नाम परिणाम दुःखता है। सुख के समय में भी अपने समान मनुष्यों से ईर्ष्या जीवों से वृणा धनी रहती है तथा जो मनुष्य सुखी के सुख भंग का उपाय करे उस से द्वेष होता है। इत्यादि कारणों से सुखी के मन में एक प्रकार का ताप धना रहता है, इस ही का नाम तापदुःखता है। मनुष्य जिस सुख वा दुःख का भोग करता है उसके हृदय में संस्कार र स्थिर हो जाता है। सुख के नाश हो जाने के पश्चात् वह संस्कार स्मृति द्वारा महा दुःखदायी होते हैं इसको संस्कारदुःखता कहते हैं। वांसारिक सुखों में सदा सत्त्वगुण का ही प्रकाश नहीं रहता है वरन् रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों का भी प्रादुर्भाव होता रहता है इन गुणों की वृत्ति परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है, इस कारण से उनके परिवर्तन में महादुःख होता है। इस ही गुण परिणामको संसार कहते हैं।

तात्पर्य यह है योगी की दृष्टि में मोक्ष के अतिरिक्त और सब दुःख ही है। पिछले सूत्र में क्लेशों के मूल अविद्याका वर्णन किया है और अविद्या सम्बन्धीक्षानकी विरोधिनी है अतएव वह अपने साधनों के सहित त्यागने के योग्य है—इस ही का अगले सूत्र में वर्णन करेंगे ॥ १५ ॥

मो० कृ०—विवेकिनः परिक्षातक्लेशादि विवेकस्य परिदृश्यमार्हं संकल्पेऽपि भोगसाधनं सत्त्विं स्वादद्वन्नभिव दुःखमेव प्रतिकूलवेदनः य-मेवेत्यर्थः। यस्मादत्यन्ताभिजातो योगी दुःख हेशेनाप्युद्दिजते । यथाक्षिपात्रमुर्णातन्तुस्पर्शमत्रैयैव महतीं पीडामनुभवती नेतरदङ्कतथा विवेकी खलपदुःखानुवन्धेनापि उद्दिजते । कथमित्याह-परिणामतापसंस्कारदुःखैर्विषयाण्यामुपभुज्यमानानां यथायवयंगर्द्धभिवृद्धेत्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखस्यापरिहार्यतया दुःखान्तरसाधनत्वात् चास्त्वय दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम् उपभुज्यमाणेषु सुखसाधनेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रतिद्वेषस्य सर्वदेवावस्थितत्वात् सुखानुभवकालेऽपि तापदुःखं दुष्परिहरमिति तापदुःखता । संस्कारदुःखन्तु स्वाभिमतानभित्वा त्वेषयसंविधाने सुखसंवित् दुःखसंविष्ठोपजायमाना

तथा विधमेव स्थितेवे संस्कारमारभते संलकाराद्य तु न स्तथा विध सं-
विद्वुभव इत्यपारमितसंस्कारये उत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात् स-
र्वस्यैव दुःखत्वम् । गुणहृत्सिविरोधाद्वेति—गुणानां सत्त्वरजास्तमसां
या दृत्यः सुलदुःखमाहृत्याः परस्परमभिमान्यादिभावकत्वेन विरु-
द्धा जायन्ते तासां सर्वस्यैव दुःखानुवेधाद्वदुःखत्वम् तदुक्तं भवति-ऐका-
न्तिकीमात्यन्तिकीश्च दुःखनिवृत्तिमिच्छुतां विवेकिन उक्तरूपकारण्यन्त-
तुष्ट्यात्स्वर्वं विप्रया दुःखरूपतया प्रतिभावनि । तस्मात्सर्वकर्मचिपा-
को दुःखरूप एवेत्युक्तं भवनि ॥१५॥ तदेव मुक्तस्य कुरुशकम्मशयविपा-
कराशैरधिद्याप्रभवत्यादधिद्याश्च मिथ्यादानकृतया संस्थगृहानो-
च्छ्रेयत्यात् सम्यग्गृहानस्य च साधनहेत्योपदेशावधारणरूपत्वात् त-
दभिधानायमाह-

भोवद्वृत्तका भाव-विवेकी अर्थात् जिसको कुरुशोंके पूर्णतत्त्वका विवेक
है उसको सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ और भोग ऐसे दुःखदायक जान पड़ते
हैं जैसे विप्रसे मिलाद्वारा स्वाक्षिष्ठ अन्न भी त्याग करने योग्य होता
है । एसे ही योगीको संस्कारफे सद्य विप्रय और भोग दुःखरूप ही
जान पड़ते हैं, जिससे विवेकशील योगी हुःखके अत्यन्त सूक्ष्म अंशसे
भी घट्ट होता है । जैसे आंखोंके पलकों पर मकड़ी के स्पर्श से अत्यन्त
पीड़ा जान पड़ती है वैसे दूसरे अङ्गमें उसका स्पर्श होनेसे पीड़ा नहीं
जान पड़ती है । ऐसे ही अविवेकी मनुष्योंका अधिक दुःखमें भी उद्गोग
नहीं होता है पर योगी को दुःख के लेशमें भी घड़ा उद्गोग होता है ।
दुःख वा उद्गोग योगोंकर होता है ? सब सुखोंका वा दुःखोंका परि-
णाम अर्थात् परिवर्त्तन होता है तो उसके वियोग में महादुःख जान
पड़ता है इस कारण सुख और दुःख दोनों ही पीड़ादायक हैं । ताप,
संस्कार और दुःखोंके कारण जो विप्रय भोग कियेजाते हैं, उनमें सोभ
उत्पन्न होता है, पर जब उन विप्रयोंकी प्राप्ति नहीं होती तो उससे सुख धा-
दुःख अवश्य होता है वह द.ख. फि । दूसरे दुःखोंको उत्पन्न करता है
इस से विप्रयों में सुखरूपता नहीं है । परिणामदुःखता का अर्थ यह
है कि जिन विप्रयोंको सुख का साधन समझके प्रहण किया जाता है
(अथवा सुख का परिणाम अन्त भी हो जाता है), फिर अपने
सुख के विरोधी सुख को नाश करने धाले दूसरे विप्रय होते हैं

तापदुःखता कहते हैं। संस्कारदुःखता ता अभिप्राय यह हैं, कि वांछिन घ और आनेचिंतुन विषयोंकी समीपता में सुख और दुःखज्ञान उत्पन्न होता है और वैसे ही उन से संस्कार उत्पन्न होते हैं और संस्कारों से फिर हाग की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से असंख्य संस्कार जो उत्पन्न होते हैं वह सब दुःखों से पूरित रहते हैं इस कारण सब दुःखस्थरा ही हैं। कलेश, कर्म, कर्मफल और संस्कार सबही दुःखमय होते हैं। गुणवृत्ति विरोध का अर्थ यह है कि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की जो सुख, दुःख और मोहरुपी वृत्ति हैं वह एक दूसरे को जोतने वाली होती है अर्थात् जब तमोगुण की मोहरुपी वृत्ति सनोगुण और रजोगुण की वृत्तियोंको दबाकर आप प्रकाशित होती है, तब मनुष्य के लुभ को नाश करदेती है। ऐसे ही और वृत्तियों की भी दशा है इस कारण वह सब वृत्तियाँ दुःख रूप हैं तथा उत्पन्न यह है कि योगी सब वृत्तियों में परिणाम दुःखता, तापदुःखता और संस्कारदुःखता एवम् वृत्तिविरोध को देखकर समस्त सांसारिक लुखों को भी दुःख ही समझते हैं और आत्मनितक दुःख निवृत्ति की इच्छा से सब को त्यागने का उपाय करते हैं ॥ १५ ॥

इस प्रकार से सिद्ध हुआ कि कलेश, कर्म और कर्मफलोंका कारण अविद्या है और मिथ्याक्षान को अविद्या कहते हैं वह सम्यक् ज्ञान से नष्ट होजाती है, सम्यक् ज्ञान से ग्रहण करने और त्यागने योग्य पदार्थों का ज्ञान होता है वही आगे कहते हैं:—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

सू० का पदा०—(हेयम्) तथागने योग्य (दुःखम्) दुःख (अनागतम्) अपास ॥ १६ ॥

सू० का भा०—अपास दुःख त्यागने योग्य है ॥ १६ ॥

धंया० दे० का भा०—दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्वे वर्त्तते वर्त्तमानव्यं स्वक्षणे भोगास्थमिति न तत्त्वाणा-

न्तरे हेयतामाधरे । तस्यच्चदेवानागतं दुःखं तदेवान्तिपात्रकल्पं
योगिनं विलक्षनाति नेतरं प्रतिपत्तारम् । तदेव हेयतामापधरे ॥६
तस्याधदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं तिनिदिंश्यते

भा० का पदा०-या तीत गुत्ताद्युवा दुःख भोगसे यिनायागता है वह
त्याग करने योग्य नहीं है । तथा वर्त्तमान अपने ज्ञान में भोगात्मक हैं
बहु अन्य ज्ञान में त्यग योग्यता को नहीं प्राप्त होता है इस
लिए जो आश्राम दुःख है वह ही अन्त फो शन्तेश्वरी के समान योगी
को कलेशदाना है और प्रवृत्ति धाले को नहीं वह त्वाऽन्यभाव प्रा-
प्त होता है ॥ ६ ॥ इसके लिए यही त्यग कहा जाता है उस ही का
पारण के प्रति निर्देश किया जाता है ।

भा० का भावा०—जो दुःख द्वयीत हो जुका है अर्थात् पूर्वका
है उन का कल भोगा जानुका है वह त्यागने योग्य नहीं है और जो
वर्त्तमान है जो रुक्षण अर्थात् इस ही समय भोग में स्थित है
वह ज्ञानात्मके राज्य नहीं होता । इस लिए जो दुःख आश्राम है वह
ही अन्यों के समान योगी का दुःख होता है दूसरे पुनर्यों का वह
त्यागने योग्य है । इस ही के उसे त्याग्य कहते हैं । उस ही का कारण
विलक्षनाश जाता है ॥ ६ ॥

६६ सू०—यीते द्युये दुःख त्यागने योग्य नहीं हैं क्योंकि उनका
भोग होनुका है और वहाँ भाव दुःख भी त्यागने योग्य नहीं हैं,
पर्योंकि उनका प्रताप व्यल हो रहा है । वहाँ वर्त्तमान का छुक्का गान
द्वयीत में और कुछ भाग भविष्यत् में संयुक्त होता है । अनपव
वर्त्तमान दुःख है एकोटि में नहीं आसक्त हैं, जिन्हें भविष्यत् दुःख
ही त्यागने योग्य है ॥ ६६ ॥

भा० सू०—भूतस्यानिकाः त्यादुत्तुरूपमात्रलय च त्यक्तुमशना
त्यादनागतमेव समारद्युलं हातव्यमित्युक्तं भवति ॥ ६६ ॥ हेयहेतु
गाह ।

भो० सू० का भा०—भूत अर्थात् गत अमन का दुःख निवृत्ति हो-
नाया विलक्षकों भोग हो है उसका भी त्यागना असम्भव है, इस का-
रण भविष्य संसारदुःख ही त्यागने योग्य है ॥ ६६ ॥ अब ऐसेहेतु
का वर्णन करते हैं ।

द्रष्टुहृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

सू० का पदा०—[द्रष्टुहृश्ययोः] द्रष्टा-देखने वाला और हृश्य दर्शनीय पदार्थ का संयोग त्यागनेयोग्य हुःख का मूल है ॥ १७ ॥

सू० का भावा०—देखने वाला पुरुष और जिस वस्तु को देखे अर्थात् हृश्य संसार इनदा जो संयोग है वह त्याज्य का मूल है ॥ १७ ॥

ठ्या० दे० का भा०—द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः हृश्य बुद्धिसत्त्वोपारुद्धाः रावेऽधर्माः तदंतद्रष्टुहृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निविपात्रोपकारिदृश्यत्वेन स्वंगत्वं पुरुषस्य हृशिरूपस्य स्वामिनः अनुभवकर्मचिपयतामापन्नं यतः । अन्यस्वरूपेण प्रतिलिप्धात्मकं स्वतन्त्रपिपिरार्थत्वात्परतन्त्रम् ।

तयोर्द्दर्शनशब्दत्योरनादिरथकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः । तथाचोक्तम्—तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखपतीकारः । कस्मात्—दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात् । तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता कण्टकरथ भेत्तृत्वं पंरिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवदितेन धार्धिष्ठानम् । एतत्त्रयं यो वेदलोके स तत्र प्रतिकारमारम्भाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति । कस्मात् त्रित्वोपलविभसामर्थ्यादिति । अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम् कस्मात् तपिक्रियायाः कर्मस्थत्यात्, सत्त्वे कर्मणि तपिक्रियानापरिणामिनि निपिक्रये क्षेत्रज्ञे दर्शितविपयत्वा । सत्त्वेतु तप्यमाने तदाकाशानुरोधी पुरुषोऽप्यनुतप्यत इति ॥ १७ ॥ हृश्यस्वरूपमृच्यते ।

भा० का प०—बुद्धिसे जानने वाला पुरुष द्रष्टा कहलाना है, बुद्धि में स्थित सब धर्म दृश्य कहलाते हैं । ये दृश्य रफटिकमणि के समान समीपस्थगात्र के उपकरण दृश्यभाव से दर्शन के सामी पुरुष के

स्वभाव में परिणत होकर अनुभवविप्रयता को प्राप्त होते हैं । और स्व-
कृप से प्राप्त होनेवाले स्वतन्त्र भी परार्थता से परतन्त्र फहलाते हैं ।

[तथोः] उनदोनों दृष्टा और दृश्य शक्ति का अनादि जो अर्थकृत्
संयोग है वह हेयहेतु अर्थात् दुःख का करण है ऐसा अन्यथा
भी कहा है, उसके संयोगरहित होने से अत्यन्त दुःख का प्रतीकार
होता है योंकि ना शब्द रने यान्य दुःख हेतु का [परिहार्यस्यप्रती]
कार देखनेसे जैसे [पादतलस्य] पैरका तलुवा भेद औरं कांटा भेदक
है । इसके परिहारके दो ही उपाय हैं यातां पैर कांटेमें चढ़ा ही न जा-
वे और यदि रक्षाजाय तो पादत्राण (जूता) पहनकर, इन तीनोंको
अर्थात् भेद, भेदहस्त परिहार त्यज्य देव, हेतु और प्रतीकार को
जो जानता है संसार में वह उन के नाशक उपाय का आरम्भ करता
हुआ भेदोत्पन्न दुःख का नहीं प्राप्त होता है किंत्य शान क सामर्थ्य से
याग में भी तापक रजांगुण का सत्त्व ही तप है योंकि तपिकिया को
कर्मस्थ होनेसे । योंकि सत्त्व कर्म में ही तपिकिया रहती है, न कि
अपरिणामी निष्क्रिय छेत्रमें, सत्त्व के तपित होने से उसके अदंश्य
फा अनुसरण करने घाला जीव तापित होता है ॥ १७ ॥ अब दृश्य
का स्वरूप कहते हैं ।

भाठ का भाठ—युक्ति के साक्षी जीव को दृष्टा कहते हैं । तथा
युक्तिस्थ समस्त धर्मों को दृश्य कहते हैं, वही दृश्य स्फुटिक के स-
मान पार्थ्यस्थ मात्र का उपकारी दृश्य होने के कारण होता है । पु-
रुष अर्थात् जीव को अपने विषय में अनुभव विषयता को प्राप्त होने
से स्वरूपान्तर होने वाय स्वतन्त्रता भी, परार्थ होने से परतन्त्रता
के समान हो जाती है, उन दृक् और दृष्टा की शक्ति का जो अनादि
अर्थकृत सम्बन्ध है, सो दुःख का कारण है । ऐसा ही अन्यत्र भी
लिखा है उनका संयोग अर्थात् दृष्टा और दृश्य का सम्बन्ध छोड़ने
से बहुत दुःख दूर होता है, जो दुःख के परिहार अर्थात् त्याग का
हेतु है उनका प्रतीकार दीखता है । दृष्टान्त है कि चरणका तलवा
भेद अर्थात् छेदन योग्य और करणेक भेदक अर्थात् छेदन करने घाला
होता है तिसका परिहार करणका चरण में न रहना है अथवा पा-
दत्राण जूता से रक्षित चरण का अधिष्ठान है । इन तीनों को जो जा-
नता है वह रक्षा पाता है ऐसे ही दृक् दृश्य और प्रतीकरण को जो
संसार में जानता है, वह दुःख नाश में उपाय करता हुआ भेदोत्पन्न

दुःख को नहीं पार होता है। फलितार्थ यह है, कि जो पुरुष द्रष्टा दृश्य और उन के संवांग को जानता है वहाँ इस दुःख के हेतु को त्याग कर मुक्त होता है ॥ १७ ॥

भो० छ०—द्रष्टा चिद्रूपः पुरुषः दृश्यं बुद्धिसत्त्वं, तथोरविवेकरूपानि पूर्वको योऽसौ संयोगो भी वभोक्तृत्वेनः सचिभावं हेत्यस्य दुःख य गुणपरिणामरूपस्य संसारस्त्र हेतुः कारणं तविवृत्तया संसारनिवृत्तिभेदतीत्यर्थः ॥ १७ ॥ द्रष्टृदृश्ययोः संयोग इत्युक्तं तत्र दृश्यस्य स्वरूपं कार्यवयोजनञ्चाह—

भो० छ० का भा०—द्रष्टा चैतन्यस्वरूप पुरुष है, दृश्य बुद्धि-सत्त्व है, उन दोनों का जो अविवेक वा अविचार से संयोग अर्थात् एकता का अहंकार है अर्थात् भोग्य और गोक्ता की जो समीपता है वही हेत्य अर्थात् संसार रूप दुःख का हेतु है। उसकी निवृत्ति से दुःख की निवृत्ति होती है ॥ १७ ॥ द्रष्टा क. स्वरूप पिछले सूत्र में कहा था इस कारण अगले सूत्र में दृश्य का स्वरूप, कार्यवयोजन कहा जायगा—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

सू० का पदार्थ—(प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्) प्रकाश सत्त्वगुण, क्रिया रजोगुण और स्थिति तमोगुणों से युक्त (भूतेन्द्रियात्मकम्) पञ्चभूत और पञ्च इन्द्रियात्मक (भोगापवर्गार्थम्) भोग और मोक्षार्थ (दृश्यम्) दृश्य कहाता है ॥ १८ ॥

सू० का भो०—सत्त्व, रज़ और तम, गुणों से युक्त भूतात्मक और इन्द्रियात्मक तथा भोग मोक्त का हेतु जो है उसे दृश्य कहते हैं ॥ १८ ॥

ब्या० दे० का भा०—प्रकाशशीलं सत्त्वम् । क्रियाशीलं रजः स्थितिशीलं तम इति । एते गुणाः परस्परोपन्तर्पर्विभागाः परिणामिनः संयोगवियोगधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपान्तिः

मूर्तयः परस्परांगामित्येऽप्यसम्भवशक्तिप्रविभागः स्तु न्यजातीया-
रतुल्यजातीयशक्तिमेदानुपादिनः प्रधानवेलायामुपदिशितसन्निन-
धानां गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्नीतानुमितास्तिताः
पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्यर्थातः सन्निधिमात्रापकारिणोऽप-
स्तान्तमणिकल्पाः प्रत्ययवन्तरं कर्तव्यम् वृत्तिमनुवर्त्तगानाः
प्रधानशब्दरात्र्या भवन्ति एतत् इत्यमित्युच्यते । तदेष्वपुते-
निद्रायात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणयते तथे-
निद्रिप्रभावेन श्रोत्वादिना मूद्दृस्थूलेन परिणयते इति । तच्चु नाप-
यो ननमपि तु प्रयोजनमुरीकृत्य प्रवर्तते इति भोगापवर्गार्थं हि
तद्वृहर्थं पुरुषस्येति । तत्र एषानिष्टागुणस्वरूपावधारणाप्रविभाग-
नन्म भोगो भांक्तुः स्वरूपावधारणापवर्गं इति । द्वयोरतिरिक्तमन्य-
द्यर्थान्मास्ति तथाचोक्तम्—अथन्तु खलु त्रिषु प्रणेषु कर्तुष्वकर्त्तरि-
च पुरुषे तुल्यानुन्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिएयुपनीयमानात्
सर्वपात्रानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छङ्कन इति ।

तावेतां भोगापवर्गे दुद्धिकृतौ दुद्धावेव प्रवर्तमाने कर्थं पुरुषे
अपदिश्यते इति । यथा विजयः पराजयो वा योद्धेषु वर्तमानः
सत्त्वामिनि अपदिश्यते सहि तस्य फलस्य भोक्तेति एवं वर्तमोक्तौ
वद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे अपदिश्यते सहि तत्फलस्य वोक्तेति ।
दुद्धेरेव पुरुषार्थं अरिसमासिर्वन्यस्तदर्थात्र सायो मोक्त इति । एतेन
ग्रन्थाधारणो हापो इतत्वज्ञानाभिनिवेशवृद्धौ वर्तमानापुरुषेऽप्यारो
पितसद्रुपावा सहि तत्फलस्योपयोक्ते ति ॥ १८ ॥ इत्यानां
गुणानां सत्त्वामेदावं प्रधानार्थमिदमारभ्यते ॥ ।

भा० का पदा०—(प्रकाशशीलम् सत्त्वम्) सत्त्वगुण प्रकाशस्वभाव
ज्ञाला है, रजागुण का स्वभाव क्रियाकारित्व है, तमोगुण का स्वभाव
हिततिशील है, ये सब गुण एक दूसरे के आश्रयीभूत और भिन्न २
हैं तथा अवस्थान्तर को धारण करने वाले हैं एवं संयोग, वियोग

धर्म बाले हैं। एक दूसरे की सहायता से रूप को धारण करने वाले हैं। परस्पर आंगनिभाव में भी जिनकी शक्ति और विभाग दूर नहीं होते, तुल्य जातीय और अतुल्य जातीय शक्ति को धारण करने वाले प्रधान वेला अर्थात् समाधिसमय में अपनी सभी पत्ता दिखलाते हैं और गुण भाव होने पर भी व्यापार मात्र से प्रबन्ध के अन्तर्भूत इनकी विद्यमानता अनुमान की जाती है। प्रयुक्त सामर्थ्य होकर सञ्चिति मात्र से दूसरे का अनुकरण करने वाले स्फटिक मणि के समान निष्ठय वा ब्रान के विना किसी एक की वृत्ति के अनुसार चलनेवाले प्रधान शब्द ब्राह्मण कहलाते हैं इन्हीं गुणोंको दृश्य कहते हैं।

सो यह भूतेन्द्रियात्मक तत्त्व पृथिवी आदि पञ्चभूतों के तथा ओन्नादि पञ्चेन्द्रियों के सूचम, सूचल मेंदों से परिणाम को प्राप्त होता है और वह (नाप्रयोजनम्) निष्प्रयोजन नहीं है वरन् प्रयोजन को दृश्य में धारण करके भोग और भोक्ता के वास्ते प्रवृत्त होते हैं। वह दृश्य पुरुष का है उनमें से इष्ट अर्थात् इच्छानुकूल अनिष्ट प्रतिकूल गुणों के स्वरूप को निना विभाग के अवधारण करनी भोग कहाता है। भोग करनेवाले भोक्ता के स्वरूप के निष्ठय होजाने को मोक्ष कहते हैं। भाग और भोक्ता से भिन्न और दर्शन कुछ नहीं है पृथ्सा ही अन्यत्र भी कहा है यह तो तुल्य और अतुल्य जातिवाले जगत् के कार्यकर्ता तीनों गुणों में और अकर्ता पुरुष में चौथे उनके किंया साक्षी में आरपित किये हुए अंग्राम सब भावों का अहान से विना जाते अन्यथा शङ्का करनां है ।

ये दोनों भोग और भोक्ता बुद्धिकृत हैं और बुद्धिमें ही रहते हैं किंतु इनको पुरुषोंमें व्यायों आरोपित किया जाता है? जैसे जय अथवां पराजय योद्धाओं में रहता है प्रत्यन्तु राजा में आरोपित किया जाता है व्यायों कि वह स्थामी जय वा परोजय के फल का भोक्ता है। इस ही प्रत्यर से वन्य और भोक्ता बुद्धि में रहते हैं प्रत्यन्तु पुरुष में आरोपित होते हैं वही उनके फलका भोक्ता है। बुद्धि का ही पुरुषार्थ समाप्त न होना बन्ध है और बुद्धि के परिव्राम की समाप्ति को भोक्ता कहते हैं इस से सिद्ध हुआ ग्रहण, धारण, तर्क और समाधान, तत्वों का ज्ञान और अभिविश्व बुद्धि में रहते हैं प्रत्यन्तु पुरुष में अध्यारोपित होने हैं क्योंकि वही उनके फल का भोक्ता है ॥ १८ ॥

भा०का०भा०—सत्यगुण प्रकाश स्वभाव धारा है, रजोगुण किया स्वभाव चाला है, और समोगुण व्यालस्य स्वभाव सुक है, यह सब पका की महीं रहते किन्तु एव दूसरे के आधार से रहते हैं । जप एव प्रधान दोता है तथ उसमें लय दोजाते हैं किन्तु अनुमोद से दूसरों की विद्यमानता जानी जानी है । यद्यपि सब कार्य गुणों के आधार से होते हैं और वह गुण दुक्षि में रहते हैं तथापि उन वन्ध और माला के फल का भोगने वाला जीव है इसलिये जी । को ही एवं कर्त्ता कष्ट जाता है । जैसे अथ और पराजय योग्यों में रहती है तथापि रजा में आसांपित होती है फर्योक्ति वही उनके फलका भोगने वाला है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसमें हुम्हें पुरुषार्थ की समाप्ति न हो वह वन्ध है और जिसमें दुःख के पुरुषार्थ का घन्त हो जाय वह मोक्ष है ॥ १८ ॥

१८ ए० प्रा० । ३० सत्यगुण का धर्म है जिया कार्यात् त्रुति रजो-
भूषण ता और स्थिति न माला का स्वभाव है ॥
भा०व०—प्रकाशसत्यस्य धर्मकि । प्रवृत्तिहयो रजसः, दिव्यतिनिवन्त-
रुमा तससः, ताः प्रकाशकियास्थितयः शील स्वामा यक रूपं यस्य तस्य-
शाविधिभिति स्यरुपमस्य निर्दिष्टम् । भूतेऽद्रियात्मकगमिति । भूतानि स्य-
ज्ञस्यदमभेदेन द्विविधा ते पृथिव्यादीनि गन्धतन्मात्रादीनि च । द्विद्वि-
शाणि, भुद्वीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणसेवेन विविधादीनि । उभेश्वरोत्तमादा-
श-प्रदण्डरमान्मा, सङ्करित्वात्मनः परिमात्रो यस्य तत्त्वाविद्यमित्यनेन-
नाल्य कार्यसुक्तम् । भोगकथितलद्य एव उपवगों विवेकरत्यानिपूर्विकां
संसारनित्रुतिः तौ भोगापवर्गो शर्थः प्रयाजनं यस्य तत्त्वाविद्यां दृश्य-
मित्यर्थः ॥ १९ ॥

तस्प्रदृशस्य चतुर्वर्षा । रपपतिष्ठामात्मकस्य द्वयवेत्प्रात्व्येत्या-
त् तद्वद्याः कश्चित्प्रितुमाद् ।

भा०व०व० । १०—सत्य अर्पात से गेगुणे ॥ १० धर्म धर्म ॥ १० हैं रजी
रुण का धर्म किंतु दूसरे प्रवृत्ति है और रजोगुण वा धर्म निवासे रूप-
स्थिति है । वह प्रकाश किया और मिथ्यति है ताकि दिव्यके बहु प्रका-
श किया दिव्यतिथील दररुक्ता ॥ १० । अंतिम गत्यात्मकम् को वार्ता
शह है, कि दृश्य, और स्मृति में ॥ १० दृश्यों वादि भूतों वार्ता के
हैं, और उनकी तन्मात्राओं के भी वार्ता भी भेद हैं, इन्हीं हो तीने वार्ता
हैं । वार्ताप्रित्यकर्मेन्द्रिय और व्यक्ति वार्ता । यह सब प्राप्तु और प्राप्तु रूप

में आत्मा अर्थात् जीव से भिन्न नहीं है, इस कथन से दृश्य के कार्यों का वर्णन सिद्ध हुआ। योग का लक्षण प्रथम कह द्युके हैं, अपवर्ग का अर्थ वा लक्षण यह है कि विवेकख्याति पूर्वक संसार की निवृत्ति योग और अपवर्ग है प्रयोजन जिसका उसे दृश्य कहते हैं ॥ ५८ ॥ वह दृश्य अनेक रूपों में बदला करता है इस कारण हेतु अर्थात् त्यागने योग्य है और इस ही कारण से उसका जानना आवश्यक है अत एव उसकी विशेष अवस्थाओं का वर्णन करते हैं ।

विशेषाविशेषपलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१६॥

सू० का प०—(विशेषावस्था, अविशेष, लिंग और अलिंग (गुणपर्वाणि) गुण की अवस्था है ॥ १६ ॥

सू० का भा०—गुणों की चार अवस्था हैं । १ विशेषावस्था, २ अविशेषावस्था, ३ लिंगावस्था और ४ अलिंगावस्था ॥ १६ ॥

तत्राकाशवायग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध-
तन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः तथा श्रोत्रत्वकुच्चलुजिह्वाप्रा-
णानि बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मन्द्रियाणि
एकादशम्बनः सर्वार्थम् इत्येतान्यस्मितांलक्षणस्याविशेषप्रस्थ वि-
शेषगुणानामेष पोडशको विशेषपरिणामः । पद् विशेषाः ।
तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्ध-
तन्मात्रं चेत्येकद्वित्रिचतुःपञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चविशेषाः,
पष्टुश्चास्त्रितामात्र इति । एते सत्त्वामात्रस्यात्मनो महतःपद्वि-
शेषपरिणामाः । यत्त्वपरमविशेषेभ्यो लिंगमात्रं महत्त्वं तस्मिन्ने-
ते सत्त्वामात्रे पद्विशेषात्मन्यवस्थाय विष्वद्विकाष्टामनुभवन्ति । प्रति-
संसृज्यमानात्म तस्मिन्नेव सत्त्वामात्रे पद्विशेषात्मन्यवस्थाय यत्त-
न्निः सत्त्वासत्त्वं निःसदसन्तिरसदव्यक्तमलिंगं प्रधानन्तत्प्रति-
यन्नीति एष तेषां लिंगमात्रः परिणामोनिः सत्त्वासत्त्वालिंगपरि-
णाम इति । अलिंगावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुना लिंगावस्थाया-

मादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति । न तस्याः पुरुषार्थ
ता कारणं भवनीति । नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्या-
रूपायते त्रयाणां त्वचस्थाविशेषोपाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति
स चार्थोद्देतुनिमित्तंकारणंभवतीत्यनित्यारूपायते गुणास्तु सर्वं
धर्मानुयायिनो न प्रत्यक्षस्थग्यन्ते नोपजायन्ते व्यक्तिभिरेवाती-
तानागतव्ययागमवतीनिर्गुणान्वयिनीभिरुपजनापाय धार्मिका
इव प्रत्यवभासन्ते यथा देवदत्तो दरिद्राति कस्मात् यतोऽस्यमि-
यन्ते गवामेव भरणाचस्य दरिद्राणां न स्वरूपहानादितिसमः
समाधिः ।

लिंगमात्रमलिंगस्य प्रत्यासन्नंतत्र तत्संसुष्टुंविच्यते क्रमान-
तिवृत्तेः । तथा पड़ुविशेषलिंगमात्रे संसुष्टा विविच्यन्ते परिणाम
क्रमनियमात् तथातेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसुष्टानि विविच्यन्ते
तथाचोक्तम् पुरस्तात् विशेषेभ्यः परन्तर्त्वान्तरमस्तीति विशेषा-
णां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामःतेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरि-
णामव्याख्यारूपायिष्यन्ते ॥ १६ ॥ व्याख्यातं दृश्यमयद्दृष्टुः
स्वरूपावधारणार्थमिदमारभ्यते ।

भा० का ४०-उन में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी यह
स्थूल पञ्चभूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो पञ्चभूतों की
सामान्य तन्मात्रा हैं उनके विशेष अवण, त्वचा, नेत्र, जिहा, नासिका,
दानेन्द्रियां, घचन, हाथ, चरण, गुदा और लिंग यह पांच कर्मेन्द्रियां
और ११ वां मन यह सब अस्मिता के सामान्य लक्षण हैं । सत्त्वादि-
विशेष गुणों की उक्त १६ विशेष अवस्था हैं अविशेष ६ अवस्था हैं
जैसे शब्द तन्मात्र स्पर्शतन्मात्र रूपतन्मात्र रसतन्मात्र और गन्ध-
तन्मात्र इस प्रकारसे एक, दो, तीन, चार और पांच लक्षण हैं । जिन
के शब्दादिक पांच अविशेष अवस्था हैं और छठी अवस्था विद्यमानता
मात्र है । यह छै सत्त्वामात्र आत्मा की अविशेषावस्था है । जो परम
अविशेष है उस महस्तत्य में उक्तगुण के सत्त्वामात्र आत्मा में स्थिर
होकर घट्टी छुई अवस्था को प्राप्त होते हैं और जब इनका पुनः लय

होना है तब उस ही सत्तामात्र आत्मा में स्थिर हो कर निःसत्त सत्त्व अर्थात् अदृश्य के समान जिस को सत् और असत् कुछ भी नहीं कह सकते हैं। इस कारण से गुणों की वह अवस्था अलिंगावस्था चा, प्रधान अवस्था कहलाती है। इनका परिणाम लिंगावस्था है। लय होना अलिंगावस्था है। अलिंगावस्था में पुरुषार्थता कारण नहीं होती है इसलिये वह नित्य कहलाता। है पहली तीन अवस्थाओं में अर्थात् विशेष, अविशेष और लिंग अवस्थाओं में आदि में पुरुषार्थता कारण होती है। वह अर्थ हेतु के निमित्त कारण होता है अतः अनित्य कहाजाता है। सब धर्मों में जानेवाले न कहों आस्त होते हैं और न उत्पन्न होते हैं। अतीत, अनागत, व्यय और आगमवाली तथा गुणाभिपातिनी व्यक्तियोंसे विनश उत्पत्ति धर्मक से मालूम पड़ने में जैसे देवदत्त दंरिद्र है, क्यों? इसलिये कि इसकी गायें मरती हैं। इसके आशय रहती हुई गायों के मरने से उसको दरिद्रता है न कि स्वरूप हानिसे।

लिंगमात्र अलिंग के समीप होता है इसलिये क्रमानुसार (संस्कृत) मिलेकुए का ही विचार किया जाता है। निश्चन छै अविशेष लिंगमात्र में संस्कृ ही विचारणीय है। परिणामक्रम के नियम से तथा उन अविशेषों में भूतेन्द्रिय भिली हुई कहीजाती हैं ऐसा ही ऊपर कहा गया है। विशेषों से सूक्ष्म और कोई तत्वान्तर नहीं है। अतेष्व विशेषों का तत्वान्तर परिणाम नहीं है। उनके आगे धर्मलक्षण और अवस्था परिणाम की व्याख्या कीजायगी ॥ ८३ ॥ दृश्यका वर्णन होनुका अब द्रष्टा के स्वरूप के अवधारणार्थ वह आत्म किया जाता है।

भा० का भा०—उनमें वायु, अग्नि, जल, आकाश और भूमि ये पाँच भूत हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द इन अविशेष तन्मात्राओंके अर्थात् रूपरहितों के पञ्चभूत विशेष हैं और पञ्च तन्मात्रा विशेष हैं तथा कान, नाक, त्वचा, आंख और जिह्वा ये पाँच हानेन्द्रिय हैं वाक्, हाय, पैर, गुदा, लिंग ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं ये दस और व्यारहवां मन उभयात्मक हैं। ये सब अविशेष अस्तिता लक्षण के विशेष हैं और वही गुणों के सोलह विशेष परिणाम हैं।

छै अविशेष है ये ये हैं—शब्दतन्मात्र, रूपतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, रसतन्मात्र, ये पाँचों क्रम से १। २। ३। ४। ५।

लक्षणयुक्त पांच अविशेष हैं और छाडा अविशेष अस्मिता है, पै सत्त्वामात्र महारूपाका के छै अविशेष अर्थात् लिंगरहित परिणाम हैं जो इन सब से उत्कृष्ट अविशेष सो भी पर्वतिनमात्र महात्म्य हैं उस ही महत्म्य सत्त्वमात्र महारूप आत्मा के आधार ये घटते हैं और लक्ष होने के समय प्रकरित हुए उसही से जड़सद्वत्मक प्रतीत होते हैं । ये उनका लिंगमात्र ही परिणाम है और निस्सत्तालक्ष लिंगरहित का परिणाम है ।

लिंगरहित अवस्था को पुरुषार्थ हेतुता नहीं है और न लिंगरहित अवस्था में प्रथम पुरुषार्थ कारण है और न वह अवस्था पुरुषार्थ से एहु है इसीलिए वह नित्य है, तीनों अवस्थाओं का प्रथम पुरुषार्थता कारण है, वह अर्थ निमित्त कारण होता है इस लिए अवस्था अनित्या कही जाती है सब गुण धर्मानुयायी होते हैं । न शस्त्र होने हैं न उत्तरव्य होते हैं । अतीत, अनागत, लाभ और व्यययुक्त गुणाभिपानिनी यह अवस्था व्यक्तियों से उत्पत्ति और नाश धर्मक ऐसे मालूम होते हैं, जैसे देवदत्त दरिद्र हैं । पर्याय ? उसकी गायें मरती हैं तो गायों के मरने ही से उसकी दरिद्रता है न कि स्वरूप हानिसे ।

लिंगमात्र लिंगरहित के सभीपद्धति होता है । इसी प्रकार से अविशेषों का लिंगमात्र के सभीपद्धति होनेसे विवेक होता है । कफ से, ऐसे ही भूतेन्द्रियों का भी उन्हों अविशेषों में मिथित विवेक होता है वैसा ही अन्यज भी कहा है । विशेषों से सूक्ष्म तत्त्वान्तर नहीं है, अतः विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है, उनके धर्मलक्षण और अवस्था परिणाम कहेजायेंगे ॥ १५ ॥ एश्य पता घर्णन होचुका, अश्वद्रष्टा के स्वरूप का घर्णन करते हैं—

भो० चू०-गुणानां पर्वाएषवस्थाविशेषाक्षत्तरो द्वात्प्रया इत्युप-
दिष्ट भवति । तत्र विशेषा महाभूतेन्द्रियाणि अविशेषप्रस्तन्मात्रान्तरक-
रणानि लिंगमात्रं शुद्धिः, लिंगमव्यक्तमित्युक्तम् । सर्वं त्रिगुणरूप-
स्थाव्यकस्यान्वयित्वेन प्रत्यगिवापादवश्यं रात्र्यत्वेन योगकाले
चत्वारि पर्वाणि निर्दिष्टानि ॥ १६ ॥

एवं हेयत्वेन प्रथमं एश्यस्य द्वात्प्रयत्वात्तदधस्थात्महितं व्याख्या-
योप दैवं द्रष्टारं व्याकर्तुं भाव ।

भो० च० का भा०—गुणों के चार मेद होते हैं इसी का उपदेश किया जाता है उनमें से विशेष रूप महाभूत और इन्द्रियाँ हैं अविशेष रूप तन्मात्रा तथा अन्तःकरण हैं लिङ्गमात्ररूप बुद्धि है और अलिङ्ग रूप अव्यक्त अर्थात् कारण रूप प्रकृति है, योगी को इन चारों भेदों का ज्ञान होना चाहिये इस कारण इनका उपदेश किया गया है ॥ २४ ॥ इस प्रकार से हेतु अर्थात् दृश्यका रूप दिखाकर उपादेश द्रष्टा का घर्यान करते हैं ।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

सू० का पदार्थ—(द्रष्टा दृशिमात्रःशुद्धोऽपि)द्रष्टा स्वरूप से शुद्ध भी (प्रत्ययानुपश्यः)बुद्धि से उत्पन्न होने वाले प्रत्ययों का अनुकारी है ॥ २० ॥

सू० का भा०—द्रष्टा यद्यपि साक्षिमात्र है तथापि बुद्धिजन्य प्रत्यय से दृश्यरूप भान होता है ॥ २० ॥

व्या० दे० भा०—दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टे त्यर्थः स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी । स बुद्धेन सरूपो नात्यन्तं विरूप इति न तावत्सरूपः । कस्मात् ज्ञाताज्ञातविषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिः । तस्याच्च विषयो गंवादिर्घटादिवाज्ञातशज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति । सदाज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मात्तद्विद्विज्ञ नाम पुरुषं विषयश्च स्यादगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदाज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति । किञ्चच परार्था बुद्धिः सहकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति तथा सर्वोर्ध्वं ध्यवसायकत्वात्तिंशुणा बुद्धिद्विग्निगृहणत्वादचेतनेति । शुणानान्तुपद्रष्टा पुरुष प्रत्ययतो न सरूपः । अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः । कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्योयतः प्रत्ययं वौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन्तदात्मापि तदात्मक इव प्रत्ययभासते । तथा चोक्तं परिणामिनी हि भोज्ञशक्तिरप्रतिसंक्रमाच परिणामिन्यर्थं प्रतिसंक्रान्तेव

तद् वृत्तिमनुपत्ति, तस्याश्र प्राप्तचैतन्योपग्रहस्थपापा बुद्धिवृत्तेरनु-
कारमात्रतया बुद्धिवृत्त्याविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते॥२०॥

भा० का पदा०—जब घट विशेष गुणों से असंबृत होती है तब
धर्मात्र कहलाती है । घट आत्मा बुद्धि से जानने योग्य अशात् बुद्धि
फा साक्षी है घट बुद्धि के समान रूप चाला नहीं है न अत्यन्त विरुद्ध
लक्षण धारा है । समान रूप न होने में हेतु यह है—शात् और अशात्
विषयिणी होने से बुद्धि परिणामिता है उस बुद्धि का विषय गौ
आदि और घट पटादि शात् और अशात् दोनों ही हैं जो कि उसके
परिणामित्व को दिखाते हैं अशात् विषय तो सदैव ही आत्माको
परिणाम रहित भाव को प्रकाशित करता है पर्योक्ति बुद्धि पुरुष को
प्रदण नहीं फर सकती । पर्योक्ति घट उसका विषय नहीं है । प्रसन्न
का सदैव अशात् विषय और अपरिणामी होना सिद्ध है । साधना-
पेत् होने से बुद्धि परतन्त्र है ।

परन्तु पुरुष स्वतन्त्र है तथा सब अर्थोंके व्यवहार बुद्धिके द्वारा
विगुणात्मका है । विगुणा होने से जड़ है और पुरुष गुणों का द्रष्टा
है । इससे पुरुष बुद्धि के समान नहीं है तो बुद्धि से विलक्षण रूप
चाला होगा । अत्यन्त विरुद्ध भी नहीं है पर्योक्ति पुरुष हुद्दर होनेपर भी
ज्ञान से देखा जाता है जान बुद्धिके द्वारा होता है बुद्धिके द्वारा देखने
से तब आत्मा भी उसके रूप के समान मालूम होता है येसा ही
अन्यत्र भी कहा है भोक्तृत्यशक्ति का कभी परिणाम नहीं होता और
संकरण से रहित है अर्थात् उल्लंघन करने योग्य नहीं है (परिणा-
मिन्यर्थ) परिणामी पदार्थों में संक्रान्त अर्थात् अवस्थान्तर को
धारण करने वाली के समान उसकी वृत्ति भान होने लगती है और
उस चैतन्य को ग्रहण बुद्धि वी वृत्तियों के अनुकरण मान से करने
वाली बुद्धि धूसि से अविशिष्ट ज्ञान की धूसि है येसा कहा
जाता है ॥ २० ॥

भा० का भा०—द्रष्टा बुद्धि की वृत्तियों का साक्षी है परन्तु इस
में शंका यह है कि यह द्रष्टा बुद्धिका स्वरूप है या विरुद्ध है ? इसका
उत्तर यह है न अत्यन्त स्वरूप है और न अत्यन्त विरुद्ध है । स्वरूप
तो इस कारण से नहीं है कि आत्मा एश्य और आरश्य दोनों प्रकार
के पदार्थों का अधिकारी है और बुद्धि केवल ज्ञात घटादि पदार्थों के

ज्ञान को धारण कर सकी है और बुद्धि में अनेक प्रकार के परिणाम भी होते हैं, एवम् बुद्धि परतन्त्र है क्योंकि वह विना दूसरे की सहायता के ज्ञान प्राप्ति में असमर्थ है और आत्मा स्वतन्त्र है, तथा बुद्धि जब चाल्लश्ल्यरहित होनी है तब मनुष्य को प्रतीत होता है कि इस समय मेरी बुद्धि सद्गुण युक्त है इन कारणों से आत्मा बुद्धि के एवरूप नहीं है विरूप इस कारण से नहीं कि शुद्ध होने पर भी जान द्वारा पदार्थों को समझता है और ज्ञान बुद्धि के फिरा होना असमर्थ है इससे आजानी लोग जानते हैं कि आत्मा बुद्धिरूप है और बृहियों ने भी कहा है कि आत्मा की शक्ति परिणाम रहित है तथापि परिणामिनी बुद्धि की वृत्तियों के संयोग से परिणामिनी प्रतीत होती है। इस से यह सिद्ध हुआ, कि आत्मा की जो चैतन्य वृत्तियाँ हैं उनसे बुद्धि की वृत्ति भिन्न है इससे आनन्द बुद्धिसे विरूप भी नहीं है ॥२०॥

सो०—द्रष्टा पुरुषो दशिमावश्चेतनामात्रो मात्रब्रहणं धर्माधर्मिनिराजार्थम् केविद्धि चेतनात्मनो धर्म्यमित्यज्ञन्ति स शुद्धोऽपि परिणामित्वाद्यभावेन स्वप्रतिष्ठोऽपि प्रस्त्ययानुपश्यः प्रस्त्यया विषयोः परकानि विज्ञानानि, तानि त्वनु अव्यवधानेन प्रतिसंक्रमाद्यमावेत पश्यति; एतमुक्तं भवति । जातविषयोपरागादामेव बुद्धौ सदिधिं मावेणैव पुरुषस्य द्रष्टुत्वामति ॥ ०॥ स एव भोक्तेत्याह ।

मै० च० कृ० का भा०—द्रष्टा पुरुष ही दशिमाज अर्थात् चेतनामात्र है, यहाँ पर मात्र शब्द इस कारण लिखा है कि जिससे गुण और बुद्धि दोनों का प्रहण न हो। कोई अत्यर्थ चेतनता को आत्मा का गुण मानते हैं वह पुरुष यद्यपि शुद्ध है तथा परिणामित्व आदि गुणों से रहित है नौ भी विषयों के विज्ञान रूप रंगों का समीपवर्ती होने से विषय संयोगी दीखता है। फलितार्थ यह हुआ, कि विषयों के संर्गसे जो बुद्धि विषय। कार होजा ति है उसकी समीपता के कारण पुरुष में भी द्रष्टापन प्रतीत होता है। वास्तव में पुरुष शुद्ध है ॥२०॥ द्रष्टा ही भोक्ता है। यह अगले सूच में कहा जायगा।

तदर्थं एव हृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

सू० का० प०—(तदर्थं एव) पूर्व सूच में कहे हुए हेतु से (हृश्यस्य) हृश्य पदार्थ का (आत्मा) पुरुष आत्मा है ॥ २१ ॥

सूत्र का भा०—पूर्वमूलोक कारण से ही आत्मा दृश्यभाव से भान होता है ।

दृश्यरूपस्य पुरुषस्य कर्मविषयतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थे एव दृश्यस्यात्माभवति स्वरूपम्भवतीत्यर्थः । तत्स्वरूपन्तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण च दृश्यत इति । स्वरूपहानाद्वदृश्यनाशमासां नतु विनश्यति ॥ २१ ॥ कस्मात्

भा० का प०—द्रष्टारूप आत्मा के कर्मविषयता को प्राप्त हुआ पदार्थ दृश्य कहता है उसके ही घास्ते दृश्य का आत्मा होता है अर्थात् स्वरूप होता है आत्मा का स्वरूप तो भोग और मोक्ष की प्रयोजनता वा लोकुपत्ता करने में पुरुष से नहीं देखाजाता इस प्रकार की स्वरूपहानि से दृश्य का नाश होजाता है प्राप्त होजाने से नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भा० का भा०—द्रष्टा फा जो कर्मन् अर्थात् दर्शन उसकी विषयता को जो प्राप्त हो वह सब पदार्थ दृश्य कहते हैं और इस ही कारण दृश्य का स्वरूप होता है उस दृश्य का स्वरूप दूसरे के रूप के द्वारा भोग और मोक्षकी लालसा में फंसे हुये मनुष्य को प्रतीत नहीं होता इससे दृश्य को रूपहानि होती है किन्तु नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भा० ष०—दृश्यस्य प्रागुक्तलक्षणस्याऽत्मा चतुर्स्वरूपं स तदर्थं स्वस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वसम्पादनं नाम स्वार्थपरिहारेण प्रयोजनम् तद्विधि प्रधानं प्रवर्त्तमानमास्मनः किञ्चित् प्रयोजनमपेदय प्रवर्त्तते किन्तु पुरुषस्य भोगसम्पादयामीति ॥ २१ ॥

यद्येवं पुरुषस्य भोगसम्पादनमेव प्रयोजनं तदा सम्पादिते तस्मि त् तत् निष्प्रयोजनं विरतव्यापारं दृश्यत् तस्मिन्ब्रह्म परिणामशत्र्ये शुद्धत्वात् सर्वे द्रष्टारो बन्धरहिताः स्युः ततश्च संसारोच्छ्रेव दृश्याशक्याह ।

भो० ष० का भा०—ऊपर जिसका लक्षण फटा है उस दृश्य का आत्मा अर्थात् स्वरूप उसही द्रष्टा के निभित्त है दृश्य का भोग भी अपने स्वार्थ के त्याग से है अर्थात् प्रधान अपने प्रयोजन के घास्ते किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता है किन्तु पुरुष के भोक्तृत्व को सिद्ध करने के घास्ते ही उसकी प्रवृत्ति है ॥ २१ ॥

यदि इस रीति से पुरुष के निमित्त भोगसाधन ही दृश्य का प्रयोजन है तो भोगक्षम्यादन के अनन्तरावद निष्फल होगा जब दृश्य ही परिणामरहित और अक्रिय होजायगा तब जगत् के सब दशा अर्थात् जीव वन्धन से मुक्त हो जायेंगे और इस दशा में संसार का उच्छ्वेद होना चाहिये । इस शङ्का का उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं ।

कृतार्थप्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

सू० का पदार्थ—(कृतार्थम् प्रति) सिद्धार्थ एक पुरुष के प्रति (नष्टमपि) नष्ट हुआ भी दृश्यका रूप (अनष्टम्) नष्ट नहीं है (तदन्यसाधारणत्वात्) क्योंकि दूसरे पुरुष को भान होता है ॥ २२ ॥

सू० का भा०—एक कृतार्थ पुरुष के प्रति दृश्य का क्य नष्ट हुआ है परन्तु दूसरे साधारण पुरुषों के प्रति वह अनष्ट है इससे उसे नष्ट नहीं कह सकते ॥ २२ ॥

व्या० दे० का भा०—कृतार्थमेकं पुरुषं प्रतिदृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् । कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान् पुरुषान् प्रत्यकृतार्थमिति तेषां दृश्येः कर्मविषयतामापनं लंभत एव परक्षेपणात्मरूपमिति । अतश्च दग्द यानेशक्त्यानित्यत्वादासदिः संयोगो व्याख्यात इति । तथाचोक्तम्—धर्मिणामनादिः संयोगान्धर्ममांशाण्यमप्यनादिः संयोग इति ॥ २२ ॥ संयोगस्वरूपाभिधित्स्येदं सूत्रं ग्रन्थवृत्ते—

भा० का एवा०—कृतार्थ एक पुरुष के प्रति नष्ट हुआ भी दृश्य । अनष्ट है क्योंकि वह अन्य पुरुषों को प्रतीत होता है । योग्य चतुर पुरुष के प्रति दृश्य नाश को प्राप्त हुआ भी मूर्ख पुरुषों के प्रति अकृतार्थ अर्थात् अनष्ट है । वह उनकी दृष्टि में कर्म विषयता को प्राप्त होता है । इसप्रकार से पर कूप से अपने रूप को प्राप्त होता है । अतएव द्रष्टा और दर्शन शक्तियों के नित्य होनेसे दोनों का अनादिं संयोग कहा गया । अन्यत्र भी कहा है धर्मी अर्थात् गुणों का अनादिं संयोग होने से धर्मी अर्थात् गुणों का भी अनादिं संयोग होता है ॥ २२ ॥

संयोग का स्वरूप कहने की इच्छासे अगला सुन्न प्रवृत्त होता है ।

भा० वा० भा०—दश्य का रूप जो पानी पुरुष की दृष्टि में नष्ट होगया वही दूसरे पुरुषों की दृष्टि में विद्यमान है इससे उसे नष्ट हुआ नहीं कह सकते, किन्तु यही प्रतीत होता है कि दृक्शक्ति और दर्शन का संयोग अनादि है ॥ २२ ॥

२२ स०—इन सब सूची का सारांश यह है कि द्रष्टा, दर्शन और दश्य यह तीनों भिन्न हैं तो भी अनेक कारणों से ऐसा संयोग हो रहा है जिस से वे सब अभिन्न जान पड़ते हैं और इनके संयोग के अशान को ऐसी भोग कहते हैं । अर्थात् जब तक मनुष्य फो इन सब का यथार्थ जान नहीं होता तभी तक सांसारिक सुखों का भोग भी जान पड़ता है और जब इनका यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब सांसारिक भोग नष्ट हो जाते हैं । “नष्टे मोहे कः संसारः ।” परन्तु एक मनुष्यको यथार्थ ज्ञान होनेसे सांसार भरका अशान दूर नहीं हो सकता घरन दूसरे मनुष्यों में घना रहता है इस से द्रष्टा और दश्य का संयोग अद्वानजन्य है ॥ २२ ॥

भो० व०—यद्यपि विवेदख्यातिपर्यन्तात् भोगसम्पादनात्-कमणि कृतार्थं पुरुषं प्रति तन्नष्टं विरतव्यापारं तथापि सर्वं पुरुष-साधारणत्वादन्यान् प्रत्यनष्टव्यापारमधतिषुते । अतः प्रधानस्य सकलभौक्तसाधारणत्वान्न कदाचिदपि विनाशः । एकस्य मुक्तौ धा न सर्वमुक्तिप्रसङ्गं इत्युक्तं भवति ॥ २२ ॥

दश्यद्रष्टारौ व्याख्याय संयोगव्याख्यातुमाह ।

भो० व० का भा०—यद्यपि भोग विवेदख्याति अर्थात् यथार्थ ज्ञान पर्यन्त ही रहते हैं और पश्चात् नष्ट हो जाते हैं परन्तु भोग सब पुरुषों के प्रति साधारण रूप से रहते हैं इस परण जिस के प्रति भाँग नष्ट हो जाते हैं वही मुक्त होता है और जिस के प्रति नष्ट नहीं होते हैं वह बन्धन में रहता है अर्थात् एक जीव की मुक्ति से सब जीवों की मुक्ति नहीं होती है ॥ २२ ॥ द्रष्टा और दश्य का वर्णन करके संयोग का वर्णन करते हैं ।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलविधहेतुः संयोगः ॥२३॥

सू० का पदा०—(स्वस्वामिशक्त्योः) स्व अर्थात्

हश्य और स्वामी अर्थात् द्रष्टा शक्तियों के (स्वरूपोपलाचिह्नेतुः) स्वरूप की प्राप्ति का जो कारण हो (संयोगः) उसे संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥

सू० का भा०— द्रष्टा और हश्य शक्तियों के स्वरूप की उपलब्धि का जो हेतु है उसे संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥

मुद्दपः स्वामी हश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः । तस्मात् संयोगाद्वृश्योपलाचिह्नीं स भोगः या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलाचिह्नः सोऽपवर्गः दर्शनकार्याविसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम् । दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वैत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम् । नात्र दर्शनं मोक्षकारणमदर्शनाभावादेव वन्धाभावः स मोक्ष इति । दर्शनस्य भावे वन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनं ज्ञानद्वैवन्यकारणमुक्तम् ।

किञ्चेदमदर्शनं नाम किं गुणानामधिकार आहोस्त्विद्वृश्यरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः स्वस्मिन् हश्ये विद्यमाने यो दर्शनाभावः । क्रिमर्थवत्तागुणानाम् । अथाविद्यास्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् । किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिवृक्तिः । यत्रेदमुक्तम् प्रधानं स्थित्यैववर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात् । तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात् । उभयथा चास्य वृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्वया । कारणान्तरेवं पि कल्पतेष्वेव । समानश्वर्चः दर्शनशक्तिरेवादर्शनपित्येवे, “प्रधानस्याऽत्मरूपापनार्थप्रवृत्तिः”—इति श्रुतेः ।

सर्वत्रोऽध्यवोधसर्थः प्राक्पृष्ठचेः पुरुषो न पश्यति । सर्वकार्यकरणसमर्थं हश्यं तदा न हश्यत इति । उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके । तत्रेदं हश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं

दृश्यधर्मत्वेन भवति । तथा पुरुषस्यानात्प्रभूतमपि दृश्यप्रत्यया-
पे चं पुरुषधर्मत्वेनैवादर्शनमयभासते । दर्शनं ज्ञानमेवादर्शनमिति
केचिदभिदधति । इत्थेते शास्त्रोक्ता विकल्पाः तत्र विकल्पत्रहुत्य
मेतत् सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणावप्यम् ॥ २३॥

स्तुप्रत्यक्षेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः ।

भा० का प०—स्थामी अपने दृश्य से देखने के लिये संयुक्त होता है उस संयोग से जो दृश्य पदार्थों का द्वान होता है उसे भोग कहते हैं और जो द्रष्टा अर्थात् आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति होती है उसे मोक्ष कहते हैं जहां दर्शन के कार्य का अन्त होजाता है उसे संयोग कहते हैं इस प्रकार दर्शन को विद्योग का कारण कहते हैं दर्शन अदर्शन का विपक्ष है इस लिए अदर्शन को संयोग का कारण कहा है यहां पर दर्शन मोक्ष का कारण नहीं है अदर्शन के अभाव ही से घन्धनका जो अभाव होता है उसे मोक्ष कहते हैं । दर्शन की विद्यमानता में घन्ध का वारण जो अदर्शन है उस का नाश हो जाता है इसलिये दर्शन शान को कैवल्य का कारण कहा है ।

यथा यह अदर्शन गुणों का उद्धिकार है अथवा द्रष्टारूप आत्मा के जिस चित्त ने विषय को देखा है उस प्रधान चित्त अर्थात् ज्ञान का उत्पन्न न होना है ? अपने दृश्य के विद्यमान रहते भी जो दर्शन का अभाव होता है वह क्या गुणों की आर्थवत्ता से होता है अथवा ओ अविद्या आपने चित्त के संग निरुद्ध हो गई है वह अपने चित्त की उत्पत्तिका कारण है ? यथा स्थिति के संस्कार ज्याहोजाने पर गति के संस्कार प्रकट होते हैं ? इसपर यह कहा जाता है प्रधान स्थिति के साथ वस्त्रमान रहकर अविकारी होने से अप्रधान होता है । तैसे ही गति के साथ विद्यमान नित्य विकार शील होने से अप्रधान होता है । उक द्वोनों प्रकार से इसकी प्रवृत्ति प्रधानता को प्राप्त होती है अन्यथा नहीं । और कारणों की कल्पना करने पर भी यह समान विचारणीय होगा । दर्शन शक्ति ही अदर्शन है ऐसा भी कोई कहते हैं । “प्रधान की आत्मस्वापनार्थ जो प्रवृत्ति है” । ऐसा श्रुतिका मत है ।

जानने योग्य जितने पदार्थ हैं उनके जानने में शक्तिमान् पुरुष ‘प्रवृत्ति से पहले नहीं देखता सब कोर्य करनेमें समर्थ दृश्य समय उस

नहीं दीखतः इसलिये दोनोंका भी अदर्शन धर्म है यह किसीका मत है। यहां पर दश्यका [आत्माभूतिमणि] तादात्म्य होनेपर भी दर्शन पुरुष प्रत्ययको अपेक्षा रखता हुआ दश्यभावको प्राप्त होता है तैसे ही [पुरुष स्यानात्मभूतमणि] पुरुषसे तादात्म्य न होनेपर भी अदर्शन दश्यज्ञान की अपेक्षा रखता हुआ पुरुष धर्मके समान दर्शनका आभाव भान होता है, कोई दर्शनज्ञानको ही अदर्शन कहते हैं यह सब शास्त्र विकल्प हैं [तत्र विकल्पवहुत्वम्] शास्त्र के विकल्पों का बहुत्व पुरुषों के और गुणों के संयोग में साधारण विषय है ॥ २३ ॥ और जो प्रत्यक्ष चैतन्य का अपनी वृद्धि से संयोग है ।

भा० का भा० आत्मा जो अपने रूप के देखने को प्रवृत्त होता है, परन्तु मध्य में जो पदार्थान्तरों का संयोग होजाता है और उसकी वृच्छां आगे नहीं बढ़सकती हैं, उसको भोग कहते हैं और जो पुरुष को परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति है उसे मोक्ष कहते हैं । और जहां दर्शन रूप क्रियाका अन्त हो जाय उसे संयोग कहते हैं, किन्तु दर्शन ही वियोग का रण है क्योंकि जब किसी का संयोग होता है तो उसका वियोग भी अवश्य होता है । ऐसेही अदर्शन संयोगका हेतु कहाता है, इस शास्त्र में दर्शन को मोक्ष का कारण नहीं कहाँ है, अभिप्राय यह है कि जो २०और २१ सूत्र में संयोग कहा था वह दश्य पदार्थों के संयोग के समान नहीं है किन्तु वह प्रक विलक्षण ही संयोग है ॥ २३ ॥

भ० दृ०—कार्यद्वारारेणास्य लक्षणं करोति, स्वशक्तिदश्यस्य स्वभावः । सामिश्रकिर्द्धुः स्वरूपं तयोर्द्वयोरपि संवेद्यसंवेदकत्वेन व्यवस्थितयोर्या स्वरूपोपलविधस्तस्याः कारणं यः स संयोगः । स च सहजभोग्यभोक्तुभावस्वरूपाभान्यः । नहि तयोर्नित्ययावर्यपक्षयोश्च स्वरूपादतिरिक्तः कश्चित्तु संयोगः । यदेव भोग्यस्य भोग्यत्वं भोक्तुश्च भोक्तृत्वमनादिसिद्धं स पव संयोगः ॥ २३ ॥ तस्यापि कारणमाह ।

भ० दृ०का भा०—कार्य द्वारा संयोग का लक्षण कहते हैं । दश्य का स्वभाव स्वशक्ति अर्थात् इन्द्रियों का विषय रूप है और द्रष्टा का स्वभाव स्वामीपन वा अध्यक्षता है इनदोनों शक्तियोंमें संवेद्य और संवेदक भाव सम्बन्ध है । इस सम्बन्धसे जो दोनोंका ज्ञान है उसको ही संयोग कहते हैं और वह संयोग स्वाभाविक है, भोग्य और भोक्ता

द्वोनोही तित्य हैं उनके सद्गुणके अनिरिक्ष संयोग और कोई वस्तु नहीं है, भोग्य का भोग्यत्व है और भोक्ता का भोक्तृत्व ये द्वोनों अनादि सिद्ध हैं उसको ही संयोग कहते हैं ॥ २३ ॥ उस संयोग के कारण का घर्णन करते हैं ।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

सू० का पदार्थ—(तस्य) उस संयोग का (हेतु)
भूल (अविद्या) अविद्या है ॥ २४ ॥

सू० का भा०—उसका अर्थात् संयोग का हेतु अविद्या है ॥ २४ ॥

ध्या० दे० का भा०—विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः । विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिः बुद्धिः प्राप्नोति, साधिकारा पुनरावर्तते । सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसानां कार्यनिष्ठा प्राप्नोति, चरिताधिकारा निवृतादर्शना वन्धकारणाभावात् पुनरावर्तते अत्र कथित् पण्डकोपाख्यानेनोद्धाटयति । मुग्धयाभार्ययाभिधीयते—पण्डकार्यपुनः, अपत्यवत्तीमे भगिनी किमर्थं नाम नाइमिति, स तामाह मृतस्तेऽहमपत्यमृतपादयिष्यामीति । तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति, चिनष्टं कस्तिप्यतीति का पत्याशा । तत्रात्मार्यदेशीयो वक्ति—ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षोऽदर्शनकारणाभावात् बुद्धिनिवृत्तिः । तत्त्वादर्शनं वन्धकारणं दर्शनान्वितर्तते । तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥ २४ ॥

हेथं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तमतः परं हानं वक्तव्यम्—

भा० का पदा०—अविद्या अर्थात् मिथ्या हानवासना संयोग का हेतु है । मिथ्याज्ञानवासना से धारित बुद्धि कार्यनिष्ठ पुरुषख्याति को नहीं प्राप्त होती, अधिकार सहित पुनः आश्रित होती है वह बुद्धि कार्यनिष्ठ पुरुष ज्ञान में स्थिर होती है जो कि अधिकारिणी है और अदर्शन जिसका निवृत्त होगया है ऐसी बुद्धि वन्धकारण के

आभाव से पुनः आवर्तित नहीं होनी यहां कोई (पराठकोपाख्यानेन) नपुंसक के उपाख्यान से उद्धारित करता है । किसी नपुंसक की भोली ली अपने पति से कहती है । स्वामिन्, मेरी बहन पुत्रवती है मैं क्यों नहीं ? वह उससे बोला मैं मरकर तेरे पुत्र उत्पादन करूँगा । तैसे ही यह विद्यमान शान चित्त की निवृत्ति नहीं करता किन्तु नष्ट हुआ करेगा, इसकी क्या प्रत्याशा है । यहां पर आचार्य का उपवेश दिया । शिष्य कहता है बुद्धि की निवृत्ति से ही मोक्ष होता है और अदर्शन कारण के अभाव से बुद्धि निवृत्त होती है । और वह अदर्शन बन्धके कारण दर्शनसे निवृत्त होता है तब चित्तकी निवृत्ति ही मोक्ष है तब क्यों यह अकालिक मतिघ्नम होता है ॥ २४ ॥

भा० का भा०—विपरीत शार्न को अविद्या कहते हैं विपरीत शानकी वासना से भरी हुई बुद्धि कार्यनिष्ठा व आत्मशान को प्राप्त नहीं कर सकती । अधिकार से युक्त न होने के कारण पुनः पतित होजाती है । इस कारण से बुद्धि की वासना को निवृत्त करना योग्य है । इस स्थल पर कोई नपुंसक की कथा के अनुसार शंका करते हैं । अर्थात् नपुंसक की ली ने अपने पति से पूछा कि आर्यपुत्र, मेरी भगिनी तो सन्तानवाली है, मैं सन्तानवाली क्यों नहीं ? तब नपुंसक ने उत्तर दिया कि मैं मरकर तुम्हारे सन्तान उत्पन्न करूँगा । विचारने का स्थल है कि जब वह जीते ही सन्तान उत्पन्न न करसका तो मरकर क्या करेगा ? ऐसेही यह वर्तमान शान तो चित्त की निवृत्ति न करसका किन्तु मरकर करेगा यह केवल दुराशामात्र है । किन्तु इस विषय में एक आचार्य कहता है कि बुद्धि की निवृत्ति ही मोक्ष है क्योंकि उसमें अदर्शन के कारणों का अभाव नहीं होता और बुद्धि की निवृत्ति अदर्शन है, किन्तु बन्ध-कारण दर्शन से निवृत्त होता है इससे चित्तकी निवृत्ति ही मोक्ष है । यह भाष्यकार का मत है ॥ २४ ॥

भो० दृ०—या पूर्व विपर्यासिमका मोहरूपाऽविद्या व्याख्याता सा तस्य विवेकख्यातिरूपस्य संयोगस्य कारणं हेयं हानक्रियाकर्मण-चयते ॥ २४ ॥ किं पुनस्तद्वानमित्याह—

भो० दृ० का भा०—पहले जो विपर्यय शानरूप अविद्या का घर्णन करते हैं वही अविद्या, विवेकख्याति रूप संयोग का कारण है और वही हानक्रियां का कर्म होने से हेय है ॥ २४ ॥

तदावभात्संयोगाभावो हानं तदृदृशेः कैवल्यम् २५।

सू० का प०—(तदभावात्) उस दर्शन के अभाव से (संयोगाभावो हानम्) संयोग का न होना ही हान है । (तदृदृशेः कैवल्यम्) वह दर्शन का एकत्र है ॥ २५ ॥

स० का भा०—दर्शन के अभाव से संयोग का नाश जिसे हान कहते हैं होता है और उससे मोक्ष होता है ॥ २५ ॥

व्या० दे० का भा०—तस्यादर्थानस्याभावात् बुद्धिपुरुष-संयोगाभाव आत्मनितिको वन्धनोपरम इत्यर्थः प्रतिज्ञानम् तदृदृशेः कैवल्यं पुण्ड्रपंसंयोगिश्रीपावः पुनरसंयोगे गुणीरित्यर्थः । दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानं तदा स्वरूपप्रनिष्ठिः पुरुष इत्युक्तपृ ॥ २५ ॥ अथ हानस्य कः प्राप्त्युपाय इति—

भा० का प०—उस अदर्शन के अभाव से बुद्धि और आत्मा के संयोग का अभाव होता है अर्थात् वन्धन की अस्तित्व विवृति हो जाती है उसे हान कहते हैं वही कैवल्य होना है पुरुष प्रकृति के गुणों से पृथक् होकर संयोगरहित हो जाता है । दुःखों के कारण के निवृत्त हो जाने से दुःखके नाश को हान कहते हैं तथ समाधिस्थ पुरुष कहा जाता है ॥ २५ ॥

भा० का भा०—जब दर्शन का अभाव हो जाता है तथ बुद्धि और आत्मा के संयोग का भी अभाव हो जाता है और वन्धन का नाश हो जाता है तथा पुरुष को कैवल्य अर्थात् गुणादि का विरह होता है, अभिप्राय यह है, कि दुःख की निवृत्ति को हान कहते हैं उसके होने से पुरुष समाधिस्थ चाहे कैवल्यं को प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

ओ० वृ०—तस्या अविद्यायाः स्वरूपविश्वरूपेन सम्प्रग् द्वानेन दन्मूलिताया योऽयमभावस्त्विम् सति तत्कार्यस्य संयोगस्याप्य-या प्रस्तद्वानमित्युच्यते । अयस्मर्थः । नैतस्यामृतद्रव्यवत् परित्यागो युज्य से किन्तु जातायां विवेकख्यातौ अविवेकत्विभित्तः संयोगः । स्वयमेव निर्बन्धं त इति तस्य द्वानम् यद्येव च संयोगस्य हानं तदेव नित्यं के-व्वलस्थापि पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यते ॥ २५ ॥ तदेवं संयोगस्य स्व-

स्वर्ण कारणं कार्यज्ञानभिहितम् अथ हानोपायकथनद्वारेणोपादेय-
कोरणमाह ।

भा० दृ० का भा०—अविद्याके स्वरूप से विस्त्र जो सम्यक् ज्ञान है
उससे अविद्याका अभाव होता है, उस अभावके हीनेसे अविद्यासे उत्प-
न्न हुआ जो द्रष्टा और दृश्य का संयोग है उसका भी अभाव हो जा-
ता है इस अभावको हान कहते हैं, तात्पर्य यह है, कि अमूर्त अर्थात्
स्वरूपरहित वस्तु का विभाग नहीं हो सकता है, किन्तु जब विवेकरूप्या
ति उत्पन्न होती है तब अविवेकसे उत्पन्न हुआ पूर्वोक्त संयोग आप
की नष्ट हो जाता है यही हान कहता है, जो संयोग का हान है
वही पुरुप का कैवल्य है ॥ २५ ॥ इसी रीति से दृश्य के संयोग का
कारण स्वरूप और कार्य कहागया । आगे हानोपायके कथन से
आश्व के कारण का वर्णन होगा-

विवेकरूप्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

सू० का प०—(अविप्लवा विवेकरूप्यातिः) स्थिर
विवेक ज्ञान (हानोपायः) हान का उपाय है ॥ २६ ॥

सू० का भा०—जिस ज्ञान का कभी नाश न हो वह ज्ञानप्राप्ति हान
का उपाय है ॥ २६ ॥

ब्या० दे० भा०—सत्त्वपुरुपान्वताप्रत्ययो विवेकरूप्यातिः
सा त्वनिवृत्तिमिथ्याज्ञाना प्लवते । यदा मिथ्याज्ञानं दग्धवीज-
भावं वन्ध्यप्रसरं सम्पद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे
वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययभूता
हो निर्मलो भवति । सा विवेकरूप्यातिरविप्लवा हानोपायः ।
ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धवीजभावोपगमः पुनर्चाप्रसव इत्येष
भोजस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥ २६ ॥

भा० का प०—दृश्य धुखिसे आत्मा भिन्न है यह ज्ञान विवेकरूप्याति
कहलाता है और वह जब तक मिथ्या ज्ञान निवृत्त नहीं होता तब
तक स्थिर नहीं होता । जब मिथ्याज्ञान दग्धवीज भावको प्राप्त होकर
उत्पन्न होनेके अर्थोन्न हो जाता है तब रजोगुणके क्लेश नष्ट हो गये

हैं जिसके सत्त्व गुण के परम प्रकाश में परम वशीकार संज्ञा में वर्तमान जो योगी, उसका विवेकशानका प्रवाह निर्मल होजाता है । वह अधिच्छिन्न विवेकरूपाति होने का उपाय है तब भिथ्या शान के धीजभावका नाश होता है फिर उत्पन्न नहीं होता यह मोक्षका मार्ग हान का उपाय है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—दृश्य पदार्थोंसे और बुद्धिसे आत्मा भिन्न है पेसा विचार हो जिसमें यह शान विवेकरूपाति कहलाता है और वह विवेकरूपाति जयतक भिथ्याशान नष्ट नहीं होता, स्थिर नहीं होता जब उसका प्रकाश होता है तब भिथ्याशान इच्छा नष्ट हो जाता है अर्थात् उसकी उत्पत्ति फिर नहीं होती । तब रजोगुण से उत्पन्न हुआपक्लेश नाश हो जाता है और सत्त्वगुण के प्रकाश से शान के प्रवाह में निर्मल हो जाता है, वही विवेकरूपाति शान का उपाय है । जब भिथ्या शान के धीज का नाश होजाता है वह पुनः उत्पन्न नहीं होता । यही मोक्ष का मार्ग और हानोपाय है ॥ २६ ॥

२६—इस संत्र में विवेकरूपाति विशेषण और अविस्वावा विशेषण है । अविस्वावा का अर्थ यह है “न विद्यते विस्वावो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरां व्युत्थानं रूपो यस्याः सा अविस्वावा” । तात्पर्य यह है कि अविद्या के नाश होजाने परं कर्त्ता और भोक्तापन का अभिमान बुद्धि से जाता रहता है तब वह याद विषयों को त्याग कर अन्तर्मुख हो जाता है तब दृश्य का अधिकार निवृत्त हो जाता है तदनन्तर मोक्ष होता है । यही हान अर्थात् संसार त्याग का उपाय है ॥ २६ ॥

भ००१०—अन्ये गुणा धन्यः पुरुष इत्येवं विधस्य या ख्यातिः ग्रस्या ताऽस्य हानस्य दृश्यपरित्यागस्योपायः कारणम् । कीदृशी, अविस्वावा न विद्यते विस्वावो विच्छेदोऽन्तराऽन्तरा व्युत्थानरूपो यस्याः साऽविस्वावा । इदमत्र तात्पर्यम् प्रतिपक्षभावनावलादविद्याप्रविलेपे निवृत्संकर्त्तृत्वं भोक्तृत्वाभिमानायां रजस्तमोगलानभूताया बुद्धेरन्तर्मुखा यां विच्छाया संकान्तिः सा विवेकरूपातिरुच्यते तस्यां च सन्ततत्वैन प्रवृत्तायां सत्यां दृश्यस्याधिकारमिवृत्ते भवत्येवं कैवल्यम् ॥ २६ ॥

उत्पन्नविवेकरूपाते: पुरुषस्य यादशी प्रक्षा भवति तां कथयन् विवेकरूपातेरेव सरक्षपमाह ।

भो० चू० का भा०—गुण भिन्न है और आत्मा भी एक पृथक् पदार्थ है इस विवेक ज्ञान को हान अर्थात् दुःखपरित्याग का उपाय वाँ कारण जानना चाहिये वह विवेकख्याति कैसा है । “नहीं है विषय अर्थात् विनाश, जिसका” । अभिप्राय यह है कि अविद्या के विरोधी ज्ञानके उदय होनेसे रजोगुण और तमोगुणकी जिन वृत्तियोंसे कर्त्तृत्व और भोक्तृत्वका अभिमान दुष्क्रियोंको धेरेहुए हैं उन वृत्तियोंसे दुष्क्रियहित होकर अन्तर्मुख होजाती है चैतन्य के आभास रूप विचार को विवेक ख्याति कहते हैं ॥ जब वह विवेक तत्त्वरूप विचारमें प्रवृत्त रहती है तब इश्य का अधिकार निवृत्त होजाने से पुरुष को कैवल्य होता है ॥ २६ ॥ जिसको विवेकख्याति उत्पन्न हुई है उस की दुष्क्रिया वर्णन करते हुए विवेकख्याति का रूप कहते हैं ।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

सू० का पदा०(तस्य) पूर्वोक्त हानोपाय की (स- सधा) उ प्रकर की (प्रान्तभूमिः) योगी के ज्ञान की भूमि (प्रज्ञा) दुष्क्रि है ॥ २७ ॥

सू० का भावा०—पूर्वसूत्र में कहे हुए हानोपाय प्राप्त हुए योगी की उ प्रकार की दुष्क्रि है ॥ २७ ॥

च्या० दे० का भा०—तस्येति प्रत्युदितख्यातेः प्रत्याम्नायः । सप्तधेनि अमुख्यावरणमलापगमाच्चिन्चस्य प्रत्ययान्तराद्युत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति । तद्यथापरिङ्गाते हेयं नास्य पुनः परिङ्गेयमस्ति । क्तीरणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्तेतच्यपस्ति । साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानभूमावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति । एषा चतुष्ट्र्यो कार्यां विमुक्तिः प्रज्ञायाः । चिच्चिमुक्तिस्तु चर्यो चरिताधिकारा दुष्क्रिः गुणो गिरिशिखरतटच्छ्रुता इव श्रावणो निरवस्थानाः स्व- कारणे प्रत्यामियुखाः सह तेनास्त्रङ्गच्छन्ति न चैपां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति । एंतस्यामवस्थायां गुणः

सम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति । एता-
समविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशलं इत्याख्यायते
प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वा-
दिति सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हनोपाय इति नच सिद्धि-
रन्तरेण साधनमित्येवदारभ्यते ॥ २७ ॥

भा० का पदा०—जिस योगी का विवेक उदय होगया है, एवं
अशुद्धि, आवरण और मल के दूर होने से जिस २ का चित्तं
धैर्य के अतिरिक्त दूसरे किसी हानि को उत्पन्न करने में असमर्थ है,
बंसकी उ प्रकार की शुद्धि होती है जब धैर्य को इसने जान लिया
फिर जानने धौण्य कोई पदार्थ नहीं रहता है हैर के हेतु क्षीण हो
जाते हैं पुनः विवेकी को क्षीण करने धौण्य कुछ नहीं रहता है निरोध
समाधि से इसने हानि का साकार किया है एवं विवेकख्याति
रूप हानोपाय को भी जान लिया है यह चार प्रकार की कार्य-
विमुक्तिः प्रज्ञा है और चित्त विमुक्ति तो तीन प्रकार की है । पहिले
अधिकरण शुद्धि, दूसरी में वे सत्त्वाद गुण हैं जो पर्वत के शिखर
से गिरे हुवे समस्त गुण गिरिशिखर पत्थरों के समान स्थिर
नहीं रहसकते, किन्तु साधारण में लीन होने के लिये पतन कियाके
स्थाय ही न एं प्रथम होजाने हैं । कारण में लीन हुवे इनकी फिर
उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि फिर उनकी उत्पत्ति का प्रयोजन ही नहीं
रहता इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से रहित शेष रहता है और
यही चित्त विमुक्ति की तीसरी अवस्था है । प्रकाशरूप धारा निर्माण
शुद्ध आत्मा पूर्वोक्त ७ प्रकार की अवस्था और में शुद्धि को देखता हुआ
पुरुष ज्ञानी कहाता है चित्त की पुनः उत्पत्ति होने पर भी गुण-
तीत होनेसे मुक्त जीव ज्ञानी ही रहता है ॥ २७ ॥ इस रीति से सिद्ध
होता है कि विवेकख्याति ही हानोपाय है साधन के विना सिद्धि
नहीं होती अतएव सब साधनों का धरणेन किया जाता है ।

भा० का भावा०—उक्त ज्ञान की ७ प्रकार की अवस्था है जिनको
भूमिका कहते हैं उन में से प्रथम वर्ग की जिसमें ८ भूमिका हैं
कार्यविमुक्तिसंक्षा है और दूसरे वर्ग की जिस में ३ अवस्था हैं
चित्तविमुक्ति संक्षा है । इनमें से प्रथम अवस्था जिस योगी को

प्राप्त होती । उसको यह चिन्तन होता है कि पूर्व काल में सुमेर घट्टन ही ज्ञातव्य था, किन्तु अब सुझे कुछ ज्ञातव्य नहीं है अर्थात् ज्ञेयशृण्य है, दूसरो अवस्था में प्राप्त होने से योगी को यह मालूम होता है कि पूर्वकाल में सुझे कामादि अनेक हैय थे, परन्तु अब सुझको कुछ हैय नहीं । तीसरी अवस्था में अस्थिर होनेसे योगीको प्रतीत होता है, कि अब सुझे कोई वस्तु का प्राप्त करना अवशिष्ट नहीं है, सब कुछ सुझे प्राप्त होगया है । चतुर्थ वह भूमिका है जिसमें योगी को यह ज्ञान प्राप्त होता है, कि मैंने सम्प्राप्त समाधि से विवेकख्याति की भावना प्राप्त करली अब सुझे भावनीय कोई पंद्रार्थ नहीं रहा । यह चारों कार्य विमुक्ति कहलाती है । चित्त-विमुक्ति अवस्थाओं में स्थिर होने से योगी को यह ज्ञान होता है, कि पूर्व काल में मैं अनेक बुद्धिजन्य दुःखों से अस्त था, किन्तु अब मेरे सब दुःख ज्ञय होगये, दूसरी भूमिका में प्राप्त होनेसे योगी को यह परिक्लान होता है कि मेरे आन्तःकरणके गुण दग्धवीज होगये हैं अब पुनः उनकी उत्पत्ति नहीं होगी जब योगी तृतीय भूमिका अथवा सप्तम भूमिका में प्राप्त होता है तब उसका चित्त और बुद्धि लय होते हैं उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं ॥ २७ ॥

भौ० बू०—तस्योत्पन्नविवेकज्ञानस्य ज्ञातव्यविवेकरूपा प्रज्ञा प्रान्तभूमौ सकलासालभ्वनसमाधिपर्यन्ते सप्तप्रकारा भवति । तत्र कार्यविमुक्तिरूपा चतुःप्रकारा-ज्ञातं मया ज्ञेयं न ज्ञातव्यं किञ्चिद्द्रस्ति, क्षीणा मे क्लेशा न किञ्चित् चेत्प्रवृत्यमरित, अधिगतं मया ज्ञानं प्राप्ता मया विवेकख्यातिरिति । प्रत्ययान्तरपरिहारेण तस्याम-वस्थायांसीदशेव प्रज्ञा जायते इद्वशी प्रज्ञा कार्यविपर्यं निर्मलं ज्ञानं कार्यविमुक्तिरित्युच्यते । चित्तविमुक्तिस्त्रिधा-चरितार्था, मे बुद्धिशुर्णां हताधिकारा गिरिशिखिरनिपतिता इव ग्रावाणो न पुनः स्थितं यास्यन्ति, स्वकारणे प्रविलयाभिमुखानां गुणानां मोहाभिभानमूल-कारणाभावान्निष्पयोजनत्वाच्चामीषां कुतः प्रसीदोऽभवेत्, सात्मी भूतश्च मे समाधिः तस्मिन् सति स्वरूपप्रतिष्ठोऽहमिति इद्वशीविकारा चित्तविमुक्तिः । तदैवमीदश्यां सप्तविधप्रान्तभूमिग्रावायामुपजातायां पुरुषः केवल इत्युच्यते ॥ २७ ॥

विवेकख्यातिः संयोगभावहेतुरित्युक्तं, नस्यास्तूपत्तौ किनिमित्तं भित्याह ।

भ०. य० का भा०—जिसको विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ है उनको जानने योग्य विवेक रूपी शुद्धिभूमि में सर्व आलम्बन रूपी अवस्थां समाधि पर्यन्त उ होती हैं उनमें से कार्यविमुक्त संज्ञक प्रथम की चार भूमियों की प्राप्ति से योगी को यह मालूम होता है कि दोष को मैंने जाना है अब धातव्य कुछ शेष नहीं रहा है, मेरे फ्लेश धीण हो गये हैं अब लेत्तव्य कुछ नहीं रहा है, मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है; विवेकख्याति सुझे। प्राप्त हुई है, इस अवस्था में ऐसी शुद्धि उत्पन्न होती है इसही को निर्मल धानवाली शुद्धि कहते हैं इसही को कार्यविमुक्ति अवस्था वा भूमिका कहते हैं । चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की है मेरी शुद्धि चरित र्थु तु अर्थात् मेरी शुद्धि अपने कार्य को करनुकी है, गुणों के अधिकार समाप्त होगये अर्थात् मेरे रजो गुणादि के अधिकार नष्ट होगये हैं जैसे पंहाङ के शिखर से गिरा जो पत्थर वह फिर पंहाङ के शिखर पर नहीं पहुँचेगा ऐसे ही अपने कारण में लय होजाने वाले गुणोंका कारण जो मोह है उसका अभाव होने से सब गुण निष्पत्योजन होजाते हैं फिर वह किस प्रकार से उत्पन्न होसकते हैं । मेरी समाधि ठीक द्वौग्री है मैं इस ती अवस्था में अपने रूपमें स्थित हूँ इसको चित्तविमुक्ति कहते हैं । जब यह उ प्रकार की भूमिका प्राप्त होजाती है तब पुरुष को मुक्त ना कैवल्यप्राप्त कहते हैं ॥ २७ ॥ विवेकख्याति संयोग के अभाव का हेतु है यह कहा परन्तु विवेकख्याति की उत्पत्ति का प्रया कारण है ? इसका अगले सूत्र में उत्तर कहेंगे ॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीसिराविवेके
ख्यातेः ॥ २८ ॥

सूत्र का पदार्थ—(योगाङ्गानुष्ठानात्) योग के जो उ अंग हैं उन के करने से (अशुद्धिक्षये) मत्तिनता नाश हो जाती है और उस से (ज्ञानदीसिः) ज्ञानका प्रकाश होता है (आविवेकख्यातेः) विवेकख्याति प्राप्त होने तक ॥ २८ ॥

सूत्र का भावां०—योग के अंगों का क्रमशः अनुष्टान करने से शान का प्रकाश विवेकव्याति की प्राप्ति होने तक होता है ॥ २८ ॥

व्यां० दे० का भां०—योगांगान्यथावभिद्याविष्यमाणानि तेषामनु-
षानात् पञ्चपर्वणोविपर्ययस्या शुद्धिरूपस्य क्षयी नाशः तत्त्वयेसम्यक्
शानस्याभिव्यक्तिः । यथायथा च साधनान्यनुप्रयोगन्ते तथातथा ननुत्वम्
शुद्धिरापद्यते यथा यथाच्च क्षीयते तथा तथा क्षयवामानुरोधिनी शान-
स्यापि दीतिर्विवर्द्धते । सा खल्वेषां विचृद्धिः प्रकार्यमनुभवत्याविवेक-
ख्याते: आगुरुपुरुषस्वरूपविद्यानादित्यर्थः योगांगानुष्टानमशुद्धेर्वियोग
कारणम् । यथा परशुरच्छेदवस्थविवेकरूपतेरु प्राप्तिकारणं यथा
धर्मः सुवृत्त्य-नान्यथा कारणम् । कनि चैतानि कारणानि शास्त्रे भव-
न्ति नववेत्याह तद्यथा उत्पत्तिश्वश्रवभिव्यक्तिविकारप्रत्ययासयः
वियोगान्यत्ववृत्तयः कारणं नवधास्तूनभिति ।

तत्रोत्पत्तिकारणं मनो भवति विद्यानस्य इथतिकारणं मनसः पुरुषार्थ-
सा शरीरस्येवाहार इति । अभिव्यक्तिकारणं यथा कृपस्याऽङ्गोकस्तथा
कृपशानं विकारकारणं मनसो विषयान्तरम् यथाऽग्निः पापस्य
धर्मवकारणं धर्मशानमनिनशानस्य प्राप्तिकारणम् योगांगानुष्टान
विवेकव्याते: वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः । अन्यत्वकारणं यथा
सुवर्णस्य सुवर्णकारः एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या भूढत्वेद्वयो
हुख्यंत्वेरागः सुख्यत्वे तदवशानं माध्यस्थ्ये । धृतिः कारणं शरीरमि-
न्द्रियाणाम् । तानि च तस्य महाभूतानि शरीराणांतानि च परस्परं
सर्वेषां तैर्यग्नेनमानुप्रवृत्तानि च परस्परार्थत्वादित्येवं नवकारणा
नि तानि च यथासम्बवमपदार्थान्तरेषि योज्यानिगांगानुष्टानं
तु विवेक कारणत्वं लभते इति ॥ २८ ॥

तत्र योगांगान्यवधार्यन्ते ।

भां० का प०—योगके अङ्ग जिनका आगे वर्णन किया जायगा आठ
हैं उनका अनुष्टान करने से प्राची भांग चाले, विद्या, शान का नाश
हो जाता है उसके नाश हो जाने से यथार्थ शान की प्राप्ति होती है
और जैसे २ साधन किये जाते हैं तैसे२ मत भून होता जाता है
और जैसे २ अपवित्रता नाश होती जाती है तैसे ही तैसे क्षय क्रम
के अनुसार शान का भी प्रकाश बढ़ता जाता है यह शान की वृद्धि
विवेक ख्याति अर्थात् शुण और पुरुष के स्वरूप शान होने तक

उत्तरुष्टानं को प्राप्त होती है । योगांगोंका अनुष्ठान अपविष्टता के नाश का कारण है जैसे फरसा काष्ठ के उच्छ्रेद का कारण है । तथा विवेक खण्डितके तो प्रांसिका कारण है जैसे धर्मके अंतिरिक्ष सुख का कारण अन्य कोई नहीं है । शास्त्रमें कितने कारण होते हैं ? नौ होते हैं जिन के नाम हैं १ उत्पत्ति २ स्थिति ३ अभिव्यक्ति ४ विकार ५ प्रत्यय ६ प्राप्ति ७ विद्योग ८ अन्यत्व और ९ धृति ।

ये नव प्रकारके कारण शास्त्रमें कहे हैं उनमें से ज्ञान की उत्पत्ति को कारण मन है मन की पुरुषार्थता स्थिति का कारण है जैसे शरीर का कारण आहार है । अभिव्यक्ति का कारण रूप ज्ञान है जैसे कंप का प्रकाश । विकार का कारण मन का विषयान्तर में जाना है । जैसे अनिन पाक के विकार का कारण है । धुये का ज्ञान अग्नि ज्ञान के प्रलयकी कारण है । योगांगों का अनुष्ठान विवेकखण्डित की प्राप्ति का कारण है और वही धशुद्धि के विद्योग का भी कारण है । अन्यत्व कारण है जैसे सुवर्ण का सुनार इस ही प्रकार से एक ली प्रत्यय में अविद्या मोह का कारण होती है द्वेष दुःख का कारण होता है, राग सुख का और तस्यहान वैराग्य का कारण होता है शर्तोर्द, इन्द्रियों का धृति कारण है और इन्द्रियां शरीर की, तथा महापूत शरीरों के भनुष्य योनि और द्रेवयोनि का कारण है, इस प्रकार एक दूसरे के सहायक परस्पर ये हैं । जहाँ २ सम्भव हो अन्य पदार्थों में भी लगाने चाहिये योगांग के अनुष्ठान तो दो ही प्रकार के कारण भाव को प्राप्त करते हैं ॥ २८ ॥

भा० का भा०—योग के आग जिनका आगे वर्णन किया जायेगा उन का अनुष्ठान करने से एवं पर्वा अविद्या नष्ट होती है उस से अपविष्टता का क्षय होता है और अरविज्ञन के नाश होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, योगी जैसे रंजपादि का अनुष्ठान करना है वैसे ही मलिनता क्षय होती है और मलिनता क्षय के क्रम से ही ज्ञानोदय होता जाता है वह ज्ञान क्रम से उत्तरुष्ट होता जाता है जिस प्रकार से सुख का कारण केवल धर्म है ऐसे ही मोक्ष प्राप्तिका यह योगांग कारण है ॥ २८ ॥

भ० श०—योगाज्ञानि वद्यमाणानि तेपामनुष्ठानात् प्रानपूर्वकाद्
भरसाद्गुविवेकखण्डाते रुद्धिद्वये विचासरवस्य प्रकाशावरणस्त्रियोगा

स्मिकाशुद्धिक्षये या ज्ञानवीसिस्तापत्तमेन सात्विकः परिणामो विवेकल्यातिपर्याप्तः स तस्याः ख्यातेहेतुरिस्थर्थः ॥ २८ ॥ योगाङ्गानामेत्य-
प्रानादशुद्धिक्षयं इत्युक्तं, कानि पुनस्तानि योगाङ्गानि इति लेपामुः
द्देशमाह ।

भ० ८० का भा०—जिन योग के अङ्गों का धर्णन किया जायगा उनके साधन अर्थात् ज्ञान पूर्वक अभ्यास से विवेकल्पाति प्राप्त होती है और उससे अशुद्धि का क्षय हो जाता है जान का प्रकाश होने से सात्विक परिणाम विवेकल्याति तक पहता है वही परिणाम विवेक-
ल्याति का हेतु है ॥ २८ ॥

इस सूत्र में यह है कि योग के अङ्गों के साधन से अशुद्धि तब होती है परन्तु यह योग के अङ्ग कौन हैं इसका धर्णन अगले सूत्र में करेंगे ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधि,
योऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

भ० ८० का पदार्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान धारणा, और समाधि योग के यह दो अंग हैं ॥ २९ ॥

सू० का भा०—यमादिक योग के दो अंग हैं ॥ २९ ॥

व्या० दे० का भा०—यथाक्रपमेतेषामनुष्ठानं स्वरूपश्च
वद्यामः ॥ २९ ॥ तत्र—

भाष्य का पदार्थ—क्रम से इनका अनुष्ठान और लक्षण आगे कहेंगे ॥ २९ ॥

भाष्य का भावार्थ—यमादि योग के दो अंगों के लक्षण आगे कहेंगे ॥ २९ ॥

२९—इन अंगों से कुछ अंग योग के साक्षात् साधन हैं और कुछ परम्परा सम्बन्ध से योग में सहायता देते हैं, जैसे यम, और नियम चित्त में निर्मलता उत्पन्न करते हैं और चित्त झुक होने से,

योग में रुचि विद्ती है, परन्तु यम साक्षात् समाधि के साधक नहीं हैं। इस ही से। इन्हें योग का बहिरंग साधन कहना उचित है और प्राणायामादिक साक्षात् योग के साधन। हैं अतएव अन्तरंग साधन कहे जाते हैं ॥ २६ ॥

भौ० श०—इह कानिचित् समाधे: साक्षात् उपकारकत्वेनान्तरङ्गाणि यथा धारणादीनि । कानिचित् प्रतिपक्षभूतहिंसादिवितकोन्मूलन द्वारेण समाधिमुपकुर्वन्ति । यथा यमनियमादीनितव्रासनादीनामुक्तरोत्तरमुपकारकत्वम् । तद्यथा—सत्यासनजये प्राणायामस्थैर्यमेव मुत्तरव्रापियोन्यम् ॥ २६ ॥ क्रमेणैषांस्वरूपमाह

भौ० श० का भा०—इनमें से कोई अङ्ग योग के साक्षात् उपकारक होने से अन्तरङ्ग हैं। जैसे धारणादिक कोई हिंसादि के प्रतिपक्षी होने से वितर्क के नाशक होने के कारण योग में उपकारक होते हैं जैसे सम नियमादि आसनादिक परम्परा से योग के साधक हैं जैसे आसन के जीतने के पक्षात् प्राणायाम, स्थित होता है ऐसे ही योग के और अङ्गों को भी समझना चाहिये ॥ २६ ॥ योग के अङ्गों का कम से लक्षण कहते हैं ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापिग्रहा यमाः ॥३०॥

सू० का पदा०—(अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापिग्रहाः) सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अर्थात् विषयों का संग्रह न करना, यम हैं ॥ ३० ॥

सू० का भा०—यम ५ हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ॥ ३० ॥

व्या० दे० का भा०—तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्वोहः । चत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्त्विद्विपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपादनते । तदवदातरुपकरणायैचोपादीयम् । यथाचोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि व्रह्मनि समादेत्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निचर्तमान द्वामेवावदातरुपामहिंसा करोति ।

सत्यं यथार्थं वाह्यनसे । यथा इष्टं यथानुमित्तं तथा वाह्यं मनस्थेति । परत्र स्ववौधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वस्ति तां भ्रान्ता का प्रतिपत्तिचक्रन्दया वा भवेदिति । एषा सर्वभूतोऽकारार्थं प्रहृत्ता न भूतोपवानत्राय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपवातपरैव स्यान्तं सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्तेन तु एषाभासेन शुण्यप्रतिरूपक्षेण कष्टन्तमः प्रामुखात् । तस्मात् परीच्य सर्वभूतहितं सत्यं व्रूयात् ।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं तत्पतिषेधः पुनर रूपदारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं शुमेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणां मर्जनरक्षणक्षयसंग हिंसादां पदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ ३० ॥ ते हु

आ० का प०—उक्त वर्मों में से अहिंसा उसे कहते हैं जो सब प्रकार से सब काल में प्राणिमात्र का अनिष्टःचिन्तन न करे और अगले यम और नियम इस से ही होते हैं उसकी सिद्धि के लिए ही और यमादि प्रतिपादित किये जाते हैं उसको निश्चल और निर्मल करने के लिये ग्रहण किये जाते हैं ऐसाही आन्यन्त्र कहा है यह ग्रह को जानने वाला योगी जैसे जैसे बहुत से ब्रतों को धारण करने की इच्छा करता है तैसे ही तैसे प्रमाद से किये हुये हिंसा के कारण रूप पापों से निष्कृत होकर उस ही निर्मल रूपवाली अहिंसा को धारण करता है ।

अब सत्य को कहते हैं जिसमें मन और वाणी यथार्थ रहे जैसा देखा हो जैसा अनुसारं किया हो वैसा ही अपने मन और वाणी को रखना । दूसरे मनुष्यमें अपने इन को जतलाने के लिए जो वचन कहाजाय वह वाक्य न छुल कपट भरा, न भ्रग देनेवाला और न निरर्थक हो । वह वाणी सब प्राणियों के उपकारके वास्ते कही गई हो किन्तु प्राणियों के नाश के वास्ते न कही गई हो यदि वह कहा हुआ वाक्य प्राणियोंका उत्पीड़क हो तो वह सत्य नहीं होगा उसके अनुसार आचरण करने से पाप ही होता है पुण्याभास अर्थात् जो पुण्यके नाम से

स्वार्थसाधन किया जाना है और अपुण्य के कृत्य से कष्ट पाता है इसलिये परीक्षा करके जिस में सब प्राणियोंका हित हो ऐसा सत्य ही थोलो ।

चोटी उसको कहते हैं कि नियिद्ध रीनिसे दूसरेका द्रव्य लेना । उस के नियेध को अस्तेय कहते हैं । तृष्णा से भी चोटी होती है इस लिये तृष्णाका त्याग भी अस्तेय है । ब्रह्मचर्यका अर्थ यह है कि लिङेन्द्रिय का निरोध करना अर्थात् चोरीक्षा । विषयों का संग्रह करने में फिर उनकी रक्षा करने में और उनके नाश में सर्वत्र हिंसारूप दोष को देखकर जो विषयों का त्याग है उसे अपरिह्र कहते हैं ॥ ३० ॥

भा० चा भा०—अहिंसा उसे कहते हैं जो किसी प्रकार किसी कांतमें भी किसी प्राणी की शत्रुता का न करना यह अहिंसा अन्य धर्मों की मूल है, वर्षोंकि अहिंसाके सिद्ध करने को ही अन्य यमादि किये जाते हैं । सत्य उसे कहते हैं, कि जैसा अपना दृष्ट वा अनुभित विषय हो वैसा ही प्रकाशित करना और जिसे उण्डेश करना उसे निष्कपट निर्माण ऐसे शब्दों में करना जिन से उसे घोष हो जाय, जिस में प्राणियों का दोष हो वह सत्य नहीं है और जो पुण्यभास है उससे धर्म नहीं होता किन्तु पाप ही होता है, इसलिये सावधानी से सत्य की परीक्षा करके बचन घोलना उचित है । अस्तेय का अर्थ है, कि शाश्वतिरुद्ध रीति से किसी के धन को ग्रहण न करना जो इन्द्रियों का निरोध किया जाता है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं । विषयों को जो दोषप्रदिष्ट से त्यागना है उसे अपरिह्र कहते हैं । यह ५ यम है ॥ ३० ॥

भो० श०—तत्र प्राणविष्योगप्रशोजनव्यापारो हिंसा । सा च सर्वानर्थं हेतुः । प्रथमं तदभावोऽहिंसा । हिंसायाः सर्वप्रकारेणैव परिहार्यत्वात् प्रथमं तदभावरूपाया अहिंसाया निर्देशः । सत्यं वाढ़्मनसोर्यथार्थ त्वम् । स्तेयं परस्वापहरणं तदभावोऽस्तेयम् ब्रह्मचर्यसुपस्थस्यंयमः । अपरिग्रहो भोगसाधनानामनक्षीकारः । तत्र पतेऽहिंसादयः पञ्च यम-शब्दवाच्या योगाङ्कत्वेन निर्दिष्टाः ॥ ३० ॥ एवं विशेषमाह—

भो० श० का भा०—इनमें हिंसा का अर्थ यह है, कि किसी प्राणी के शरीर को प्राण से जुड़ा कर देने के प्रयोजन से जो क्रिया की जाती है उसे हिंसा कहते हैं । यह हिंसा सब अनर्थों का हेतु है ।

उसके अभाव को अहिंसा कहते हैं क्योंकि अहिंसा में सब प्रकार की हिंसा निवृत्त हो जाती है। इस ही कारण प्रथम अहिंसा का धर्णन किया गया है। सत्य का अर्थ यह है कि चाणी और मनको टोक रखना। चोरी का अर्थ यह है, कि पराये धनको छीन लेना और उसके अभाव को अस्तेय कहते हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है, कि लिंग इन्द्रिय को बश में रखना। अपरिग्रह का अर्थ यह है, कि भोग साधन की सामग्रियों को ग्रहण न करना। योग के अंगों में से अहिंसादिक ५ योग के अंग कहाते हैं ॥ ३० ॥ इनका विशेष धर्णन करते हैं—तेतु

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाब्रतम् ॥ ३१ ॥

सू० का पदा०—(जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः
जाति, देश, काल और समय से अनाब्रत (सार्वभौमा):
सर्व पृथिवी और सब विषयों में पालन करना (महा-
ब्रतम्) महाब्रत है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—जाति, देश, काल और समय में आबद्ध न होकर इन यमों का सर्वथा परिपालन करना महाब्रत कहाता है ॥ ३१ ॥

व्या० दे० का भा०—तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना यत्स्य-
वधकस्य यत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा । सैव देशावच्छिन्नाना न-
तीर्थं हनिष्यामीति । सैव कालावच्छिन्नाना न चतुर्दश्याना न पुण्ये-
ऽइनि हनिष्यामीति । सैव त्रिभिरुपरतस्य [समयावच्छिन्ना देव-
ब्रह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति] यथा च ज्ञियाणां युद्ध एव
हिंसा नान्यत्रेति । एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना आह-
सादयः सर्वथैव परिपालनीयाः । सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथै-
वाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा यहाब्रतमित्युच्यन्ते ॥ ३१ ॥

भा० का पदा०—(तत्राहिंसाजात्यवच्छिन्नाः) उनमें से जाति के अनुसार अहिंसा यह है कि मछुली पकड़ने वाले की हिंसा केवल

मछुलियों के मारने में है अन्यत्र नहीं । वही हिंसा देशसम्बन्धिनी होती है, (न तीर्थं हनिष्यमीति) तीर्थं स्थानमें हिंसा न करूँगा वही कालसम्बन्धिनी होती है । चतुर्दशी को या और किसी पुण्यतिथि में हत्या न करूँगा इन तीनोंसे विरक है उसे समय सम्बन्धिनी । देवता व्राह्मण के वास्ते हिंसा करूँगा और पेसे ही ज्ञायों को युज्ञ ही में हिंसा-होती है अन्यत्र नहीं । इन जाति, देश, काल और समयों से असम्बन्धित अहिंसादि यम सब प्रकार से पालन करने योग्य हैं । सब अवस्थाओं में सब विषयोंमें लभ प्रकारसे जिसमें व्यभिचार न हो, वह सार्वभौम महाव्रत कहाता है ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—जातिवच्छिन्न हिंसा वह कहाती है जो जाति से सम्बन्ध रखती हो जैसे मछुआ जाति में मछुली मारना, देश सम्बन्धिनी हिंसा वह है जो किसी देश के उद्देश से कीजाय, पेसे ही काल और समय सम्बन्धिनी भी हैं इनसे सर्वथा निवृत्त होने को सार्वभौम महाव्रत कहते हैं ॥ ३१ ॥

३२ सूत्र—जाति व्राह्मणत्व अर्थात् व्राह्मणों को न मारूँगा, पेसे ही अमुक तीर्थं वा चतुर्दशीके दिन हत्या न करूँगा अथवा देवताओं के निमित्त ही हत्या करूँगा । इस पश्चापात् को त्याग वर पेसी प्रतिष्ठा करना कि मैं कभी किसी प्रयोजन के वास्ते भी किसी को नहीं मारूँगा पेसे ही सत्यं चोलने, चोरी न करने, आदि के प्रण को सार्वभौम महाव्रत कहते हैं । यहां पर सार्वभौमका अर्थ उक्त ७ प्रकार की भूमियों में स्थिर रहने चाला है ॥ ३२ ॥

भो० द३०—जातिव्राह्मणत्वादिः । देशस्तीर्थादिः । कालचतुर्दश्यादिः । समयो व्राह्मणप्रयोजनादिः । एतेष्वतुभिरजनवच्छिन्नाः पूर्वोक्ता अहिंसादयो यमः सर्वासु लितादिषु विच्छ्रुमिषु भवा महाव्रतमित्युच्यते । तद्यथा व्राह्मणं न हनिष्यामि तीर्थं न कंवनं हनिष्यामि । चतुर्दश्यान् न हनिष्यामि । देवव्राह्मणप्रयोजनव्यतिरेकेण कमरि न हनिष्यामीति । एतच्छतुर्विधावच्छेदव्यतिरेकेण किञ्चत् पूर्वचित् कदाचित् कस्त्विदर्थं न हनिष्यामीत्यवच्छिन्नाः । एवं सत्यादिषु यथाप्रयत्नं योज्यम् । इत्थमनि प्रतीकृताः सामान्यैवं प्रवृत्ता महाव्रतमित्युच्यते न पुनः नियमानाह—परिवच्छिन्नावधारणम् ॥ ३२ ॥

भो० द३० का भा०—जाति का अर्थ व्राह्मणत्व आदि है न्याय दर्शन में जाति के दो लक्षण लिखे हैं एक “समानप्रसवा-

तिमका जातिः” अर्थात् जिन समस्त व्यक्तियों में किसी विशेष गुण के कारण देखने वालों को समान बुद्धि और प्रबन्ध हो उसे जाति कहते हैं। जैसे गोत्वधर्माविच्छिन्न समस्त व्यक्ति गौ कहलाती है एसे ही ब्राह्मणत्व गुणविशिष्ट मनुष्य ब्राह्मण जाति के कहलाते हैं। दुसरा लक्षण “साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवेस्थानं जातिः” किसा है इस का अर्थ भी यही है कि साधर्म्य और वैधर्म्य से जिसका नियंत्रण होता है उसे जाति कहते हैं। देश का अर्थ स्थान विशेष जैसे काशी आदि है, काल का अर्थ चतुर्दशी आदि है समय का अर्थ दिन का कोई भाग सन्ध्या आदि है इन सब के सम्बन्ध से रहित जो अहिंसादि यमों का पालन करना है उसे सार्वभौम महाक्रत कहते हैं अर्थात् जिस वां मूँढ़ आदि किसी अवस्था में भी इन कां परित्योग्य न करना; दात्यर्थ्य यह है कि ब्राह्मण को न करूँगा, तीर्थ में हत्या न करूँगा, चतुर्दशी को किसी प्राणी का वध न करूँगा, देवता ब्राह्मण के डित साधत के अतिरिक्त हत्या न करूँगा हत्यादि धार प्रकार के प्रयोजन से युक्त जो हत्या है उनको जात्ययच्छिन्न, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और समयावच्छिन्न हत्या कहते हैं और किसी प्राणी का वध न करूँगा; किसी स्थान में भी हत्या न करूँगा, किसी दिन दा समय में भी हत्या न करूँगा और किसी प्रयोजन से भी हत्या न करूँगा इस ब्रह्म के धारण करने को सार्वभौम कहते हैं, एसे ही यमोंको भी समझना चाहिये ॥ ३६ ॥

अगले सत्र में नियमों का वर्णन करेंगे ।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ३७॥

सू० का पदा०—[शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और हश्वर प्रणिधान [नियमाः] ये ५ नियम कहाते हैं ॥ ३७ ॥

सू० का भा०—शौच, आदि नियम कहाते हैं ॥ ३७ ॥

व्यो० दै० का भा०—तत्र शौचं पुजलादिजनितं मेध्यान्म भयवहरणादि च वाक्यम् । आभ्यन्तरचित्तपलानामाकालनम् ।

सन्तोषः—सन्तिसाधनादधिकस्यानुगादित्वा तपो—दून्दृ

सहनम् द्वन्द्वात्थं जिगत्सापिवासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनकारं
मौने च । ब्रतानि चैवेऽयथायोगं कुच्छुचान्द्रायणसान्तपनादीनि स्वा-
यायोः मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवं जपो वा ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्
परमगुरौ सर्वकर्मपूर्णेभूम् ।

शश्यासनस्थोऽथ पथि ब्रजन्वा, स्वध्यः परिक्षीणवितर्कज्ञालः ।
संसारवीजक्षयमीक्षमाणः स्वान्तित्यशुक्लोऽमृतभोगभागी ॥

यत्रेदमुक्तं ततः प्रत्यक्षेतनाधिगमोऽप्यन्तराया भावश्चेति ॥ ३२ ॥

भा० का प०—अब शौच का अर्थ करते हैं मट्टीजलादि से
अथवा पवित्र आहारादि से वाहा शौच होता है और चित्त भूलों के
प्रक्षालन से भूम्यन्तर प्राप्त साधन से अधिक की इच्छा न करना
सन्तोष कहता है द्वन्द्व सहनको नाम तप है । भूख, व्यास, सर्दी, गर्मी,
स्थान, आसन, काष्ठ मौन और आकार मौनशु को द्वन्द्व कहते हैं यथा
कुच्छुचान्द्रायण और सान्तपन ब्रत आदि कहलाते हैं । मोक्षशास्त्रों
का पढ़ना अथवा प्रणव का जप स्वाध्याय कहलाता है । ईश्वर में
सब कर्मों का अर्पण करदेना ईश्वरग शिधान है । शश्या वा आसन
पर बैठा या चलता या स्वस्थ, गतवितर्कज्ञाल संसारके दीजको नष्ट
देखता हुआ नित्य मुक्त और मोक्षभागी होता है जहां वह कहां
जाता है घटां परमात्मा के दानको प्राप्ति होती है और विघ्नों का नाश
होता है ॥ ३२ ॥

भा० का भा०—मट्टी और जलादिसे स्नान और शोधन वाहाशौच और
सत्यादि के आचरण से । चित्त शुद्धि करना अन्तश्शौच कहता है ।
सन्निहितसाधन की अनिच्छा सन्तोष कहती है । सर्दी, गर्मी, भूख,
व्यासका सहना मौन, कुच्छुचान्द्रायण आदिका करना तप कहता है ।
मोक्षनिरूपक शालों के पढ़ने तथा प्रणव के जप को स्वाध्याय कहते
हैं । जो कर्म करे उसको ईश्वरमें अर्पण करदे इसको ईश्वरप्रणिधान
कहते हैं । सोता, बैठता, चलता, स्वस्थ, निषुक्षवितर्क—संसारवीज
को ग्रहण न कर जो पुरुष रहता है वह मोक्षपदको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

भ००८०—शौचं द्विविधं वाह्यमाभ्यन्तरवच । वाहा मृज्जलादिभिः
काशादिप्रक्षालनम् । आप्यन्तरम् मैत्र्यादिभिष्ठितमलानां प्रक्षालनम्

संकेत से भी अपने अभिप्राप को प्रकट न करना काष्ठमौत
और मुँह से न बोलना आकार मौन कहलाता है ।

सन्तौपस्तुषिः । शेपाः प्रानेव कृतव्याख्यानाः । एते शौचादयोनियम शब्दवाच्याः ॥ ३२ ॥ कथमेपां योगांगत्वमित्याह ।

आ० दू० का भा०—शौच वा शुद्धता दो प्रकार की है ए क धात्य और दूसरी आभ्यन्तर । मझी और जल आदि से जो स्थूल शरीर का धोना है उसे वाह्यशुद्धि कहते हैं, मैवी और मुद्रिता आदि से जो चित्तके मलों को दूर करना है उसे आभ्यन्तरशुद्धि कहते हैं, सन्तोष तुष्टि को कहते हैं और नियमोंका व्याख्यान प्रथम ही करनुके हैं यह शौच आदि नियम कहाते हैं ॥ ३२ ॥ यह योग के अङ्ग पर्योकर हैं इस फा बर्णन आगे किया जायगा—

वितर्कवाधनेप्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

सू० का पदा०—(वितर्कवाधने) विद्जनों की वाधा होने पर (प्रतिपक्षभावनम्) प्रतिकूल भावना करे ॥ ३३ ॥

सू० का भा०—हिंसादि विद्जनों की वाधा होनेपर उनके विरुद्ध भावना करे ॥ ३३ ॥

व्या० दे० का भा०—यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्क जायेन्हनिष्पास्यहमपकारिष्यमनुतमपि वद्यामि द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि दारेषु चास्य व्यवायीभविष्यामि परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन चाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान् भावयेत् । घोरेषु संसारांगरेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः स ख-ज्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः शब्दत्तेनेति भावयेत् यथा शब्द वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति । एवमादिसूत्रान्तरेष्वपि योजयम् ॥ ३३ ॥

भा० का पदा०—जय इस योगीको हिंसादिक वितर्कउत्पन्न होय तब मैं शब्दु को मारूँगा, झूँठ भी बोलूँगा, इसका द्रव्य भी छोन लूँगा, इस की छी से कुकर्म करूँगा और इसके धनका स्वामी हूँगा इत्यादि उन्मार्ग में लेजानेवाले उद्वीप वितर्क ज्वर से चाध्यमान उन के प्रतिपक्ष की हृदय में भावना करे । घोर संसार के अंगारों में पक

ते हुये मैंने ग्राणिमात्र का अभयदान देने के हिये योगधर्म की शरण ली है सो मैं इसको छोड़ कर पुनः वितकों को अहण करके कुत्ते के समान प्रवृत्त होता हूँ ऐसी भावनाकरे । जैसे कुत्ता बमल कियोको खाता है तैसे ही छोड़े हुये कों फिर अहण करनेसे मेरी दशाहोगी॥३३॥

भा० का भा०—जब इस ब्राह्मण की हिंसादि छुकमों में तुद्धि जाय और ये मति होय कि मैं इसको भार डालूँगा, गाली दूँगा, प्रव्य लेलूँगा, ली छीन लूँगा, इस के संसार का स्वामी होजाऊँगा इत्यादि तब जाने कि मैं कुमार्ग के अतितीवण उच्चर से वाधित हूँ और घोर संसार के अंगारों से पक्ता हूँ अब मुझ को समस्त ग्राणियों को निर्भय दानपूर्वक योगधर्म ही की शरण लेनी चाहिये सो मैं वितकों को त्यागके (योग धर्मों को) अहण कर्त्त ऐसी भावना करे ॥ ३३ ॥

३३ सू०—योगी को जब जान पड़े कि मेरा वित्त वितर्क अर्थात् योग के विरुद्ध चल रहा है तब उसे चाहिये कि वितकों की ओर से अपने वित्त को रोके और समझे कि संसार के विषयों को मैंने त्याग दिया है अब उनको अहण करना ऐसा है जैसे उगले हुए को आगा ।

भो० चू०—वितर्क्यन्ते इति वितकाः । योग परिपनिधिनो हिंसाद्य-स्तेपां प्रतिपक्षमावने सति यदा वाधा भवति तदा योगः सुकरो भवत्येव यमनियमानां योगांगत्वम् ॥ ३३ ॥ इदानीं वितकाणां स्वकर्पं भेदप्रकारं कारणं फलं च क्रमेणाह ।

भो० चू० का भा०—वितर्क कियाजाय जिन के द्वारा उनको वितर्क कहते हैं योग के शत्रु हिंसादिक वितर्क कहते हैं उन वितकों के यह यम, नियम शत्रु हैं इनको द्वारा योग सुगम होता है इस कारण यम और नियमादि योग के अङ्ग कहते हैं ॥ ३३ ॥ आगे वितकों के लक्षण, भेद, प्रकार, कारण और फल का वर्णन करेंगे-

हिंसाद्यः कुतकारितानुमोदिता लोभकोधमोह
पूर्वका वितर्का सृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्त
फला इति प्रतिपक्षमावनम् ॥ ३४ ॥

सू० का पदा०—(वितर्का हिंसादयः) वितर्क हिंसादि हैं (कृतकारितानुमोदिता) स्वयम् किये वा दूसरे से कराये वा जिन के करने में सम्मति दी हो (लोभ क्रोधमोहपूर्वका) लोभ से क्रोध से मोह से (मृदुमध्याधिमात्रा) मृदु, मध्य और तीव्र (दुःखाज्ञानानन्तफलाः) अनन्तदुःख और अज्ञान फलवाले हैं यह इनकी विरुद्ध भावना है ॥ ३४ ॥

सू० का भा०—वितर्क हिंसादि कुक्मों को कहते हैं । ये चाहे स्वयं कियेजायं वा कराये जायं वा अनुमोदन किये जायं । जो लोभ से, मोह से, क्रोध से होये चाहे मृदु हों मध्य हों या तीव्र हों । ये सब दुःख और अज्ञान के अनन्त फल देनेवाले हैं यही थोग में प्रति पक्षभावना कहाती है ॥ ३४ ॥

ध्या० भा०—तत्र हिंसा तादत्कृताकारिताऽनुमोदिते ति त्रिधा । एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन यांसचर्मर्थेन क्रोधेनोपकृतमनेनेति मोहेन धर्मे मे भविष्यतीति । लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिधा मृदुमध्याधिमात्रा इति । एवं सप्तविंशतिर्थेदा भवन्ति हिंसायाः । मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीत्रमृदुरिति । तथा मृदुमध्यो वध्यमध्यस्तीत्रमध्य इति । नथा मृदुस्तीत्रो वध्यतीत्रोऽधिमात्रतीव्र इति । एवमेकाशीति भेदा हिंसा भवति । सा पुनर्नियमविकल्प समुच्चयभेदादसंख्येया, प्राणभूज्जेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति । एवमन्तादिष्वपि योज्यम् ।

ते खल्वसी वितर्का दुःखाज्ञानानन्त फला इति प्रतिपक्षभावनम् । दुःखमज्ञानञ्चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम् । तथा च हिंसकस्तात्रत् प्रथमं वध्यस्य वीर्यमःक्ति पति । ततश्च शास्त्रादिनिपातेन दुःखयति । ततो जीवितादपि योचयति । ततो वीर्यज्जेपादस्य चेतनाचेतनज्जमुपकरणं जीणवीर्य

भवति । दुःखोत्पादान्नरकतिर्यज्ञे तादिषु दुःखमनुभवति जीवितच्यपरोपणात् प्रतिक्षणञ्च जीवितात्यये वर्त्तमानो मरणमित्वा ननपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात् कथयित्वदंबो च्छ्रुतिसिति । यदि च कथयित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासम्भवम् । एवं वितर्काणाऽचामुषेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन्न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत ॥ ३४ ॥

भा० का प०—तहां हिंसा १-कृता-स्वयम् अपने शरीर छारा की गई २-कारिता दूसरे के द्वारा कराई गई ३-अनुमोदिता जिस में अनुमति दीजाय इन भेदोंसे हिंसा तीन प्रकारकी है । फिर एक २ तीन प्रकार की है लोभ से मांस और चमड़े के निमित्त क्रोध से इस ने मेरा प्रकार किया है । मैं भी इसे मारूँ । मोह से मुझको बलिदान चढ़ानेसे धर्म होगा, लोभ, क्रोध और मोह ये भी पुनः ३ प्रकार के हैं मृदु, मध्य और तीव्र ऐसे २, हिंसाके २७ भेद होते हैं । मृदु, मध्य और तीव्र फिर तीन प्रकारके हैं । १ मृदु मृदु, २ मध्य मृदु और ३ तीव्र मृदु । १ मृदुमध्य, २ मध्यमध्य, ३ तीव्रमध्य । ऐसे ही १ मृदुतीव्र, २ मध्य-तीव्र ३ तीव्रतीव्र । इस रीति से ८६ भेदवाली हिंसा होती है फिर वही हिंसा निप्रम, वि ल्प श्वार संत्रह के भेद से असंख्य भेद घाली है व्योक्ति प्राणियोंके असंख्य भेद हैं । ऐसे असत्यादि के भी भेद समझने चाहिये । ये वितर्क दुःख और आशान आदि अनन्त फलों को देने वाले हैं । ऐसी भावना करना ही प्रतिपक्षभावना कहलाती है । ऐसे ही हिंसा करने वाला प्रथम तो जिसका वध करने की इच्छा करता है उस के बल की निन्दा वा तिरस्कार करता है उसके पश्चात् शशादि से मार कर उसे दुःख देता है उस के अनन्तर जीवन से उसे छुड़ा देता है इस के पश्चात् उस हत्याकारी ने जो वध्य के बल, वीर्य का तिरस्कार किया था इस से इस का भी जो वीर्य, जड़ और वैतन की जी ने की जो सामग्री है वही क्षीण हो जाता है जो हत्याकारी ने वध्य को शशादि से दुःख दिया था उस से हिंसक को भी नरक शर्थात् जन्म जन्मान्तरमें दुःख भोगना पड़ता है । जो हिंसकने जीव घात किया है जिस समय हत्याकारी का प्राणोन्तं होगा उस समय मरने

की इच्छा करने पर भी दुःख का फल अवश्य भोग्य होने के कारण वडे कष्टसे ऊर्जश्वास होता है यदि किसी प्रकारकी पुण्ययुक्त हिंसा हो, उस में सुख प्राप्त होकर मनुष्य अल्पायु होता है ऐसे ही मिथ्या-भाषणादि के भी फल समझना जैसा सम्भव हो । इस प्रकार से वितकोंके अनिष्ट फलको विचारकर वितकोंमें मनको न लगावे ॥३६॥

भा० का भा०—हिंसा तीन प्रकार की होती है—१ अपने से की हुई २ और से कराई ३ सत्ताह से कराई पुनः एक २ तीन २ प्रकार की होती है पक लोभ से—अर्थात् इसके मारने से मुझे इतना मांस और चर्म मिलेगा, दो क्रोध से—अर्थात् इसने मेरा अपमान किया है मैं भी इसे मारूँ । तीसरे मोह से करी हिंसा पुनः ३, तीन प्रकार की होती है १ मृदु २ मध्य ३ तीव्र ऐसे हिंसा ७ प्रकार की है पुनः मृदु, मध्य और तीव्र भी तीन २ प्रकार के हैं । १ मृदु मृदु, २ मध्यमध्य, द्वितीयमध्य, १मृदुमध्य, २ मध्यमध्य, ३ मध्यतीव्र तैसे ही १ मृदुतीव्र, द्वितीयतीव्र, द्वितीयतीव्र । ये इस प्रकार हिंसाके २८ भेद होते हैं । फिर नियम, विकल्प और समुच्चय भेद से असर्वय भेद होते हैं क्योंकि प्राणियों के असर्वय भेद हैं ऐसे ही असत्यादि के भेद भी जानना । ये हिंसादि वितके दुःख आकानादि अनन्त फल देने वाले हैं । हिंसा करने वाला पहले जिस के वध की इच्छा करता है तब उसके बल की निन्दा करता है फिर शखादि से उसे दुःख देता है इसके पश्चात् मार डालता है अतएव जैसे इसने उसके धीर्यादि का तिरस्कार किया था वैसे ही इस का जीवन वीर्य क्षीण होता है फिर जन्मान्तर में इसे अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और मरणकाल में ये मरना चाहे तौ भी श्वासावशेष रहने से बड़ा खेद पाता है यदि किसी प्रकार से कोई हिंसा पुण्ययुक्त होय तो हिंसक को जन्मान्तर में सुख मिलेगा परन्तु अल्पायु होगा ऐसे ही असत्यादि में भी जाना । ऐसे वितकों के फल विचार कर इनमें मन न लगावे ॥ ३८ ॥

ज्ञानवृत्तिः—पते पूर्वोक्ता हिंसाद्यः प्रथमं विधा मिथ्यात्ते कृन्त-कारितात्तुमोद्देनभेदेन । तत्र स्वयं निष्पादिताः कृताः । कुरु कुर्विति प्रयोजकव्यापारेण समुत्पादिताः कारिनाः । अन्येन क्रियमाणाः सा-धित्यकृतां कृतां अनुमोदिताः । पतत्त्वं वैविष्यं परस्परव्यामोहिनिवास-

गायोदयते । अन्यथा मन्दसंविरेवं मन्येत न मया इयर्यं हिंसा इतेति
गादिन मे दोष इति । एतेषां कारणप्रति शाश्वता व लोभकोषमोद पूर्वमा
इति । गच्छपि लोभः प्रथमं निर्दिष्टस्थापित रथे लोशाः नां मोहस्यानात्मनि
शाश्वतागिमात्मद्वाग्स्थ निश्चन्तव्यात् । गस्तिन् गच्छनि स्वपरमधिभागपूर्व
कल्पेन लोभकोषादीनामुद्देश्यात् शुलक्षणम् देशेभ्यः । मोहपूर्विकामनर्वा-
दोपजातिरित्यर्थः । लोभस्तुप्लाणा । कोशः गुण्याहृत्यविद्येकोच्चुलापाः
प्रदृशलगात्मकाक्षिक्षत्थर्मः प्रत्येकं एतादिभेदेन प्रिप्रकारा अपि हिंसा-
दयो मोहादिकारणत्वेन विधा भिषन्ते प्रयामेव पुनरवस्थाभेदेन
मैथिष्ठ भाए । मृदुगच्छाधिमात्राः । गृह्यो गन्दा न सीढा नापि मध्याः ।
मध्या नापि गन्दा नापि लीढाः । अधिमात्रास्तीढाः । पाक्षात्यानव्य मेदः
इत्यर्थं प्रेणित्ये लभि समविद्यशित्यर्थवति । मृदुलीतामपि प्रत्येकं मृदु-
मध्याधिमात्रभेदात् वैयित्यं समविद्यति । नद्यथागोर्ग यंडयम् तद्यथा
मृदुगच्छुर्दुगच्छा मृदुलीय इति । एतां फलमाद । शुःखाणागनन्तप-
णाः । शुःखं प्रतिकूलतयाऽप्यवासमानां राजसश्चिक्षत्थर्मः । श्वानं
मिथ्यादानं संशयपित्यर्थ्यकरपं, ते शुःखाणानं व्यनन्तमपरिच्छुन्नं फलं
येषां ते तथांस्ताः । इत्यर्थं सेपां स्वरूपकारणादिभेदेन तातानां प्रतिपक्ष-
भावनया व्यागिना परिहारः पर्त्तिष्ठ इत्युपदिष्टं भवति ॥ १४ ॥ एवा-
मभ्यारावशात् प्रकर्त्तर्मागच्छतामनुनिष्पादित्यः रिक्षयो वथा भवन्ति
तथाकमेण प्रतिपादयितुमाद—

शोऽ शू० का भा०—पूर्व कहे शुए हिंसादि के पहिले ३ भेद हैं,
एक छत, दूसरा कारित, तीसरा अनुमोदित, जो हिंसादिक स्वयम्
किये जाते हैं उनको छत कहते हैं, दूसरे से तुम करो तुम करो ऐसा
फलकर जो कराये जाते हैं उन हिंसादि वितकों को कारित कहते हैं,
अनुमोदित उसे फाते हैं जो दूसरा मनुष्य हिंसा करता हो
उसे शाश्वता कहना घ उसके उत्तराद को यहाना । हिंसा आदिके यह
तीन भेद ह न घास्ते किये गये हैं जिससे हिंसक को यह भ्रम न रहे
कि मैंने हिंसा नहीं की था इस हिंसा में मेरा पापा दोष है पर्वाकि
मैंने हिंसा नहीं की ऐसा मन्दमति लोग कहसकते हैं । इन हिंसादि
के कारण लोग, मोह छीट कोध हैं, गच्छपि सूच में लोग को पहले
लिजा है परन्तु मोहसे ही सबकलेश आत्ममें भान होते हैं छीट मोह
ही मनुष्य को अपने और पराये को भेद में फंसाता है और उससे
ही लोग और कोध की उत्पत्ति होती है इस कारण मोह ही सब

दोवों की जड़ है । तृत्या को लोम कहते हैं, कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक को नाश करने वाला अनित रूप जो चित्त का गुण विशेष है उसे क्रोध कहते हैं । हिंसादि के जो कृत आदि के भेद से तीन तीन प्रकार हैं उनमें से प्रत्येक लोम, मोह और क्रोध के भेदसे किर तीन तीन प्रकार के होते हैं, इन्हों के फिर अवस्था भेदसे तीन २ भेद होते हैं, मृदु अर्थात् मन्द, मध्य अर्थात् न मन्द और न तीव्र तीसरा भेद तीव्र है, पूर्व कहे हैं भेद हन मृदु आदि के भेद से २७ प्रकार के होजाते हैं । फिर मृदु आदि के परस्पर भेदसे ८१ होते हैं जैसे मृदुमृदु, मृदुमध्य और मृदुतीव, ऐसे ही मध्यमृदु, मध्यमध्य और मध्यतीव एवम् तीव्र मृदु, तीव्रमध्य और तीव्र तीव्र हत्यादि, अब हन हिंसादि वितकों का फल कहते हैं दुःख और आशान रूपी अनन्त फल को देते हैं, दुःख उसे कहते हैं, जो आत्मा के प्रतिकूल जान पड़े वह रजोगुण से उत्पन्न हुआ चित्त का धर्म दुःख कहाता है, संशय और विपर्ययरूप ज्ञान को आशान कहते हैं दुःख और आशान है अनन्त अर्थात् असोम फल जिनका ऐसे उपर्युक्त वितकों का जब स्वरूप और फल मालूम होजाय तब योगी को चाहिये कि उनको परित्याग करे यही इस सूत्र का तात्पर्य है ॥ ३४ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥३५॥

सू० का पदा०-(अहिंसाप्रतिष्ठायाम्) अहिंसा की प्रतिष्ठा में (तत्सन्निधौ) उसके समीप (वैरत्यागः), वैरका त्याग होता है ॥ ३५ ॥

सू० का भा०—योगी का चित्त जब अहिंसा में स्थिर होजाता है तब वह किसीसे घैर नहीं करता और न उससे कोई घैर करता है ॥ ३५ ॥

ध्या० कृ०भा०—प्रतिपक्षयावनात् हेतोर्हेयावितर्का यदास्य, स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति । हृष्या—

भा० का प०—विशद भावना से जब वितर्क अनुत्पत्ति धर्मक

एकाकर त्यागने के योग्य होने हैं, नव अहिंसादि से उत्पन्न ऐश्वर्य योगी की लिहि को मूलिन करता है ॥

व्या० भा०—सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

भाद्र घा ४०—अहिंसा की प्रतिष्ठामें सब प्राणियों से वैर त्याग होता है ।

भा० फा भावार्थ—जय योगी क्रोध से विरत हो अहिंसा में संयम करना है नव उत्तम का यह फल प्राप्त होना है कि कोई भी प्राणी उस के साथ वैर नहीं करना और उस बद किसी से वैर करता है ॥ ३५ ॥

३५ सू० का चिं०—जय योगी को अहिंसा खिला हो जाती है तब उस के समीप जितने प्राणी आते हैं वह भी सब परन्पर के वैर को त्याग देते हैं, यद्यु पर यह सन्देश दासकता है कि लिहाड़ि द्वितीय जन्मुओं का स्वाभाविक वैर पर्याप्त दूर हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वैर किसी का भी स्वाभाविक गुण नहीं है पर्याप्त कि जिस जन्मुका वैर स्वाभाविक गुण हो नीं उसे आपने स्वी पुत्र में भी प्रीति नहीं हो सकता है परन्तु ऐसा कोई जन्म नहीं है जिसे आपने सजातीय से प्रीति न हो इस से लिहा होता है कि वैर या प्रीति किसी का भी स्वाभाविक गुण नहीं है योगीमें विशेषता वही होताती है कि वह आपने मन की शुद्धता के बल से दूसरे प्राणी के मन को शुद्ध करना देता है जिसके उत्तर समीप जाके सब प्राणी वैर को त्याग देते हैं । यह अनेक यार देखा गया है कि भिसमरेज्ञिम के द्वारा दूनरे प्राणी के वित्त को खोच कर मूर्दिङ्गन करके उसको स्वभावविशेष करमाँ में लगादिया गया है जब कि घालगीउनयत् नियम से ऐसा होना प्रत्यक्ष देखा गया है तो साक्षात् योगसे आपने समीप आये प्राणियों को वैर द्वित करके न क्या अर्थार्थ है ? किसी र का नो मत इस विषयमें ऐसा है कि “मन एव मनुष्याणां द्वाराण् पञ्चमोक्ष पीयोः” । पञ्च अर्थात् सांसारिक विषयों में आसक्ति और मोक्ष अर्थात् सांसारिक विषयों में विश्वास हन दानों का जोरावरीमें ही है एवम् किसी विद्वान् ने सृष्टि ही को मनोमय बनाया है । इन नियमोंका सविलेन गृह्णात्व प्रकाशित करने से अन्य बहुत यह जागरा इत्त भगवे यहाँ पर उम उसे नहीं लिख सकते हैं ।

भो० वृ०—तस्याहिंसां भावयतः सक्षिधौ सहजविरोधिगमप्यहिन्-
कुलादीनां वैरत्यागो निर्मत्सरतयावदस्थानं भवति । हिंसा अपि
हिंसात्वं परित्यजन्तात्यर्थः ॥३५॥ सत्याभ्यादवतः किं भवतीत्याह—

भो० वृ० का भा०—जब योगी अहिंसा की भावना वा संयम
करता है तब उसके समीप स्वाभाविक वैर रखने वाले सर्प और
नकुल आदि भी वैरभाव को त्याग देते हैं अर्थात् मत्सरता को त्याग
कर रहते हैं । फलितार्थ यह हुआ कि हिंसा करना ही जिन जन्मुद्धों
का स्वभाव है वह भी हिंसारहित होजाते हैं ॥ ३५॥ सत्य की ज्ञाति-
ष्टा से क्या लाभ होता है? इसका उत्तर आगे लिखा है ।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सू० का प०—(सत्यप्रतिष्ठायाम्) सत्यकी प्रतिष्ठा
में (क्रियाफलाश्रयत्वम्) क्रियाफल का आश्रय
होता है ॥ ३६ ॥

सू० का भा०—सत्यप्रतिष्ठा में क्रिया के फलका आश्रयभाव
होता है ॥ ३६ ॥

भा० कु० भा०—धार्मिको ध्रया इति भवति धार्मिकः
स्वर्गप्राप्नुहीति स्वर्गप्राप्नोति अपोधास्य वाग् भवति ॥३६॥

भा० का पदा०—तू धार्मिक होजा, धार्मिक हो जाता है । स्वर्ग
को प्राप्त हो, स्वर्गको प्राप्त होता है इसकी चाही अमोघ, अव्यर्थ होती
है ॥ ३६ ॥

भा० का भा०—जब योगी सत्य के संयम में दृढ़ हो जाता है तब
वह जो वचन कहता है वह निष्फल नहीं जाता ॥ ३६ ॥

थि०—इस सूत्र का यह अभिप्राय नहीं है कि योगी यदि पापी
से कहे कि तू स्वर्ग को चला जा तो वह स्वर्ग पहुँच जाय, यरन
इसका अभिप्राय यह है कि सत्य में प्रतिष्ठित होने से योगी को सत्य
क्रियादांका फल प्राप्त होता है अर्थात् योगी जिस मनुष्य को उपदेश
करे कि तू धर्मात्मा हो तो वह पाप को छोड़ कर धर्म करने
लगेगा और जिससे कहे कि तू स्वर्गको जा तो वह भी स्वर्गप्राप्ति के

कार्य करने लगेगा और उन कर्मों से स्वर्गप्राप्त होगा । सूत्रकार और भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि सत्य प्रतिष्ठा से योगी के वचन निष्कल नहीं होते हैं ॥ ३६ ॥

भा० च०—कियमाणा हि किया यागादिकाः फलं स्वर्गादिकं प्रयच्छुति । तस्य तु सत्याभ्यासवतो योगिनस्तथा सत्यं प्रगृह्यते यथा कियायामकृतायामपि योगी फलमाप्नेति । तद्वचनात् यस्य फस्यचित् कियामकुर्वतोऽपि कियाफलं भवतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अस्तेयाभ्यासवतः फलमाद् ।

भा० च० का भा०—जो यशादिक किया कीजाती है उनसे स्वर्गादिक फल प्राप्त होते हैं । जो योगी सत्य का अभ्यास करता है उसके सत्य को ऐसी प्रतिष्ठा होती है कि यशादि कियाओं के बिना किये ही उनके फलरूप स्वर्ग को योगी पाजाना है, सत्याचारी योगी के वचन से और लोगों को भी स्वर्गादिक का फल प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥ अस्तेय के अभ्यास का फल कहते हैं ।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

सू० का पदा०—(अस्तेयप्रतिष्ठायाम्) चोरी न करने से (सर्वरत्नोपस्थानम्) सब रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

सू० का भा०—चोरी न करने से सब रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

भा०—सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥

भा० का प०—सब दिशाओं के रत्न इसको प्राप्त होते हैं ॥ ३७ ॥

भा० का भा०—सब दिशा द्वारा के रत्न इसको मिलते हैं ॥ ३७ ॥

३७ सू० विं०—जब योगी अस्तेय अर्थात् चोरी न करनेके अभ्यास में अपने चित्त को प्रगता है तब उसे सब रत्नों की प्राप्ति होती है अर्थात् जगत् के सब प्राणी उसका विश्वास करते हैं ।

भा० च०—अस्तेयं यदाभ्यस्यति तदास्य तत् प्रकर्पान्निरभिलाप्त्यापि सर्वतो दिव्यानि रत्नानि उपतिष्ठन्ते ॥ ३७ ॥ ब्रह्मचर्याभ्यासस्य फलमाद् ।

भो० वृ० का भा०—जब योगी अस्तेय अर्थात् चोरी (कायिक वा मानसिक) न करनेका अभ्यास करता है तब अभिलाप्या न रहने पर भी दिव्य रत्नों की प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥ ब्रह्मचर्य के अभ्यास का फल कहते हैं ।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

सू० का भा०—(ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्) ब्रह्मचर्य की स्थिरता में (वीर्यलाभः) वीर्य का लाभ होता है ।

सू० का भा०—ब्रह्मचर्य स्थिर होनेसे वीर्यका लाभ होता है ३८
व्या० दे० का भा०—यस्य लाभादप्रतिष्ठानगुणानुरूपं
यति सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

भा० पदा० जिसके लाभसे अप्रतिष्ठ गुणों का उत्कर्ष और सिद्ध होता है शिक्षा करने योग्य विद्यार्थियोंको हान देनेमें समर्थ होता है ३८

भा० का भा०—जिस वीर्य के लाभसे पुरुष अप्रतिष्ठ गुणों को इन कर सकता है और सिद्ध होने पर विनेय अर्थात् शिक्षा करने योग्य मनुष्यों को हान देने में समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

भो० वृ०—यः किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत् प्रकर्पान्विरति-
शयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति । वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यतस्य प्रकर्प-
च्छुरीरेन्द्रियमनःसुवीर्यं प्रकर्पयगच्छुति ॥ ३८ ॥ अपरिग्रहाभ्यासस्य
फलमाह—

भो० वृ० का भा०—जो योगी ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है उसको ब्रह्मचर्य के प्रकर्ष से अधिक सामर्थ्य उत्पन्न होती है वीर्य के निरोध से और ब्रह्मचर्य के बल से इन्द्रिय और मन का उत्साह बहुत बढ़ जाता है ॥ ३८ ॥

अपरिग्रह के अभ्यास से जन्म कथन्ता का ज्ञान होता है, कथन्ता का अर्थ यह है कि प्रकारार्थक कथम् शब्दसे भावमें 'तल' प्रत्यय करने से 'कथन्ता' शब्द सिद्ध हुआ है ? योगी वो पूर्वजन्म की कथन्ता का ज्ञान होता है अर्थात् पूर्वजन्म कैसा था और परजन्म कैसा होगा ? योगी इस वातको जानता है ॥ ३९ ॥

अपरिग्रह के अभ्यास के फल को कहते हैं ।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥३६॥

सू० का प०—(अपरिग्रहस्थैर्ये) अपरिग्रह के स्थिर होने पर (जन्मकथन्तासम्बोधः) जन्म क्यों हुआ इस का वोध होता है ॥ ३६ ॥

सू० का भा०—प्रतिग्रह न करना, अपरिग्रह ! कहाता है उसके स्थिर होनेसे जन्म क्यों हुआ इसका वोध होता है ॥ ३६॥

ध्या० का भा०—अस्य भवति । कोऽहमासं कथमद्यासं किं स्वदिदं कथस्वदिदं के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम इत्येच-मस्थृ वन्तिपरान्तमध्येष्वात्मभाव जिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्थैर्येंसिद्धयः ॥ ३६ ॥ नियमेषु वद्यामः—

भा० का पदा०—योगीको यह ज्ञान होता है कि मैं पूर्वजन्म में कौन था, कैसे मैं था, क्या यह है कैसे यह है, या आगे हम क्या होंगे या कैसे होंगे । इस प्रकारसे इस पुरुषके पूर्वजन्म, परजन्म और मध्य में आत्मभाव के ज्ञाने की इच्छा स्वरूप से उपावर्तित होती है (एते सिद्धयः) यमों की स्थिरतासे ये सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥ ३६॥

अब नियमों की सिद्धियां कहते हैं—

भा० का भा०—इसको अर्थात् जिसको अपरिग्रह स्थिर है यह जिज्ञासा होती है कि मैं पूर्व जन्म में कौन था, कैसे था, यह वर्तमान जन्म क्या है, कैसे है । आगे क्या होंगे, कैसे होंगे ? पूर्व पर और मध्यमें आत्मभाव ज्ञाने की इच्छा अपने रूप से उपावर्तित होती हैं । ये सब स्थिर सिद्धियां यमों के सेधन से प्राप्त होती हैं । तात्पर्य यह है कि त्यगीको अनेक जन्मों का ज्ञान होता है ॥ ३६ ॥

३६ सू० वि०—त्याग का अस्यास होनेसे योगी को भूत और भविष्यत् जन्मों का ज्ञान होता है इसही योगशाल के भाष्य में अणिमाएडव्य ऋषि का उदाहरण लिखा है कि उनको अपने १२ जन्मों का ज्ञान था ॥ ३६ ॥

भो० द्व०—कथमित्यस्य भावः कथन्ता जन्मनःकथन्ता जन्मकथन्ता तस्याः स्वोधः सम्यक् ज्ञानजन्मात्मरेकोऽहमासं कीदृशः किं कार्यातीति जिज्ञासायां सर्वमेव सम्यज्ञानातीत्यर्थः । न केवलं भोगसा-

धनपरिग्रह एव परिग्रहो थावदात्मनः शरीरपरिग्रहोऽपि परिग्रहः भोगसाधनत्वाच्छुरीरस्य । तस्मिन् सति रागानुवन्धाद्वाहिमूर्खाया-मेव प्रवृत्तौ न तात्त्विकज्ञानप्राप्तुभाविः । यदा पुनःशरीराद्विपरिग्रहनैरुपेत्येण माध्यस्थ्यमवलम्बते तदा मध्यस्थस्य रागादित्यागा त्सम्यग् ज्ञानहेतुर्भवत्येवं पूर्वाऽपरजन्मसंबोधः ॥ ३६॥ उक्ता यमानां सिद्धयः ।

अथ नियमानाह—

भो० दू० का भा०—आर्थात् उसे यह सध ज्ञान होजाता है कि मैं पूर्व जन्म में कौन था, कैसा था और मैंने कैसे कर्म किये थे, केवल भोगसाधनों को त्यागना ही अपरिग्रह नहीं कहता है, बरन भोग का साधन जो शरीर है उसमें यदि अनुराग घना रहेगा तो योगी की वाह्यवृत्ति नष्ट न होगी इस कारण शरीर के मोह को त्यागना और राग द्वेष से रहित होनेको अपरिग्रह कहना चाहिये । यही अपरिग्रह ज्ञान का हेतु है और इसही के साधन से पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है ॥ ३६॥

यमों की सिद्धियां कही गईं अब नियमों के फल वा सिद्धि का वर्णन करते हैं—

शौचाल्वांगजुगुप्सापैररसंसर्गः ॥ ४० ॥

भ० का पदा०—(शौचात्) शौच से (स्वांगजुगुप्सा) अपने अङ्गों की निन्दा (परैरसंसर्गः) औरों से असंसर्ग होता है ॥ ४० ॥

सू० का भा०—अन्तःशौच से अपने शरीर की अशुद्धि देख कर निन्दा और दूसरे अशुद्धों से असंसर्ग होता है ॥ ४० ॥

व्या० दे० का भा०—स्वांगे जुगुप्सार्या शौचमारभपाणः कायावदशर्णी कायोनभिष्वंगी यतिर्भवति । किंच परैरसंसर्गः कायस्त्वभावावलोकी स्वप्रपि कायंजिहासुर्मृद्जलादिभिरात्मालयन्नपि । कायशुद्धिमपश्यन् कथम् परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥ किंच

भा० का पदा०—स्वांग निन्दा से शौच का आरम्भ करता है

काया में द्वोष देखने वाला कायामें अनासक्त यति होता है काया के स्वभाव को देखने वाला अपने शरीर को भी त्यागने की इच्छा धाला मट्टी जलादि से उसकी शुद्धि करता हुआ भी काया की शुद्धि को न देखता हुआ कैसे अत्यन्त मलिन दूसरे के शरीरों से संसर्ग करेगा ॥ ४० ॥

भा० का भा०—स्वांग निन्दा से अपने शरीर में शौच को आरम्भ करता हुआ काया को नश्वर जान कर उसमें आसक्त नहीं होता । काया के स्वभाव को देखने वाला जो अपने अशुद्ध शरीर को भी त्यागने की इच्छा करता है वह कैसे दूसरे के अशुद्ध शरीर से संसर्ग करेगा ॥ ४० ॥

४० दू० विं०—शौच का अभ्यास करने से योगी को अपने शरीर का कारणी अशुद्ध दीखने लगता है । जब कारण ही अशुद्ध है तो कार्य शुद्ध कैसे हो सकता है इस ही से वह अपने शरीर को निन्दित समझता है तथा दूसरों के शरीर को भी अशुद्ध समझ कर सबका संग त्याग देता है इस से योगी को संगदोष लिप्त नहीं होता है । और इस ही कारण से योगी निर्विघ्नता के साथ योग साधन में तत्पर रहता है किन्तु आज कल के आवारी जैसा मिथ्या शौच करते हैं वैसा फरने से केवल आडम्बर और पाखण्ड की वृद्धि होती है अतएव योगी को ऐसा शौच करना चाहिये जिस से यथार्थ रूप से योग साधन होते हैं ॥ ४० ॥

भो० दृ०—यः शौचं भावयति तस्य स्वांगेष्वपि कारणस्वरूप-पश्यत्तितोचनद्वारेण जुगुप्ता दृणा समुपज्ञापते । अशुचिरयम् कायो ना चाऽऽग्रहः कार्य इति । अमुनैव हेतुना परैरन्यंश्च कायवद्भिरसंसर्गः संसर्गभावः संसर्गण्ठिवर्जनमित्यर्थः । यः किल स्वभेव कायं जुगुप्तसतेत्तदवधदर्शनात् स कथम् परकीयैस्तथाभूतैः कायैः संसर्ग-मनुभवति ॥ ४० ॥ शौचस्यैष फलान्तरमाह

भो० दृ० का भा०—जो योगी शौच में संयम करता है वह अपने शरीरके धृणित डोपादान कारणको विचारकर अपनेशरीरसे भी धृणा करने लगता है अर्थात् उसको यह निश्चय होजाता है कि यह शरीर अशुद्ध है इस में प्रीति न रखनी चाहिये इस ही विचार से वह दूसरे शरीरधारियों के साथ सम्बन्ध छोड़ देता है चास्तव में

जो योगी अपने शरीर से प्रीति तर्हीं रखता है वह दु सरे शरीरधारी से सम्बन्ध, क्योंकर रख सकता है ॥ ४१ ॥

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रे निद्रयजयात्मदर्शनयोऽग्र्यत्वानि च ॥ ४२ ॥

सू० का पदा०—(सत्त्वशुद्धिसौमनस्यै काग्रेनिद्रयजयात्मदर्शनयोऽग्र्यत्वानि च), सत्त्वशुद्धि, सौमनसत्त्व, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता शौच से होती है ॥ ४२ ॥

सू० का भा०—सत्त्वशुद्धि, शुद्ध मनता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता शौच से प्राप्त होती है ॥ ४२ ॥

द्वा० दे० का भा०—भवन्तीति वाक्यशेषः शौचः सत्त्वशुद्धिसत्ततः सौमनस्य तत एकाग्रं तेत इन्द्रियजयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं शुद्धिसत्त्वस्य भवतीति एतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४२ ॥

भा० का प०—शौच से सत्त्वशुद्धि, फिर सौमनसत्ता तब यकाग्रता तब इन्द्रियजय तब आत्मदर्शन की योग्यता शुद्धिसत्त्व को होती है ये शौच को स्थिरता से होते हैं ॥ ४२ ॥

भा० का भा०—शुद्ध को कम से सत्त्वशुद्धि, शुद्ध मानसत्ता एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है ॥ ४२ ॥

सू० चि०—शौचाद्याही योगी को सत्त्वशुद्धि, यहाँ पर सत्त्वशुद्ध के अर्थ अनेक दीक्षाकार अनेक भांति से करते हैं परन्तु हमारी समझ में सत्त्व का अर्थ शुद्धि ही शुक है अर्थात् शौच से शुद्धि शुद्ध होती है, मन प्रसन्न रहता है जित्त प्रकाश अर्थात् एक ही ध्येय विषयमें लगा रहता है, चौलताको त्याग देता है, इन्द्रियाँ विषयों से विरक्त हो जाती हैं, आत्मदर्शन अर्थात् योगसिद्धि में शक्ति प्राप्त होती है ॥ ४२ ॥

भो० च०—भवन्तीति वाक्यशेषः । सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकं तत्त्वं शुद्धी रजस्तमाभ्यामनभिभवः । सौमनस्य खद्रात्मजुभवेन मानसीशीतिम्

एकाग्रता नियतेन्द्रियविषये चेतसः स्थैर्यम् । इन्द्रियजयो विषयं पराङ्मुखाणामिन्द्रियाणामात्मनि अवश्यानम् । आत्मदर्शने विवेकव्यातिरूपे चित्तस्य योग्यत्वं समर्थत्वम् । शौबाभ्यासवत एते सन्वशुभ्यादयः क्रमेण प्रादुर्भवन्ति । तथाहि—सत्त्वशुद्धेः सौमनस्यं सौमनस्यादेकाग्रता एकाग्रतायाः इन्द्रियजयस्वतश्चात्मदर्शनयोग्यतेति ॥ ४१ ॥

सन्तोषाभ्यासस्य फलमाह ।

भो० दू० का भा०—प्रकाशात्मक सुख को और शुद्धि को सत्त्व कहते हैं । शौचसे शुद्धि की शुद्धि होती है । सौमनस्य का अर्थ यह है कि खेद का अनुभव न होने से मनमें जो प्रीति उत्पन्न होती है उसको सौमनस्य कहते हैं, एकाग्रता का अर्थ यह है कि किसी विषय में विषय का स्थिर करदेना । इन्द्रियजय का अर्थ यह है कि विषयों से इन्द्रियों को हटाकर आत्मा के विचार में लगा देना, विवेकलयातिकरण आत्मदर्शन के योग्य अर्थात् समर्थवान् होना आत्मदर्शन योग्यत्व कहाता है । शौच संयम करनेसे योगी को यह सब फल कूप से प्राप्त होते हैं अर्थात् शौच से प्रथम सत्त्वशुद्धि उस से सौमनस्य, उस से एकाग्रता, एकाग्रता से इन्द्रियजय और इन्द्रियजय से आत्मदर्शन योग्यता प्राप्त होती है॥ ४१ ॥ आगे सन्तोष का फल कहेंगे ।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ॥ ४२ ॥

सू० का प०—(संतोषाद्) सन्तोष से (अनुत्तमः सुखलाभः) सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है ॥ ४२॥

सू० का भा०—संतोष से उत्तम सुख मिलता है ॥ ४२ ॥

ज्या० दें० का भा०—तथाचोक्तम्—

यत्त्व कापसुखं लोके यत्त्व दिव्यं महत्सुखम् ।

दृष्ट्याक्षयसुखस्यैते नाईतः पोद्दर्शी कलामिति ॥ ४२ ॥

भा० का प०—तैसा ही अन्यत्र कहा है लोक में जो काम सुख है और जो दिव्यं मंहसुख हैं वे लृष्णाक्षयसुख की सोलहवीं फल को भी नहीं प्राप्त होते ॥ ४२ ॥

भा० का भा०—सूत्र के अनुसार ही अन्यत्र भी लिखा है कि जो लोक में कामसुख हैं तथा महत् दिव्यसुख हैं वे सब लृष्णाक्षय सुख की पोद्दर्शी कला के समान भी नहीं हैं ॥ ४२ ॥

भो० व०—सन्तोषप्रकर्षेण योगिनः तथाविधमान्तरं सुखमाविर्भः
घति । यस्य बाह्यं विषयसुखं शतांशेनापि न समम् ॥ ४२ ॥ तपसः
फलमाह ।

भो० व० का भा०—सन्तोष का जब योगी के हृदय में प्रकर्ष
होता है तब योगी को ऐसा सुख प्राप्त होता है जिसके सौ भाग में
से एक भाग के बराबर भी विषय सुख नहीं है ॥ ४२ ॥ तप का फल
कहते हैं—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्पसः ॥ ४३ ॥

स० का प०—(तपसः) तप से (अशुद्धिक्षयात्)
अशुद्धि के क्षय होने से (कायेन्द्रियसिद्धिः) काय-
सिद्धि और इन्द्रियसिद्धि होती है ॥ ४३ ॥

स० का भा०—तपसे अशुद्धिक्षय होने से कायेन्द्रिय सिद्धि होती
है ॥ ४३ ॥

व्या० का भा०—निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्धयाः
वरणमलं तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या । तथेन्द्रिय-
सिद्धिर्दाच्छवणदर्शनाद्येति ॥ ४३ ॥

भा० का पदा०—अनुष्ठित तप अशुद्धि से आच्छादित मल को
नाश करता है तबसे आचूत मलनाश होने से अणिमादिक काय सिद्धि
प्राप्त होती है । तैसे ही दूर से अवण और दूर्घानादि इन्द्रियसिद्धि
प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

भा० का भा०—अनुष्ठित तप मलों को नाश करता है उस के
नाश होने से अणिमादिक कायसिद्धि और दर्द से अवण, दर्शनादि
इन्द्रियसिद्धि प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

ध० स०—तप का अभ्यास करने से अशुद्धता नाश हो जानी है,
फिर अशुद्धता नाश होने से शरीर इन्द्रियों को सिद्धि अर्थात् उत्कृ-
ष्टता प्राप्त होती है ॥ ४३ ॥

भो० व०—तपः समस्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुद्धिक्षय-द्वां
देख कायेन्द्रियाणां सिद्धिसुकर्षमाद्याति । अयमर्थः । चर्नद्रियणादिनां

विश्वकूरे शक्तयस्तत्क्षयादिनिद्र्याणां सूदमब्यवहितविग्रहषदर्शनादि-
सामर्थ्यमाविर्भवति । कायस्यं यथेच्छमणुत्पमहस्त्वादीनि ॥ ४३ ॥
स्वाध्यायस्य फलमाह ।

भौ००४०भा०—जो योगी तपका अभ्यास करता है उसकी कूरे शरूप
अशुद्धि क्षय हो जाती है, फिर शरीर और इन्द्रियोंमें उत्पन्न
होती है। अभिप्राय यह है कि चान्द्रायणादि करनेसे चित्त के कूरे शे
दूर हो जाते हैं तब इन्द्रियोंमें सूक्ष्म गुण तथा उत्तम पदार्थोंको
देखने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है और शरीर को अणुत्प और महत्व
आदि तिद्वियां प्राप्त होती हैं ॥ ४३ ॥ आगे स्वाध्याय का फल
कहेंगे ।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

सू० का प्रदा०—(स्वाध्यायात्) स्वाध्यायसे (इष्ट-
देवतासम्प्रयोगः) इष्ट देवता की प्राप्ति होती है ॥ ४४ ॥

सू० का भा०—स्वाध्याय से अभिलिपित देवता की प्राप्ति
होती है ॥ ४४ ॥

व्या० दे० का भा०—देवा ऋषयः सिद्धार्थ स्वाध्याय-
शीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्यं चास्य वर्तन्त इति ॥ ४४ ॥

भा० का प्रदा०—देवता, ऋषि और सिद्ध स्वाध्यायशील के
दर्शन को आते हैं और इसके कार्य में प्रवृत्त होते हैं ॥ ४४ ॥

भा० का भावाऽ—स्वाध्यायशील को देवता और ऋषि दीखते हैं
और इस के कार्य में प्रवृत्त होते हैं ॥ ४४ ॥

ध४ सू०—वेदपाठादि स्वाध्याय से वांछित देवता अर्थात् तत्त्व-
ज्ञानी महात्माओं का संग प्राप्त होता है। हस्त सूत्र से जो आञ्जुमानिक
वा कलिपत देवताओं का अर्थ करते हैं वह ज्ञान द्वे क्योंकि महर्षि
व्यासदेव ने अपने भाष्य में देवता शब्द का अर्थ देव (विद्यु गुणवान्
विद्वान्) ऋषि और सिद्ध किया है। ऋषि और सिद्धों के साहचर्य
से देवता शब्द वाच्य विद्वान् ही सिद्ध होते हैं अथवा योगी को
व्यवहारसिद्धि के बास्ते जिन वसु आदि ३३ देवता अर्थात् प्रकाशक
सूर्यादि की अत्यन्त इच्छा रहती है उनका योगी को यथार्थात्

होता है और वह देवता योगी के कार्यसाधक होते हैं अर्थात् बुद्धि आदि से योगी को विष्णु प्राप्त नहीं होता है ॥ ४४ ॥

भो० वृ०—अभिप्रेतमन्त्रजपादिलक्षणे स्वाध्याये ग्रन्थस्यमाणे योगिन इष्टया अभिप्रेतया देवतयो संप्रयोगो भवति । सा देवता प्रत्यक्षा अवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥ ईश्वरप्रणिधानस्य फलमाह ।

भो० वृ० का भा०—अभीष्म मन्त्र गायत्री के स्वाध्याय अर्थात् इष्टदेव अर्थात् ईश्वर का मानसिक संयोग होता है । फिर उस ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४५॥

सू० का पदा०—(समाधिसिद्धिः) समाधि की सिद्धि (ईश्वरप्रणिधानात्) ईश्वरप्रणिधान से होती है ॥ ४५ ॥

सू० का भा०—ईश्वर प्रणिधानसे समाधि सिद्ध होती है ॥ ४५ ॥

ध्या० दे० का भा०—ईश्वरसर्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यथा सर्वमीप्सितमवितर्य जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च । ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रज्ञानातीति ॥ ४५ ॥

उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः; आसनादीनि वच्यामः । तत्र

भा० का पदा०—ईश्वर में अपित किये हैं सर्वभाव जिसने ऐसे योगी को समाधिसिद्धि प्राप्त होती है जिस से जिन पदार्थों के जानने की इच्छा होती है उन सबको यथोचित जानता है । देशान्तर में, देहान्तरमें और कालान्तरमें तब इसकी बुद्धि सब जानती है ॥ ४५ ॥

भा० का भा०—जो पुरुष सब कर्मों को ईश्वर में अपित कर देता है उस को समाधिसिद्धि प्राप्त होती है उस से अन्य देशस्थ, देहस्थ और कालस्थ पदार्थों को जानता है ॥ ४५ ॥

सू०—ईश्वर की भक्ति से योगी को देशान्तर, देहान्तर तथा कालान्तर की सब बार्ते यथार्थ रूप से मालूम होजाती है ।

भो० वृ०—ईश्वरे यत्प्रणिधर्मं भक्तिविशेषस्तस्मात् समाधेष्व

कलाकाशस्याऽपि गांधो भवति । यस्मात् स भगवान्मीश्वरः प्रसन्नः सन्
अम्बरायक्षण् क्लेशन् परिहत्य समाधि संबोधयति ॥ ४५ ॥
यमनियमानुलयाऽसनमाइ ।

भौ० यू० का भा०—हित्यरमें जो प्रलिपात आरात भक्ति कीजारी
है उससे समाधि का प्रकाश होता है उस से सकलैष्टर्यव्यापान् भग-
वान् प्रसन्न होकर योग में पित्त करने याले क्लेशों को दूर करके
समाधि को उठोधित करदेता है ॥ ४५ ॥

यथ और नियमों का घर्णन करके आगे आसनों का घर्णन करेंगे ।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

मू० का पदा०—(स्थिरसुखम्) जिसमें स्थिर
सुख हो (आसनम्) वह आसन कहाता है ॥ ४६ ॥

दू० का भा०—जिसमें हित्यर सुख हो वह आसन कहाता है ॥ ४६ ॥

न्या० दे० का भा०—तद्यथा पथासनं धीरासनं भद्रासनं
स्त्रस्तिकं दण्डासनं सोपाध्यं पर्यङ्कः क्रौञ्चनिपदनं हस्तनिप-
दनमृष्टं निपदनं सप्तसंस्थानं स्थिरसुखं पथासुखं चेत्येवमादी-
नि ॥ ४६ ॥

भा० का पदा०—आसन भेद कहते हैं—पदासन, धीरासन, भ-
द्रासन, स्त्रस्तिक, दण्डासन, सोपाध्य, पर्यङ्क, क्रौञ्चनिपदन, हस्ति
निपदन, उष्ट्रनिपदन, सप्तसंस्थान, स्थिरसुख, वह आसन
इत्यादि आसन भेद हैं ॥ ४६ ॥

भा० का भा०—आसनों के भेद ये हैं—पदासन व्रसित्तर है, धीरा-
सन—एक पैर पृथिवी में दूसरा जानुके ऊपर, भद्रासन—दोनों पैरों के
वले एप्पणोंके समीप ऊपर करके उसके ऊपर एथेली रखना, स्त्रस्तिक-
पाध्यां पैर दहनी ज़हा के ऊपर और दहना पैर खाँ ज़हा के ऊपर
रखना, दण्डासन, दोनों पैरों की ऊँगलियां और गुलफको मिलाकर
भूमिस्तुष्ट ऊँध, जानु और पैरों को फैलाकर बैठना, सोपाध्य-
पट्टले पर बैठना, पर्यङ्क—हाथ और जानु को फैलाकर सोना, क्रौञ्च
निपदन-क्रौञ्च पक्षी के समान बैठना, हस्तनिपदन-हाथी के समान

बैठना, उपू निपदन-ऊँट के समान बैठना, समसंस्थान-आकुञ्जित और दोनों पैरों की परस्पर संपीडन, स्थिरसुख-जिस बैठकसे हिथ-रता और सुखहो ॥ ४६ ॥

भो० व०-आस्थतेऽनेनेत्यासनं पदासनदण्डासनस्वस्तिकासनादि तद्यदा स्थिर निष्कर्मण सुखभन्दे जनीयवच भवति तदा योगाङ्गतां भजते ॥ ४६ ॥ तस्यैव स्थिरसुखत्वाप्यर्थमुपायम् ॥

भो० व० का भा०—आसन का अर्थ यह है कि आस उपवेशने इस धनु से करण अर्थ में ‘ल्युट्’ प्रत्यय करके फिर “युवोरनाकौ” इस सूत्र से अन आदेश करके आसन शब्द बनाया है। भली भाँवि बैठा जाय जिसकी सहायता से उसे आसन कहते हैं। यह पदासन, दण्डासन और स्वस्तिक आदि हैं। यह आसन जब स्थिर, कर्म-दहित और योगी को सुखदायक होते हैं तब योग के अङ्ग कहे जाते हैं ॥ ४६ ॥

इन आसनों से स्थिर सुख प्राप्त करने का उपाय अङ्गले सूत्र में कहेंगे ।

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

स० का पदा०—(प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्ति-भ्याम्) प्रयत्नकी शिथिलता और अनन्त में चित्त लगाने से आसन सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥

स० का भा०—प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त के हान से आसन सिद्ध होती है ॥ ॥ ४७ ॥

भा० दे० का भा०—भवतीति वाक्यशेषः । प्रयत्नोपर-भात्सुखल्यासनं येननांगमेजंयो भवति अनन्ते वासमापनां चित्तपासनं निर्वत्यतीति ॥ ४७ ॥

भा० का प०—प्रयत्न के उपरत होने से आसन सिद्ध होता है, जिससे अंग कमित नहीं होते । च अनन्त परव्यामें लगाहुद्वा चित्त आसन को सिद्ध करता है ॥ ४७ ॥

भा० का भा०—प्रयत्न के शिथिल होने से आसन सिद्ध होता

है और अंग निश्चल होते हैं एवम् आसन से चिंता की चञ्चलता
जय होजानी है ॥ ४७ ॥

भौ० छ०—तदासनं प्रधत्तशैथिलेनानन्तप्रसापत्या च स्थिरं
सुखं भवतीति सम्पन्नः । यदा यदा आसनं वधनामीति इच्छां
करोति प्रयत्नशैथिलेऽपि अक्लेशमेव तदा तदा आसनं सम्पद्यते ।
यदा चाकाशादिगत आनन्दे चेतसः समापत्तिः कियतेऽवधानेत
तादात्मप्रसापत्ये तदा देहाद्वाराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति ।
अस्मिन्थासनजये सति समाधिन्तराश्भूता विघ्ना न प्रभवन्ति आह्वाने-
जयत्वादयः ॥ ४७ ॥

तस्यैवाकुनिष्पादितं फलमाइ

भौ० छ० का भा०—धह आसन प्रयत्न की शिविलता से तथा
अनन्त आकाशादि में मन लगाने से स्थिर सुख देनेवाला होता है ।
अर्थात् योगी जय चाहे कि मैं आसन लगाऊं तब ही विना अधिक
परिश्रम के आसन को जमा सके एवम् योगी का चिन्त जब अनन्त
आकाश में चा अनन्त ध्येय में चला जांता है तब योगी को
अपने शरीर को संभालने का क्षान नहीं रहता, जब देहाध्यास नहीं
रहता तब योग के विन अंगसेजयत्वं (अंगों का काँपना) आदि
भी नहीं होते, किन्तु आसन के जय से वह समाधि के विच्छ
अंगसेजयत्व आदि को भी जीत लेता है ॥ ४७ ॥ आसन जय का
और फल कहते हैं—

ततोऽद्व्यानभिधातः ॥ ४८ ॥

सू० पदार्थ-(ततः) तदनन्तर (द्व्यानभिधातः) सुख
दुःखादि द्वन्द्वों से अभिधात नहीं होता ॥ ४८ ॥

भावार्थ—आसन स्थिर होनेपर सुख दुःखादि द्वन्द्व योगीको नहीं
स्तरते ॥ ४८ ॥

ज्या० भा०—शीतोषणादिभिर्द्वैरासनजयान्नाभि-
भूयते ॥ ४८ ॥

भा० का प०—आसन के जीतने से शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से
पराग्रित नहीं होता ॥ ४८ ॥

भा० का भा०—जो मनुष्य आसन स्थिर नहीं कर सकता उसको दृढ़ दुःख देते हैं और आसन स्थिर होनेपर ये दुःख नहीं देते ॥ ४८ ॥

भो० व०—तस्मिन्द्वासनजये सति द्वाम्बैः शीतोष्णाद्युत्पादि-
स्थिरोगी नाभि हन्तयत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आसनजयन्तरं प्राणायाममाद्

भी० व० का भा०—उस आसनके जीतलेने पर शीत, उष्ण और भूख, प्यास आदि दृढ़ोंसे योगी सताया नहीं जाता ॥ ४८ ॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

स० का पदार्थ—(तस्मिन्सति) स्थिर आसन हो जाने से (श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः) जैं श्वास और प्रश्वास की गति का अवरोध होता है (प्राणायामः) उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

स० का भा०—आसन स्थिर होने से जो प्राण की गति का अवरोध होता है उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

ठ्या० भा०—सत्यासनंजये वाहास्य वायोराचमनं सतु श्वासः ।
कौष्ठुयस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वाससयोर्गतिविच्छेदं उभयोभावः
प्राणायामः ॥ ४९ ॥

भा० का प०—आसन स्थिर होजाने पर वाहा वायु को जो अहण किया जाता है उसे प्रश्वास कहते हैं तथा भीतर की वायु को जो वाहर निकालना है उसे प्रश्वास कहते हैं उन दोनों की गतिका जो अवरोध है अर्थात् दोनों का अभाव उसे प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

भा० का भावा०—वाहा वायु का जो आचमन किया जाता है उसे प्रश्वास और जो उदर की वायु को वाहर निकाला जाता है उसे प्रश्वास कहते हैं जो दोनों की गति के अवरोध को प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९ ॥

भो० व०—आसनस्थैर्यं सति तन्निमित्तकः प्राणायामसक्षणे-

योगाह्विशेषं ऽनुष्ठेयो भवति । कीदृशः श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः
लक्षणः । श्वासप्रश्वासौ निरुक्तौ । तयोर्खिधा रेचनस्तम्भनपूरण-
द्वारेण वाणाभ्यन्तरेषु स्थानेषु गते: प्रधाहस्य विच्छेदो धारणं प्राणायाम
उच्यते ॥ ५६ ॥

भौ० दू० का भा०—आसन जय होजाने पर उसके आधय से
योगांग प्राणायाम का अनुष्ठान करना चाहिये । उस प्राणायाम का
लक्षण यह है कि श्वास और प्रश्वास की गति को रोकदेना, श्वास
और प्रश्वास के लक्षण पहिले काढ़के हैं, उस श्वास और प्रश्वास
को रोकने की इ रीति है, रेचन (कोष्टस्थ वायु को घाहर निकालना)
स्तम्भन (रोकना) पूरण (फिर पीछना) घाहर और भीतर उनकी
गति को रोक देना प्राणायाम कहाता है ॥ ५६ ॥ सहज में प्राणायाम
को समझाने के बास्ते प्राणायाम के विभाग कहते हैं—

**स तु वायाभ्यन्तरस्तम्भवृतिर्देशकालसंख्याभिः
परिदृष्टे दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥**

सू० का. प०—(सःतु) वह प्राणायाम (वाया-
भ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः) वाय, आभ्यन्तर तथा स्तम्भवृत्तिसे
भीन प्रकार का (देशकालसंख्याभिः) देश, काल और
संख्याओं से (परिदृष्टः) देखानाया है (दीर्घसूक्ष्मः)
दीर्घ और सूक्ष्म है ॥ ५० ॥

सू० का भा०—वह प्राणायाम इ प्रकार का है-१ वाय, २ आभ्य-
न्तर, और ३ स्तम्भवृत्ति ॥ ५० ॥

ब्या० भा०—यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स वायः ।
यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः । तृतीयः स्तम्भवृत्ति-
र्धन्त्रोभयाभावः सकृत्ययत्नान्दवतिः । यथा तसे न्यस्तमुपत्ते जल
सर्वतः सङ्कुलेवंप्राप्यते तथा द्वयोर्द्वयगद्यभाव इति । अयोऽ-
प्यते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति । कालेन परि-
दृष्टाः चायानापियत्तान्वयायेनावच्छिन्ना इत्यर्थः । संख्याभिः

परिवृष्टा एतावद्दिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्धातस्तद्वन्निगृहीतस्यै-
तावद्विद्वितीय उद्धात एवं तृतीयः । एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्रं
इति संख्यापरिवृष्टः । स खल्वयमेवमध्यस्तौ दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

भा०का पदा०—जहाँ प्रश्वास पूर्वक गतिका अभाव हो वह बाह्य और
जहाँ श्वासपूर्वक गतिका अभाव हो वह आम्यन्तर है, तीसरा स्तम्भ
चृत्ति वह है जहाँ एकबारके प्रयत्नसे दोनोंका अभाव हो जैसे तपेहुवे
पत्थर पर डाला हुवा जल सब तरफसे संकुचित होजाता है तैसे ही
उनमें एक साथ गति का अभाव होजाता है । ये तीनों देशदृष्टि, काल
दृष्टि और संख्यादृष्टि कहलाते हैं । देश की सीमा से जो परिमित हो
घह देशदृष्टि, समय की सीमा से जो परिमित हो वह कालदृष्टि कह-
लाता है । संख्यादृष्टि वे हैं कि जिनमें यह भाव धारण किया जाय कि
इतने श्वास प्रश्वासों के रोकने से पहला उद्धात और इतनों के
रोकने से दूसरा उद्धात होता है । ऐसे ही तीसरा ऐसे ही मृदु ऐसे
ही मध्य, ऐसे ही तीव्र में श्वास प्रश्वासों की संख्या की जाती है ।
ये संख्यापरिवृष्ट कहाता है, सो निश्चय किया हुआ यह अभ्यास
दीर्घ और सूक्ष्म कहता है ॥ ५० ॥

• भा० का भा०—जिस में प्रश्वास अर्थात् भीतर के श्वास को
चाहर निकाल कर श्वास को रोका जाता है उसे बाह्य प्राणायाम
कहते हैं जहाँ बायु के अन्तर्गमन का अभाव हो वह आम्यन्तर
है । तीसरा वह प्राणायाम है जहाँ दोनों का स्तम्भ हो, उसे स्तम्भ-
चृत्ति कहते हैं । यहाँ वृषान्त है—जैसे अग्नि में तपे पत्थर पर पानी
डालने से संकुचित हो जाता है वैसे ही इस में दोनों का स्तम्भ हो
जाता है सो अभ्यास किये हुए पुरुष से हो सकता है यह ही इसका
विषय है इसे देश परिवृष्ट कहते हैं यही उसका ज्ञान है इसको काल
परिवृष्ट कहते हैं । इतने श्वास प्रश्वासका प्रथम, इतने ही का दूसरा
इतने ही का तीसरा उद्धात है । ऐसे ही मृदु, मध्य, तीव्र के समय
का जिससे निर्धारण किया जाय, उसे संख्या परिवृष्ट कहते हैं ॥५०॥

भो० हृ०—बाह्यचृत्ति: श्वासो रेचकः । अन्तर्चृत्ति: प्रश्वासः पूरकः
आम्यन्तरस्तम्भचृत्ति: कुम्भकः । तस्मिन् जलसिव कुम्भमें निश्चलतया
प्राणा आवस्थाप्यन्त इति कुम्भकः । त्रिविधोऽयं प्राणायामो देशेन
कालेन संख्यया चोपलक्षितो दीर्घसूक्ष्मसंक्षो भवति । देशोपलक्षितो

यथा नासाप्रदेशान्तादिः । कालोपलक्षितो यथा—पद्मिंशत्नमाप्राक्षि-
प्रमाणः संख्ययोपलक्षितो यथा—इयतो वारान् रुत एनावद्धिः श्वास
प्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवतीति । एतद्वासानाय संख्याग्रहणमुपगतम्
उद्घातो नाम नागिमूलात् प्रेरितस्य धायोः शिरसि अभिहननम् ५०
श्रीन् प्राणाशामानभिधाय चतुर्थमभिधानमाद—

भो० ३० का भा०—कोष्टस्थ वायु फो जो बाहर निकाला जाता है उस श्वास को रेचक कहते हैं, प्रश्वास को जो भीतर खींचा जाता है उसे पूरक कहते हैं और भीतर जो श्वास को रोका जाता है वह कुम्भक कहता है । यद तीन प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या के उपलक्षण से दीर्घ प्राणायाम और सूक्ष्म प्राणायाम नामक दो भेदवाला होजाना है । देशोपलक्षित प्राणायाम उसे कहते हैं जिस में नाभिदेश या एवं देश में प्राणी को स्थिर करने पा नहै श्व रहता है अथवा एकान्त धन आदि के उपलक्ष से जो प्राणायाम होता है । कालोपेक्षित घट प्राणायाम है जिसमें काल का नियम रखना जाता है । जितने काल में पलक लगती है उसको पल कहते हैं और जितने काल में ३ वार चुटकी घजाई जाय उसे मात्रा कहते हैं, किन्तु महर्षि पाणिनि के मतमें एक मात्रा उतने काल की संक्षा है जितने काल में घाश की नाड़ी एक वार कुशकती वा चलती है इस मात्रा के हिसाब से जो प्राणायाम किया जाता है उसे कालोपेक्षित प्राणायाम कहते हैं । संख्योपलक्षित घट प्राणायाम है जिस में यह नियम किया जाय कि इतनी बार प्राणायाम करेंगा वा इतने श्वास से पहिला उद्घात होगा इस पात की रक्षाके बास्ते सूक्षकार ने संख्या शब्द लिखा है, उद्घात का अर्थ यह है कि नाभि स्थान से जो वायु प्रयत्न द्वारा प्रेरित होती है उसका सिर में धूल पूर्वक लगाना ॥ ५० ॥

तीन प्राणायामों का धर्णन करके अब चौथे प्राणायाम को कहेंगे—

वाह्याभ्यन्तरविषयात्तेषी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

सू० का पदा०—(वाह्याभ्यन्तरविषयात्तेषी)
वाह्य विषय त्रैर आभ्यन्तर विषयों का जिसमें परि-

त्याग किया जाता है (चतुर्थः) वह चतुर्थ प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

सू० का० भा०—जिसमें धारा विषय और आभ्यन्तर विषयों का परित्याग हो वह चौथा प्राणायाम है । ५१ ॥

धा० भा०—देशकालसंख्याभिर्वाहिषयपरिदृष्ट आक्षिसः । तथाभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षिसः । उभयथा दीर्घसूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात्रकमेणोभयोर्गत्यभावशतुर्थः प्राणायामः । तीर्थस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टे दीर्घसूक्ष्मः । चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोविषयावधारणात्र मे ग भूमिजयादुभयाक्षेपं पूर्वको गत्यभावशतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति ॥ ५१ ॥

भा० का०—देश, काल और संख्या के द्वारा धारा विषयों को देखकर परित्याग करना, ऐसे ही आभ्यन्तर विषयों को अच्छे प्रकार से देख कर त्याग करना दोनों प्रकार से दीर्घ और सूक्ष्म होता है । जो क्रम से दोनों की गति का अभाव होता है वह चतुर्थ प्राणायाम है और तीसरा तो जिस का विषय सोचा नहीं गया है जिसमें एक धारा आरम्भ करने ही से देश काल और संख्या के द्वारा प्राणों की गति का अभाव देखा गया है वह दीर्घ सूक्ष्म है । चौथा प्राणायाम वह है श्वास और प्रश्वास के विषयको निर्द्धारित करनेसे क्रमसे भूमिकाके जय से दोनों के निरोधपूर्वक जो गतिका निरोध किया जाता है वह चौथा प्राणायाम है ॥ ५१ ॥

भा० का भा०—चौथा प्राणायाम वह है जो दीर्घ और सूक्ष्म से भिन्न हो और जिस में श्वास और प्रश्वास की गति का अवरोध हो जाय और क्रम से जिस में भूमिकाओं का जय होजाय ॥ ५१ ॥

भी० दृ०-प्राणस्म धारो विषयो नास्त्रादशान्तादिः । आभ्यन्तरो विषयो हृदयनागित्तकादिः । तौ द्वौ विषयौ आक्षिप्य पर्यालोच्य यः स्तम्भक्षणो गतिविच्छेदः स चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्मात् कुम्भकात् अथमस्य विशेषः । स वाहाभ्यन्तरविषयौ अपर्यालोच्यैव सहस्रात्मपलनिपन्तजलन्त्रायेन युगपत्स्तम्भशृत्या निष्पद्धते । अस्य तु

विषयद्वयापेक्षको निरोधः । अथमपि पूर्ववदेशकालसंख्याभिपल-
दितां दृष्ट्यः ॥ ५१ ॥

यत्तर्विधस्यास्य फलमाह—

भ्र० द३० का भा०—(देशवन्धवित्तस्य धारणा) सूत्र के विध-
रण, मैं कह चुके हैं कि प्राण धारण का बाहा विषय नालिका आदि
है और आभ्यन्तर विषय हृदय और नाभिचक आदि हैं इन तीनों
विषयों की आलोचना अर्थात् कालोपलक्षित और संख्योपलक्षित
पूर्वीक प्राणायामों के द्वारा क्रम से योग भूमिग्रों को जीतकर जों
स्तम्भकृप इवास प्रश्वास की गति को रोका जाता है वह चौथा
प्राणायाम है । पूर्व सूत्र में कहा जो कुम्भक प्राणायाम है उस से इस
का इतना भेद है कि कुम्भक में धारा और आभ्यन्तर विषयों को
विना किचारे ही प्राणों की गति को ऐसे रोक दिया जाता है जैसे
जलते हुए पत्थर पर पानी ढालने से जल आप ही चारों ओर से
सिमट जाता है और इस चतुर्थ प्राणायाम में धारा और आभ्यन्तर
विषय की आलोचना पूर्वीक निरोध किया जाता है । इस के भी देश,
काल और संख्या के उपलक्षण से वैसे ही भेद समझने चाहियें जैसे
पहिले सूत्र में कह आये हैं ॥ ५१ ॥

आगे चारों प्रकार के प्राणायामों का फल कहते हैं—

ततःक्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

सू० का प०—(ततः) प्राणायाम सिद्धि के अन-
न्तर (क्षीयते) नाश होता है (प्रकाशावरणम्) ज्ञान
का आच्छादन ॥ ५२ ॥

सू० का भा०—प्राणायाम सिद्धि के अनन्तर ज्ञान का आवरण
नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

न्या०—प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावर-
णीयं कर्म यत्तदाचक्षते-महामोहन्येनेन्द्रजासेन प्रकाशशीलं सन्तव-
मावृत्य तदेवाकार्यं नियुड्क्त इति । तदस्य प्रकाशावरणं कर्म

संसारनिवन्धनं प्राणायामाभ्यासात् दुर्वलं भवति प्रतिक्षणवच
क्षीयते । तथा चोक्तम्—तपो न परं प्राणायामाचतो विशुद्धिर्मला-
दीनां दीप्तिशब्दं ज्ञानस्येति ॥ ५२ ॥ किंच

भा० का पदा०—प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी के
विवेक ज्ञानको आच्छादन करनेवाला अर्थात् जिससे ज्ञान ढका है वह
कर्म नाश होता है जैसा कि कहा जाता है महोमोहमय इन्द्रजाल के
द्वारा प्रकाशशील सत्त्वको ढकन्न वही आवरण अकार्यमें प्रयुक्त कर
ता है । वही इस योगी के प्रकाश को आवरण करने वाला कर्म
संसार का निवन्धक है । वह प्राणायामोंसे दुर्वल होता है
और प्रतिक्षण क्षीण होता है तैसा ही अन्यत्र भी कहा है प्राणायामसे
अधिक कोई तप नहीं, क्योंकि उससे मलादि की शुद्धि और ज्ञान की
दीप्ति होती है ॥ ५२ ॥

भा० का भा०—प्राणायामों का अभ्यास करने वाले योगी वा
विवेक ज्ञानको आच्छादन करने वाला कर्म क्षीण होता है । जो कर्म
महोमोहमय इन्द्रजाल से प्रकाश का आच्छादन कहाता है वही
इसको अकार्यमें प्रयुक्त करता है, प्राणायाम करने से वही कर्म
क्षीण होता है तैसा ही अन्यत्र भी कहा है कि प्राणायाम से अधिक
तप नहीं है, क्योंकि उस से मलादि की शुद्धि और ज्ञान का प्रकाश
होता है ॥ ५२ ॥

भो० चृ०—तत्स्तस्पांत् प्राणायामात् प्रकाशस्य चित्तसत्त्वगतस्य
यदावरणं क्लेशरूपं तत्त्वीयते विनश्यतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥ फलान्तर माह-
भो० चृ० का भा०—उस प्राणायाम से चित्त के प्रकाश पर जो
क्लेशरूप आवरण अर्थात् ढकना लगा हुआ है वह दूर होजाता
है ॥ ५३ ॥ दूसरो फल कहते हैं ।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

सू० का पदा०—(धारणासु च) और धारणाओंमें
(मनसः) मन की (योग्यता) योग्यता होती है ॥ ५३ ॥

सू० का भावा०—और प्राणायाम से धारणाओंमें मनकी योग्यता
होती है ॥ ५३ ॥

व्या० दे० का भ०—प्राणायामाभ्यासादंत्र । “प्रच्छुर्देन-
विधारणाभ्यां वा प्राणस्य” इति वचनात् ॥ ५३ ॥ अथ कः
प्रत्याहारः ?

भ० पदा०—प्राणायाम के अभ्यास से ही धारणा में मन की
योग्यता होती है । क्योंकि “प्रच्छुर्देनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य”
इस सूत्र में प्राण के प्रच्छुर्देन और विधारण से चित्त की प्रसन्नता
चर्णन की गई है ॥ ५३ ॥

भा० का भावा०—“श्वासके वहिर्गमन और धारण से” ऐसा लि-
खने से तात्पर्य यह है कि प्राणायाम के अभ्यास से जब ज्ञान को
आवरण करने वाला मल क्षय होजाता है तब प्राणायाम का दूसरा
फल यह होता है कि योगी का चित्त धारणाओं में स्थिर होने के
योग्य होजाता है ॥ ५३ ॥

भ० व० व०—धारणा वद्यमाणलक्षणास्तासु प्राणायामैः स्तीणदोषं
मनो यत्र यत्र धर्थते तत्र तत्र स्थिरीभवति न विक्षेपं भजते ॥ ५३ ॥
प्रत्याहारस्य लक्षणमात्—

भ० व० का भा०—जिन धारणाओं का लक्षण आगे कहा जाय-
गा उनमें प्राणायामों से मनके सब दोष दूर होकर जदां २ मनको
लगाया जाता है वहाँ २ बहु स्थिर हो जाता है अर्थात् फिर मन
पूर्वोक्त विक्षेपों में नहीं फौसता है ॥ ५३ ॥ आगे प्रत्याहार का लक्षण
कहते हैं—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इत्वे-
निद्र्याणां प्रत्याहोरः ॥ ५४ ॥

सू० का पदा०—(स्वविषयासम्प्रयोगे) अपने वि-
षय का जो असम्प्रयोग अर्थात् ग्रहण को न करना
(चित्तस्य स्वरूपानुकार हव इन्द्रियाणाम्) चित्त के
स्वरूप को अनुकरण करने के समान इन्द्रियों का भाव
जिसमें होजाय (प्रत्याहारः) वह प्रत्याहार कहाता
है ॥ ५४ ॥

सू० का भाव०—जिसमें चित्त इन्द्रियों के सहित अपने विषय को त्याग कर केवल ध्यानाधस्थित होजाय उसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

ध्या० दे० का भा०—इवविषयसम्प्रयोगभावे चित्तस्व-
रूपानुकार इवेति, चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरे
न्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते । यथा-मधुकरराजं मक्षिका उत्प-
तन्तमनुभतन्ति निविशमानपनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्त
निरोधे निरुद्धानीत्येप प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

भा० का पद्मा०—अपने विषय का योग न होने से चित्त स्वरूप के समान इन्द्रियों भी होजाती हैं चित्त के समान जिसमें इन्द्रियों का निरोध होजाय इतर इन्द्रियों के जीतने में जब दूसरे उपायों की अपेक्षा न रहे जैसे रानी मक्षिकी के पीछे जब वह उड़ती है तब सब मक्षिकायें उड़ती हैं जब वह छाते में प्रविष्ट होती है तब सब मक्षिकायां भी वैठजाती हैं इस ही प्रकार से इन्द्रियों भी चित्त के निरोध होने से निरुद्ध होजाती हैं यह प्रत्याहार है ॥ ५४ ॥

सू० का भावा०—जब चित्त विषयों के चिन्तन से उपरत हो-
कर स्वस्थ होजाता है तब इन्द्रियों भी चञ्चलता रहित होजाती हैं ।
उस शान्त अवस्था को प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

भो० दृ०—इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाहि यन्तेऽस्मिन् इति
प्रत्याहारः । स च कथं निष्पद्यत इत्याह । चञ्चुरादीनामिन्द्रियाणां
स्वविषयोरुपादिस्तेन सम्प्रयोगस्तदाभिमुख्येन वर्तनं तदभावस्तदाभि-
मुख्यं परित् ज्य स्वरूपमान्नेऽवस्थानं, तस्मिन् सति चित्तस्वरूप
मात्रानुकारीणीन्द्रियाणि भवन्ति । यत्थित्तमनुवर्त्तमानानि मधुकर-
राजमिव-मक्षिकाः सर्वाणीन्द्रियाणि प्रतीयन्ते अतथित्तनिरोधे तानि
प्रत्याहतानि भवन्ति । तेषां तत्स्वरूपानुकारः प्रत्याहार उक्तः ॥ ५४ ॥
प्रत्याहारफलमाह—

भो० दृ० का भा०—प्रत्याहार का अर्थ यह है कि इन्द्रियां विषयों के विनाशकार संस्कार को लेकर जिसमें आ छिपे वह प्रत्याहार है । प्रत्याहार किस प्रकार से प्राप्त होता है इसका वर्णन करते हैं-

मन आदि इन्द्रियां अपने रूपादि विषयोंमें जो मुख्य माध्यसे लगी हुई हैं उन विषयों को परित्याग कर अपने स्वरूपमात्र से जो स्थिर रहना है वह इन्द्रियों का स्थिरभाव है उसके पश्चात् इन्द्रियों चित्त का अनुकरण करने लगती ही पद्योंकि सब इन्द्रियां चित्त के पीछे चलने वालीं वा आधीन रहती हैं । जैसे रानी मफ्ली के आधीन सब मधु-मक्खी होती हैं, इस फारण चित्त के निरुद्ध होते से सब इन्द्रियां विषयों को स्थाग कर चित्त के साथ निरुद्ध होजाती हैं । इन्द्रियोंकी इस निरुद्धवस्था को प्रत्याहार कहते हैं ॥ ५४ ॥

आगे प्रत्याहार के फल को कहते हैं—

ततः प्रसमां वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

सू० का पदा०—(ततः) उस प्रत्याहार से (प्रसमां-वश्यता) अत्यन्त वश में होजाना (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का ॥ ५५ ॥

सू० का भा०—प्रत्याहारसे इन्द्रियों अत्यन्त वश होती है ॥ ५५ ॥

ध्या० का भा०—शब्दादिवच्चयसनमिन्द्रियजय इति के चित्तसक्तिर्गत्वा व्यस्थत्येन श्रेयस इति । अविद्या प्रतिपत्तिर्निर्याया । शब्दादिसम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये । रागद्वापाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिक्षानमिन्द्रियजय इति केचित् । चित्तकांश्चादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीपञ्चः । ततश्च प्रसमावियं वश्यता यस्त्विचत्तनिरोधे निरुद्धानीदियाणि नेतरेन्द्रियजयवत्प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षान्वे योगिन इति ॥ ५५ ॥

आ० का पदा०—शब्दाविव विषयों में आसकि का होना ही इन्द्रियों का जीतना कहाता है प्रेसा कोई २ भावकार कहते हैं । आसकि को ही उपसन कहते हैं क्योंकि वह योगी को कल्पयाण से कूर-फौकता है । कोई २ शाख के अविकर्ष आसकि को अनुचित नहीं, बतलाते । शब्दादि विषयोंका अनुष्ठान स्वाभाविक ही होता है यह भी किसी २ मन्त्रव्य है । राग द्वेष के अभाव में सुख और मुख जे-

शब्द्यका शब्दादि ज्ञान इन्द्रियजय है पेसा कोई २ कहते हैं । चित्त की एकाग्रता से विषयों का ध्यान न करना पेसा जैगीपव्य भूषि का मत है तब यह परम वश्यता होती है । जो चित्त के निरोध में सब इन्द्रियों निरुद्ध होती हैं और इन्द्रियजय के समान अवल से किये हुए उपायान्तरकी अपेक्षा करता है ॥ ५५ ॥

भा० का भा०—शब्दादि विषयों में चिरकि होना ही इन्द्रियों का जीतना कहाता है पेसा कोई मुनि कहते हैं, इन्द्रियों की विषयों में आसकि व्यसन कहाती है क्योंकि वह योगी को कल्याणसे दूर फेंकती है । शब्दादि विषयों का अनुष्ठान स्वाभाविक होता है यह किसीका मत है । पूर्वोक्त रागद्वेष के अमाव में सुख दुःख शून्य होना यह किसीका मत है । चित्त की एकाग्रता से शब्दादि वाहा विषयों का अहण न करना ही इन्द्रियजय है यह जैगीपव्य भूषि का मत है । निज इन्द्रियजय से जो चित्त के निरोध में इन्द्रिय निरोध होता है उस से अन्य योगी लोग यत्न नहीं दूँढ़ते अर्थात् उस ही से योग सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥

भो० घ०—अभ्यस्थमाने हि प्रत्याहारे तथा वश्यानि आयत्तानी-
निद्र्याणि स्म्पद्यन्ते यथा याद्यविषयाभिमुखतां नीयमानान्यपि
न याद्यतीत्यर्थः ।

तदेवं प्रथमपादोक्तलक्षणस्य । योगस्यांगभूतक्लेशतनुकरणफलं
क्रियायोगमभिधाय क्लेशानामुद्देशं स्वरूपं कारणं केवं फलं चोक्त्वा
कर्मणामपि भेदं कारणं स्वरूपं फलं चाभिधाय विप्राकस्य कारणं
स्वरूपञ्चाभिहितम् । ततस्याज्यत्वात् क्लेशादीनां ज्ञानव्यतिरेकेषु
स्यागस्याशक्यत्वात् ज्ञानस्य च शास्त्रायत्तत्वाच्छालकस्य च हेयहानका-
रणोपादेयोपादानकारणवोधकत्वेन चतुर्ब्युद्दत्वात् हेयस्य च हानव्य-
तिरेकेणस्वरूपानिष्टत्वेन सहितं चतुर्ब्युद्दत्वात् हेयस्य च विवेकं
भायोपादेयकारणभूतात्या विवेकलयाते कारणभूतानामन्तरं गच्छित्वा-
र्गमावेन द्वितीनां चोगाङ्कानां यमादीनां स्वरूपं फलसहितं व्याकृत्या-
स्तनादीनां धारणापर्व्यन्तानां परस्परमुपकार्योपकारकमावेनाव-
स्थितानामुद्देशमभिधाय प्रत्येकं लक्षणकारणपूर्वकं फलमभिहितम्
तदयं योगो असनियमादिभिः प्राप्तवीजभावासनप्राणायामैरुक्तिः
प्रत्याहारेण पुष्पितो ध्यानधारणासमाधिभिः फलिभ्यतीति व्याख्या-
तः साधनपादः ।

भो० बू० का भो०—प्रत्याहार का अभ्यास करने से इन्द्रियों पश में होजाती हैं, फिर उनको यदि वाहा विषयोंमें लगाया भी जाय तो भी वह विषयों को प्रहण नहीं करती है अर्थात् स्वयम् योग में प्रीतिमती हो जाती है॥ ४५ ॥

उपसंहार ।

प्रथम पादमें जिस योगका धर्णन किया था उसके ही अङ्ग फलेश नाशक क्रियायागका इस द्वितीय पादमें धर्णन कियाहै। फलेशोंके उद्देश, फलेशोंके स्वरूप, फलेशोंके कारण, फलेशोंके उत्पत्तिस्थान और फलेशोंके फलका भी विधिचत् धर्णन किया है पश्चात् कर्मोंके भेद, कारण, स्वरूप और फल का भी धर्णन कर चुके, फिर कर्मचिपाक (फल धारासना) का कारण और स्वरूप भी कहा इस के अनन्तर फलेशों का हेतुव (त्याग) और फलेश विना धान के नहीं छूटते हैं और शान शास्त्रसे प्राप्त होता है और शारा इन चारों वातों का घोघक है। हेय, (त्यागने योग्य) हेयहेतु, उपादेय और उपादान कारण जिस से उपादेय का धान होता है इन्हीं चारों वातों का योगशास्त्र में धर्णन है इस कारण शारा भी चतुर्वृष्ट कहाता है, हेय का स्वरूप धानके अतिरिक्त सिद्ध नहीं हो सकता है इसलिये धानके सहित उक्त चारों वातों का कारणोंके सहित धर्णन करके उपादेय का कारण जो विवेकल्याति है उस के कारण अर्थात् योग के अन्तर्ग और धर्णिर्ग साधन स्वरूप यम आदि के लक्षण और फलका भी धर्णन किया, फिर आसन और धारणादि के परस्पर उपकार्योपकारक (जो एक दूसरेके उपकारको करते हैं अर्थात् परस्पर सहायकारी हैं) भाव कह कर इमेंसे प्रत्येक के लक्षण, कारण और फलका वर्णन आदि इसही पाद में किया गया है। इससे सिद्ध है कि यम नियमादिसे योगीके चित्त में योग का धीज घोया जाता है, आसन और प्राणायाम से उस धीज में अंकुर उन्पन्न होता है। प्रत्याहार से उस पर पुण्य आता है और ध्यान, धारणा तथा समाधि से उस वृक्ष पर फल लगता है यही इस साधनपाद का संक्षिप्त फलितार्थ है॥

इति पातञ्जले सांख्यग्रन्थने योगशास्त्रे
द्वितीयः पादः समरप्तः ।

अथ विभूतिपादः ।

—३४५—

देशबन्धश्चित्स्य धारणा ॥ १ ॥

सू० का पदो—(देशबन्धः) देशबन्ध (चित्स्य) चित्त की (धारणा) धारणा कहलाती है ॥ १ ॥

स० का भावो—चित्त को नाभि आदि स्थानों में स्थिर करने को धारणा कहते हैं ॥ १ ॥

ध्या० दे० का भा०—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्तिर्ण ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु वाश्च वा विषये चित्स्य धृतिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥

भा० का पदो—नाभिचक्र में, हृदय कमलमें, कपाल में, नासि का के अग्रमाण में, जिह्वा के अग्रमाण में हृत्यादि स्थानों में अथवा वाहा विषयों में चित्त का उत्तियों के द्वारा स्थिर होना धारणा कहलाती है ।

भा० का भा०—नाभि आदि अन्तर्देशों वा वाहा देशों में उत्ति के द्वारा जो चित्त को स्थिर कियाजाता है वह धारणा कहलाती है ॥ १ ॥

१ सू० वि०—वाश्च विषय का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों के जो कपादि स्थूल अर्थात् तन्मात्र हैं उन में चित्त को लंगाना भी धारणा शब्दका वाच्य है, आजकल जो हठयोग वाले पट्ट्यक्रमेवन का अन्यास किया करते हैं वह भी हस्तही सूत्रके आभास से करते हैं और यिहोसेफिटलोग हस्तही सूत्रसे वाश्च विषय अर्थात् किसी विन्दु विशेष वा वस्तु विशेष में चित्त को लंगाने का अन्यास किया करते हैं परन्तु ये सब कियाये योगी को हालि पहुंचाती हैं ॥ १ ॥

भो० ख०—तदेवं प्रूर्वोद्दिष्टं धारणाद्यन्तर्यामि निर्णेतुं संयमसंज्ञादि धात्रपूर्वकं व्याहाराभ्यन्तरादिसिद्धिप्रतिपादनाय लक्षयितुमुपक्रमते ।

तत्र धारणायाः स्वरूपमाह—देशोनामिच्छक्नासाप्रादौ चित्तस्थयन्धो, विषय
आन्तरपरिदृष्टिरेण यदु स्थिरीकरणं सा चित्तस्य धारणोच्यते, अपमर्थः।
मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मनासितान्तःकरणेन यमनियमधता जितासनेन
वरिहनभाषणविक्षेपेण प्रत्याहृतेन्द्रियप्रामेण निर्वाचे प्रदेश ऋग्नुकायेन
जितद्वन्द्वेन योगिनां नासांप्रादौ संप्रहातस्य समाधेरभ्यासाय चित्तस्य
स्थिरीकरणं कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥ धारणामभिधाय ध्यानमभिधातुमाह—

ओ० सू० का भा०—इस शीति से पूर्वपाद में कहे धारणादि
योग के तीन अङ्गों के तिर्णय के निमित्त संबम संदाका वर्णन
पूर्वक धार्यासिद्धि और आन्तरसिद्धि को धर्णन करने का उद्दोग
करते हैं । उन तीनों में से प्रथम धारणा का स्वरूप कहते हैं—

देश अर्थात् नामिचक और नासिका के अप्रभाग आदि में जो
चित्त का बन्ध अर्थात् विषयों को त्वागकर स्थिर करना है वह
धारणा कहाती है । अभिप्राय यह है कि मुदिता और मैत्री आदि
जिस योगी के अन्तःकरण में पूरित होगये हैं, यमनियम को जिसने
धारण किया है, आसन फो जिसने जीता है जिसके चित्त के मल,
विक्षेप दूर होगये हैं, प्राणों के विक्षेप जिसके दूर हो गये हैं, इन्द्रियों
जिसकी वश होगई हैं, विज्ञरहित स्थान में योग सेवन से जिसके
द्वन्द्व दूर होगये हैं उस योगी को नासिका के अप्रभाग वा नामि
चक्रादि में संप्रहात समाधि का अभ्यास करने के निमित्त अपने
चित्त को स्थिर करना चाहिये ॥ १ ॥ धारणा कहकर ध्यान का
धर्णन करते हैं ।

तत्र प्रत्ययैकतानन्ता ध्यानम् ॥ २ ॥

सू० का पदा०—(तत्र) नामि आदि स्थानों में
(प्रत्ययैकतानन्ता) ज्ञान की स्थिरता (ध्यानम्) ध्यान
कहाती है ॥ २ ॥

सू० का भा०—नामि आदि देशों में जो ध्येय का ज्ञान होता है
वसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

ध्या० भा०—तस्मिन् देशे ध्येयावस्तुम्बनस्य प्रत्ययस्यैक-
तानन्ता सदृशः भवत्त्वा भव्यपान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ २ ॥

भा० का।पदार्थ—उन नाभि आदिस्थानों में ध्येयवलम्बन करण क्षान की स्थिरता अर्थात् सदृश श्वान का प्रवाह और श्वानों से जो सम्बन्ध न रखता हो उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

भा० का भा०—नाभि आदि स्थानों में ध्येय के श्वान में चिलका लय होजाना और उसमें दूसरे श्वान का अभाव होजाना ध्यान कहाता है ॥ २ ॥

भो० दृ०—तत्र तस्मिन् प्रदेशे यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य श्वानस्य या एकतानता विसदृशपरिणामपरिदृश्वारेण यदेव धारणा धोमालसंबन्धीकृतं तदावलम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यान-ध्युक्त्यते ॥ २ ॥ चरमं योगांगं समाधिमाह—

भो० दृ० भा०—जिस स्थान में चित्त को धारण किया या उस में जो श्वान की एकतानता अर्थात् विसदृश परिणाम त्वाग द्वारा औ धारणा में आलम्बन होता है उसे ध्यान कहते हैं ॥ २ ॥

अब अन्तिम योग के अङ्ग समाधि को कहते हैं—

तदेवोर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

सू० का पदा०—(तदेव) वही ध्यान (अर्थमात्र-निर्भासम्) अर्थमात्र संस्कारमात्र रहजाय (स्वरूप-शून्यमिव) स्वरूपशून्य सा प्रतीत हो (समाधिः) उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

सू० का भा०—जिसे में ध्यान का संस्कार मात्र रहजाय और स्वरूप शून्य के समान होजाय उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

ध्या० भा०—इदमत्रवोध्यम्—ध्यःत्रूप्येयध्यानकलनावत् ध्यानं तद्रदितं समाधिरिति । ध्यानसमाध्योर्विभागः । अस्व च समाधिरूपस्थागस्थांगिनियोगः सम्प्रज्ञातयोगादयं भेदो यदत्र चिन्तारूपतया निःशेषतो ध्येयस्वरूपं न भासते अङ्गिनि तु सं-प्रज्ञाते साक्षात्कारोदये समाध्यविपयो अपि विपया भासन्त इति । तथा च साक्षात्कारशुल्कैकाग्रकाले सम्प्रज्ञातयोगः । अन्य-

दा तु समाधिमोत्रमिति विमागः संमाधिः । ध्यानमेव ध्येयाकार
निर्भासं प्रत्ययाऽत्मकेन स्वरूपेण शून्यमित्रं यदा, मत्ति ध्येय-
स्वभावावेशाचदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

भा० का प०—यहाँ पेसा जानना चाहिये ध्याता-ध्यान करनेघाला,
ध्येय-जिसका ध्यान किया जाय तथा ध्यान इन तीनों का प्रभेद
जिस में प्रतीत हो वह ध्यान कहता है । उस भेद से इहित को
समाधि कहते हैं । यही ध्यान और समाधि मैं भेद है । इस समाधि
रूप योगांग का अंगी सम्प्रश्नातयोग से यही भेद है कि समाधि में
चिन्ता धिनष्ट होजाने के कारण ध्येयका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता
सम्प्रश्नात में साक्षात्कार के उदय होने से समाधि के आगम्य विषय
भी प्रतीत होते हैं तथा साक्षात्कार से युक्त एकाग्र अवस्था में सम्प्र-
श्नातयोग होता है और समय में तो समाधियोग होता है यही विभाग
है । ध्यान ही ध्येय के आकार में परिणत होकर जब हान स्वरूप से
शून्य के समान होजाता है अर्थात् ध्याता में जब ध्येयके स्वभाव का
आवेश हो जाता है तब समाधि होती है ॥ ३ ॥

भा० का भा०—पूर्वलिखे लक्षणों में सन्देह होता है कि ध्यान
और समाधि में क्यों भेद है ? इस का उत्तर यह है कि ध्यान में
ध्यात् ध्येय ध्यान की विपुलि का ज्ञानं यना रहता है, किन्तु समाधि
में यह नहीं रहता । अब यह सन्देह हुआ कि पूर्वलिखित सम्प्रश्नात
योग और समाधि में क्या प्रभेद है ? इस का उत्तर यह है कि
समाधि में योगी निर्धिकरण होजाता है इस से ध्येय का स्वरूप भाव
नहीं होता किन्तु सम्प्रश्नात योग में साक्षात्कार के उदय होने से
समाधि में जो विषय ज्ञात नहीं होते वे विषय भी प्रकाशित होते हैं ।
इस से यह सिद्ध हुआ कि साक्षात्कारयुक्त एकाग्र अवस्था में सम्प्र-
श्नात योग और अम्य समय में समाधि योग होता है अर्थात् समाधि
का लक्षण यही है कि ध्यान में ध्येय के स्वभाव का आवेश होजाने
को समाधि सिद्धि कहते हैं ॥ ३ ॥

३ स०—‘सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विद्वेषान् परिहृत्य मनो
यत्र सः समाधिः’ । विद्वों को निवारण करके जिसमें मनको एकाग्र
किया जाय उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥

भ० ३०—तदेवोक्तलक्षणं ध्यानं अत्रार्थमात्रनिर्भासमर्थकार समावेशाद्युद्भूतार्थरूपं न्यग्रन्थानस्वरूपत्वेन स्वरूपशङ्क्यतामिवा पथते स समाधिरित्युचते । सम्यगाधीचत पकाशीकित्युते विक्षेपाद् परिहृत्य मनो वज्र स समाधिः ॥ ३ ॥

वक्तलक्षणस्थ योगांगक्रमस्थ व्यवहाराय स्वज्ञास्ते तान्त्रिकीं संहार कर्तुमाद—

भ० ३० का भा०—जिस ध्यान का लक्षण पूर्ण कह आये हैं वही ध्यान अर्थकार अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से अर्थी का शान जिस में ही और ध्यान का स्वरूप जिस में शङ्क्य के समान होजाय उसे समाधि कहते हैं । इसमें ध्याता, ध्यान, अयोध्या की विपुलिका शान नहीं रहता है । समाधि का शब्दार्थ यह है कि भली भीति धारण किया जाए मन को जिस में अर्थात् मन विक्षेपों को स्थान कर जिस में एकाग्र होजाता है उसे समाधि कहते हैं ॥ ३ ॥ योग के जो यह तीनों अङ्गों ध्यान, धरणा और समाधि हैं इन तीनों का एक शब्द से व्यवहार करने के लिये योगशास्त्र की तान्त्रिकी संहार कहते हैं—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

भ० ३० का भा०—(ब्रयम्) तीनों का—(एकत्र) एक जगह में है (नर (संयमः) संयम कुहाता है ॥ ४ ॥

भ० ३० का भा०—ध्यान, धारणा, समाधि इन तीनों के एकत्र हीने को संयम कहते हैं ॥ ४ ॥

भा० ३० का भा०—तद्रेदद्वप्रारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते । तदस्यत्रयस्य तीव्रिकीं परिभासा संयम इति ॥ ४ ॥

भा० का प०—सो यह ध्यान, धारणा, समाधि तीनों पकाग्र होनेसे संयम कहलाता है । एक विषय वाले तीन साधनों को संयम कहते हैं सो इस शास्त्र में इन तीनों की संयम संहार है ॥ ४ ॥

भा० का भा०—किसी एक ही अयोध्या में धारणा, ध्यान और समाधि का करना संयम कहाता है गा ॥ ४ ॥

भौ० वृ०—एकस्मिन् विषये धारणाध्यानसमाधित्रयं प्रधर्त्तमानं संयमसंशया शाल्मेष्यवहित्यते ॥ ४ ॥ तस्य फलमाह—

भौ० वृ० का भा०—एक ही विषय में जो धारणा ध्यान समाधि की जाती है उसका नाम संयम है ॥ ४ ॥ आगे संयम का फल कहते हैं—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

सू० का प०—(तज्जयात्) उस संयम के जय से (प्रज्ञालोकः) बुद्धि का प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

सू० का भा०—संयम के जय से बुद्धि का प्रकाश होता है ॥ ५ ॥

ध्या०—नस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवस्थोलोको यथा पथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा वथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति ॥ ५ ॥

भा० का प०—उस संयम के जीतने से समाधिविषयिणी बुद्धि का प्रकाश होता है जैसे २ संयम स्थिर होता है । तेसे २ ईश्वर की रूपा से समाधि विषयिणी बुद्धि निषुण होती जाती है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—जैसे २ संयम स्थिर होता है वैसे २ समाधि-विषयिणी बुद्धि निर्मल होती जाती है ॥ ५ ॥

पू० सू०—अर्थात् जो पदार्थ बुद्धि हारा जानने योग्य हैं उनका प्रकाश होता है । यहाँ पर अहंकारों को होती है कि योग के जो पूर्वपाद में आठ अंग हैं उन सब का एक स्थल में वर्णन करके फिर मिन्न मिन्न लग्नलों में वर्णन क्यों किया ? इसका उत्तर अगले सूत्र में लिखते हैं ॥ ५ ॥

भौ० तृ०—तस्य संयमस्य जयाऽभ्यासेन सात्म्योत्पादनात् प्रक्षायां विवेकरूपातेरालोकः प्रसवो भवनि । प्रक्षा शेयं सम्यग्वधभास्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥ तस्योपयोगमाह—

भौ० तृ० का भा०—संयम के जय अर्थात् अभ्यास से प्रक्षा अर्थात् विवेकरूपाति का प्रकाश होता है अर्थात् बुद्धि से जानने योग्य जों पदार्थ का विषय हैं वे अच्छी भाँति प्रकाशित होजाने हैं ॥ ५ ॥ संयम का उपयोग ('लाग') कहते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

सू० का प०—(तस्य) उस संयम को (भूमिषु विनियोगः) योगकी भूमियोंमें स्थिर किया जाता है ३

सू० का भा०—संचम की स्थिरता योग की भूमियों में कम से करनी चाहिये ॥ ६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः । न हजिताधरभूगिरनन्तरभूमि विलंघ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः । ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचिच्छानादिषु संयमो युक्तः कस्पात्—तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात् । भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः । कथम् । एवं शुक्तम्—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते ।

योऽपमत्तस्तु योगेन स योगे रमते विरमिति ॥ ६ ॥

भा० का प०—पूर्वोक्त संयम का जीती हुई भूमि के अनन्तर जो भूमि है उसमें विनियोग किया जाता है नीचे की सीढ़ियों को कम से विना उल्लंघन किये प्रान्तभूमि में संयम प्राप्त नहीं होता यिना प्रान्त भूमि में संयम किये हुए का प्रकाश कहां ? और जिस योगी ने ईश्वर की रूपा से उत्तरभूमिको जीता है उसका नीची भूमि और परीक्षित शान में संयम करना युक्त नहीं है धर्योंकि इस सीढ़ी के पश्चात् यह सीढ़ी है, इसका घनाने वाला उन विषयों को योगी स्वयं ही जानता है योग ही उपाध्याय है । जैसा कि कहा है—योग को योग से जानना चाहिये, योगसे योग प्राप्त होता है, जो योग में अप्रमत्त है वही योग से चिरकाल तक रमण करता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—संयम को योग की भूमियों के द्वारा सिद्ध करे आर्थात् क्रमशः उसमें अन्यास घड़ाता जाय, उन सीढ़ियों को योग-भूमि कहते हैं यिना प्रथमभूमि के सिद्ध किये द्वितीय में कोई नहीं

का सकता । ईश्वर की कृपा से जिनको उत्तरभूमियों में संयम प्राप्त हुआ है उन्हें अधोभूमि में संयम करने की कोई आवश्यकता नहीं, पर्योंकि उनको भूमियों का परिवान हो जाता है । योग से योग प्रवृत्त होता है, जो योग में साधाधान रहता है वही योग में विवरकाल तक आनन्द भोगता है । तात्पर्य यह है कि योग की जो ४ कार्यविमुक्ति और ३ चित्तविमुक्ति सप्तभूमिका कहीं थीं उन ही में योगी को क्रमसे संयम करना चाहिये ॥ ६ ॥

भो० वृ०—तस्य संयमस्य भूमिषु स्थूलसंक्षमालम्बनंभेदेन स्थितासु चित्तचृत्तिषु विनियोगः कर्त्तव्यः, अधरामधारां चित्तभूमिं जितां जितां शात्वोच्चरस्यां भूमौ संयमः कार्यः । न हनात्मीकृताधरभूमि-कृतरस्यां भूमौ संयमं कुर्वणः फलभागभवति ॥ ६ ॥

साधनपादे योगाङ्गानि अष्टौ उद्दिश्य पञ्चानां लक्षणं विधाय अथाणां कथं न कृतमित्याशंपायाह—

भो० वृ० का भा०—संयम का पूर्व कही भूमिकाओं में अभ्यास करने से, स्थित छुट्ठे जो चित्त की वृत्ति है उसमें विनियोग अर्थात् अनुष्ठान करना चाहिये अभिप्राय यह है कि प्रथम योग सम्बन्धिनी नीची चित्तभूमि में पूरा अधिकार जमा के उससे ऊँची भूमि में संयम करना चाहिये । पर्योंकि नीची भूमि में विना पूरा अधिकार प्राप्त किये जो ऊँची भूमि में संयम करता है वह योग के फल को प्राप्त नहीं होता ॥ ६ ॥

साधनपाद में योगके आठ अङ्कों का वर्णन करके पाँच के लक्षण कहे और तीन को क्यों छोड़ दिया ? इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

सू० का प०—(त्रयम्) ध्यान, धारणा और समाधि (अन्तरंगम्) अन्तरंग हैं (पूर्वेभ्यः) पहिले यमादिकों से ॥ ७ ॥

सू० का भा०—यमादिकों की अपेक्षा ध्यान, धारणा और समाधि अन्तरंग हैं ॥ ७ ॥

ध्या० दे० का भा०—तदेतद्वारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरंगं सम्प्रक्षातस्य साधने; पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधने-भ्य इति ॥ ७ ॥

भा० का प०—सो यह धारणा, ध्यान, समाधि तीनों अन्तरंग साधन हैं। सम्प्रक्षात समाधि के पूर्वोक्त यमादिक पांच साधनोंसे ॥ ७ ॥

भा० का भा०—धारणा, ध्यान समाधि, यह तीनों पूर्व कहे सम्प्रक्षात योग के यमादि पांच साधनों से अन्तरंग साधन हैं। अर्थात् इनसे प्रत्यक्ष संप्रक्षात योग को लिहिए होती है ॥ ७ ॥

७ स०—तात्पर्य यह है कि यमादि ५ अंग सम्प्रक्षात योग के बहिरंग साधन हैं, और धारणा, ध्यान, समाधि यह तीनों सम्प्रक्षात योग के अन्तरंग साधन हैं ॥ ७ ॥

भो० छ०—पूर्वेभ्यो यमादिभ्यो योगाङ्गेभ्यः पारम्पर्येण समाधेष्वरूपगिन्द्रियादनात् ॥ ७ ॥

तस्यापि समाध्यन्तरापेक्षया बहिरङ्गत्वमाह-

भो० छ० का भा०—पूर्व कहे यम आदि योग के अंग परम्परा अर्थात् हिसादिवितकों को नाश करने से योग के सहायक हैं परन्तु धारणा आदिक तीन सम्प्रक्षात समाधि में साक्षात् सहायक हैं इस कारण वे योगके अन्तरंग साधन हैं और यमादिक बहिरंग हैं ॥ ७ ॥

निर्बीज समाधि के वे भी बहिरंग हैं इस यात को अगले सुन में कहते हैं

तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

स० का प०—(तदपि) यह धारणादिक भीनभी (बहिरङ्गम्) बहिरंग साधन हैं (निर्बीजस्य), निर्बीज समाधि के ॥ ८ ॥

स० का भा०—निर्बीज समाधि के ध्यानादिक भी बहिरंग साधन हैं ॥ ८ ॥

स्या० दे० कु० भा०—तदप्यन्तरंगं साधनत्रयं निर्वी-
जस्य योगस्य घटिरंगं भवति कस्माभावभावे भावादिति ॥ ८ ॥
अथ निरोधचित्तचेष्टा कीदृशस्तदा
चित्तपरिणामः ॥

भा० का प०—पूर्वोक्त तीनों अन्तरंग साधन निर्वीज योग के
घटिरंग होते हैं क्योंकि उन के बिना भी निर्वीज योग होता है ॥ ८ ॥
भा० का भा०—स्यानादि असम्प्राहात् योग के घटिरंग साधन
हैं, अन्तरंग नहीं ॥ ८ ॥

भो० कु०—निर्वीजस्व निरालम्बनस्य शून्यमाध्यनापरपर्यायस्य
भावाद्येरेतदपि बोगाङ्गत्रयं घटिरङ्गं पारम्पर्येणपक्षं त्वात् ॥ ९ ॥
इदानीं बोगसिद्धिराङ्गातुकामः संयमस्य विषयविशुद्धि कर्तुं
क्रमेण परिणामशब्दमाइ-

भो० कु० का भा०—जो समाधि शून्य के समान निरालम्ब धा-
निर्वीज (असम्प्राहात्) होनी है उसके धारणादि तीनों घटिरङ्ग-
साधन हैं, क्योंकि ये भी परम्परा से उसके सहायक हैं ॥ ९ ॥

योग से जो सिद्धि प्राप्त होती है उनका धर्यन करने के अभिप्राय
से शंयम के विषय को स्पष्ट करने के निमित्त तीन प्रकार के पटि-
याम, कहते हैं ॥

**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिमवप्रादुर्भावौ निरो-
धक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥**

सू० का पदा०—(व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः)
चञ्चलता और एकाग्रता के संस्कारों का (अभिमव-
प्रादुर्भावौ) जो शुस और प्रकट होना (निरोधक्षण-
चित्तान्वयो निरोधपरिणामः) निरोध क्षणोंमें जो चित्त
का अन्वय उसे निरोधपरिणाम कहते हैं ॥ ९ ॥

सू० का भा०—दिसादिक चित्तकी चञ्चलता और निरोध
क्षणियों के जो संस्कार उन संस्कारों का जो प्रादुर्भाव और तिरो-

भाव होता है उस क्षय में निरोध के अनुसार जो चित्त कां परिणाम होता है उसे निरोधपरिणाम कहते हैं ॥ ६ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—व्युत्थानसंस्काराशित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धा निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्मस्तयोरभिमवप्रादुर्भावी व्युत्थानसंस्काराहीयन्ते निरोधसंस्कारा आधीयन्ते । निरोधक्षणं चित्तमन्वेति तदेकस्य वित्तस्य प्रतिक्षणमिदः संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधी व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भा० का प०—व्युत्थानादिसंस्कार जो चित्तके धर्म हैं वे शान्त हमक नहीं होते इशान के निरोध में नहीं रुकते हैं अर्थात् परिणामी हैं निरोधसंस्कार भी चित्त के धर्म हैं वे जब गुरुं धा प्रकट होते हैं तब व्युत्थान संस्कार नष्ट हो जाते हैं और निरोधसंस्कार धारणा किये जाते हैं निरोध का अनुयायी चित्त को भ्रात कर उस एक चित्तका प्रतिक्षणा संस्कार निरोध निरोध का परिणाम है यह निरोधसमाधि में चित्तकां व्याख्याता किया गया है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—व्युत्थान संस्कार और निरोध संस्कार यह दोनों चित्त के धर्म हैं । व्युत्थान संस्कार अशानकृत होता है जिस समय निरोध संस्कारों का उदय होता है उस समय व्युत्थान संस्कार अस्त हो जाता है निरोध क्षण में जो चित्त का परिणाम होता है उसी संस्कारशेष चित्त को निरोधसंस्कृत चित्त कहते हैं ॥ ६ ॥

६ स०—इस सूत्र का भावार्थ यह है कि यद्यपि चित्त का धर्म स्वाभाविक ही व्युत्थान अर्थात् चंचलता है तो भी जिस क्षण में व्युत्थान के धर्मों का तिरोभाव और निरोध के धर्मों का प्रादुर्भाव होता है उस द्वी अवस्था को निरुद्धावस्था कहते हैं ॥ ६ ॥

भो० वृ०—व्युत्थानं क्षिप्रमूढं विक्षिपात्यं भूमित्रयम् । निरोधः प्रहृष्टसत्त्वस्याङ्गितया चेतसः परिणामः । ताभ्यां व्युत्थाननिरोधाभ्यां यौ जनिती संस्कारौ तयोर्यथाकममिभवप्रादुर्भावी यदा भवतः । अभिभवो न्यग्नूततया कांच्य करणात्सामर्थ्येनावस्थानम् । प्रादुर्भावो वर्तमानेऽव्यनि अभिव्यक्तस्तपतया आविर्भावः । तदा निरोधहर्ये

चित्तस्योभयलक्षणवृत्तित्वादन्वयो चः स निरोधपरिणाम उच्यते । अथमर्यः—यदा व्युत्थानसंस्काररूपो धर्मस्तिरोधूतो भवन्ति, निरोध संस्काररूपत्वं आविर्भवति, धर्मरूपतया च चित्तमुभेशान्वयित्वे—उपि निरोधात्मनावस्थितं प्रतीयते, तदा स निरोधपरिणामशब्देन व्यवहियते । चलत्वाद्यगुणवृत्तत्वय यथार्थि देवतसो निश्चलत्वं नास्ति तथापि प्रवैभूतः परिणामः स्वैर्यमुच्यते ॥ ६ ॥ तस्यैव फलमाद—

भौ० कृ० का भा०—व्युत्थान शब्द से क्षिप्त, मृढ़ और विक्षिप्त इन तीन अवस्थाओं का प्रदृश होता है, निरोध शब्द से दुष्टि और विक्ष के उत्तम परिणाम का प्रदृश होता है । इन दोनों व्युत्थान और निरोध से उत्पन्न हुए जो संस्कार उनके क्रम से अभिभव और प्रादुर्भाव जब दोनों हैं, अभिभवका अर्थ शिथिल होनेसे कार्य करनेमें सामर्थ्य होता है और प्रादुर्भावका शार्य यह है कि वर्त्तमान मार्गमें स्पष्ट रूप से प्रकाशित हो जाना, जब निरोध के लक्षण प्रकट होते हैं तब जो व्युत्थान से सम्बन्ध रहता है उसे निरोध परिणाम कहते हैं । अभिभव यह है कि जब व्युत्थान के संस्कार छिपते हैं और निरोध के संस्कार प्रकट होते हैं तब चित्त दोनों संस्कारों से युक्त होने पर भी निरोध स्वरूप जान पड़ता है चित्त की इस दशा को निरोधपरिणाम कहते हैं । यथापि चित्त गुणों के प्रभाव से कभी अचल नहीं होता तो भी निरोधपरिणाम चित्त का स्थिर भाव कहाता है ॥ ६ ॥ निरोध परिणाम के फल को कहते हैं—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

सू०—का प०—(संस्कारात्) उत्तम संस्कारों से (तस्य) चित्त का (प्रशान्तवाहिता) शान्त प्रवाह होता है ॥ १० ॥

सू० का भा०—उत्तम संस्कारों से चित्त का शान्त प्रवाह होता है ॥ १० ॥

व्या० कृ० भा०—निरोधसंस्कारान्निरोधसंस्काराभ्यासपाठवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति । तत्संस्कारमान्वे व्युत्थानधर्मिणा सं कारेण निरोधधर्मसंस्कारोऽभिभूयत इति ॥ १० ॥

भा० का प०—निरोध संस्कार से निरोध संस्कारों के अभ्यास की पहुँच की अपेक्षा चित्त की प्रशान्तवाहिता होती है निरोध-संस्कार के मन्द होने पर व्युत्थान संस्कारों के द्वारा निरोधवर्म धाता संस्कार तिरोभूत अर्थात् दया हुआ रहता है ॥ १० ॥

भा० का भा०-चित्त की वृत्तियों को निरोध करने धाते संस्कार के अभ्यास से चित्त की प्रशान्तवाहिता अर्थात् निर्मल-स्थिरता होती है और उस के पूर्व चित्त में चञ्चलता रहती है ॥ १० ॥

भो० द्व०—तल्य चेतसो निष्कामिरोधसंस्कारात् प्रशान्तव-हिता भवति । परिदृतविक्षेपतथा । सहश्रप्रवाहपरिणामि चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

निरोधपरिणाममभिधाय समाधिपरिणाममाह—

भो० द्व० का भा०—चित्त की उक्त निरोधसंस्कार से प्रशान्त-वाहिता अर्थात् विघ्न धा चञ्चलतारहित स्थिति होती है फलितार्थ यह है कि चित्त के विक्षेप दूर होजाने के कारण सदृश परिणाम प्रवाह वाला चित्त होजाता है ॥ १० ॥ निरोधपरिणाम का वर्णन करके समाधिपरिणाम का वर्णन करते हैं—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयो चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सू० का प०—(सर्वार्थतैकाग्रतयोः) सर्वार्थता अर्थात् अनेक विषयों के विचार से चंचल रहना और एकाग्रता का जो (क्षयोदयो) क्षय और उदय होता है (चित्तस्य समाधिपरिणामः) वह चित्त की समाधि का परिणाम है ॥ ११ ॥

सू० का भा०—चित्त की सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का जो उदय है वह चित्त की समाधि का परिणाम है । फलितार्थ यह हुआ कि चित्त अवस्था का त्याग देना और एकाग्रता का उदय होना यही समाधि का फल है ॥ ११ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—सर्वार्थता चित्तवर्मः । एका ग्रनापि

चित्तधर्मः । सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः । एकाग्रताया
उदय आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तं, तदिदं
चित्तप्रयोगजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स
चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

भा० का प०—सर्वार्थता चित्त का गुण है और एकाग्रता भी
चित्त का धर्म है । सर्वार्थता का अर्थात् विलीन होजाना और एकाग्र-
ता का उदय अर्थात् प्रकट होना इन धर्मों से युक्त चित्त है पूर्वोक्त
प्रित्त अणाय अर्थात् पुनः उत्तरं होना तद्गूरुप दो धर्मों में प्राप्त हुआ
स्थिर होता है वह चित्त की संमाधि का परिणाम है ॥ ११ ॥

भा० का भा०—सर्वार्थता और एकाग्रता दोनों चित्त के धर्म
हैं जब चित्त द्वितीय और विकृत अवस्थाओं को द्वयग कर एकाग्र
अवस्था में स्थिर होता है तब वही समाधि का परिणाम है ॥ ११ ॥

भौ० व०—सर्वार्थता चलत्वान्नानात्रिवार्थप्रहणं चित्स्तस्य
विक्षेपोधर्मः एकस्मिन्नेवाऽऽलम्बने संदर्शयपरिणामितैकाग्रता सापि
चित्तस्य धर्मः । तयोर्यथांकमं क्षयोदयसौ सर्वार्थतालक्षणस्य
धर्मस्य क्षयोऽत्यन्ताभिभव एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्य प्रादुर्भवोऽभिभ-
व्यक्तिप्रिवत्स्थोद्विक्तसत्यस्यान्वयितयाऽवस्थानं समाधिपरिणाम
इत्युच्यते । पूर्वस्मात्पृष्ठाणामा इत्यग्रं विशेषः । तत्र संस्कारलक्षण-
योर्धर्मयोर्दभिभवप्रादुर्भवौ पूर्वस्य व्युत्थानसंस्कारकपरस्य न्यगम्भावः ।
उत्तरस्य निरोधसंस्कारकपरस्योऽन्नभिभवत्वेनावस्थानम् । इह तु
क्षयोदयादिति सर्वार्थतालक्षणस्य विक्षेपस्यान्ततिरस्कारादनुत्पत्ति
रतीतेऽध्वनि प्रवेशः क्षय एकाग्रतालक्षणस्य धर्मस्योद्भवो वर्त्मानेऽ
व्यवनि प्रकटत्वम् ॥ ११ ॥

तृतीयमेकाग्रतापरिणाममाह—

भौ० व० का भा०—चित्त के चर्चते होने से अनेक विषयों को
एक साथ ग्रहण करना सर्वार्थता के होलातो है और यही विक्षेप कह-
साता है इससे विक्षेप चित्त को स्वभाव है एक ही विषय के आलं-
गवन में रहना अर्थात् संदर्शयपरिणाम एकाग्रता है वह भी चित्त को
धर्म है इन दोनों धर्मों का कम से कम और उदय अर्थात् सर्वार्थता
का धर्म का ज्ञाप अद्यन्त तिरस्कार और एकाग्रता का धर्म का

आदुर्भाव अर्थात् प्रकृशित होना चित्त के साथ स्थिर भाव से रहना समाधिपरिणाम कहाता है। पूर्वोक्त परिणाम से इस परिणाम में यही भेद है कि उसमें संस्कार और लक्षण का तिरोभाव और प्रादुर्भाव होता है अर्थात् पहले व्युत्थान रूप संस्कार का तिरोभाव होना है पुनः निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव। और इस समाधिपरिणाम में सर्वार्थता के अत्यन्त निरस्कार से फिर उसका उत्पन्न न होना अर्थात् अतीत मार्ग में प्रविष्ट होना और एकाग्रता रूप धर्म का उद्घव अर्थात् वर्तमान मार्ग में वर्तना सिद्ध है ॥ ११ ॥

शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥ १२ ॥

सू० का प०—(शान्तोदितौ) शान्त और उदित (तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्य) चित्त के समान ज्ञान हैं (एकाग्रतापरिणामः) यह एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

सू० का भा०—शान्त प्रत्यय और उदित प्रत्यय चित्त के समान होता है यही एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

व्या० भा०—समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उच्चरसत् सदृश उदितः समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवाऽसमाधि अपादिति स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

भा०-प०-जिस योगीका चित्त सांबंधान होगया है उसका जो प्रथम ज्ञान है, उसे शान्त प्रत्यय कहते हैं। ऐसे ही उच्चर ज्ञान को उदित प्रत्यय कहते हैं। समाधिस्थ चित्त जब दोनों प्रत्ययोंसे युक्त होता है और समाधिके क्षुटने तक फिर दोसा ही होजाता है उस उक्त धर्म वाले चित्त की जो एकाग्रता है उसे एकाग्रता का परिणाम कहते हैं ॥ १२ ॥

भा० का भा०—चित्त के दो गुण हैं एक शान्तप्रत्यय और दूसरा उदित प्रत्यय । जब मनुष्य इन दोनों गुणों से उद्घर्वगत होता है तब इस के चित्त की एकाग्रता होती है और वही एकाग्रता का परिणाम है ॥ १२ ॥

भो० व०-समाहितस्यैव चित्तस्यैकप्रत्ययो चृतिविशेषः । शान्तोऽ-

लीनमध्यानं प्रविष्टः, अपरस्तु दितो धर्तमानेऽच्छनि स्पुरितः । द्वावपि समाहितचिच्चत्वेन तुल्यावेकरूपालंभनत्वेन सदृशौ प्रत्ययाद्युभय-
प्रापि सगाहितस्यैव चित्तस्यान्वयित्वेनावस्थात्, स एकाग्रतापरिणाम
इत्युच्यते ॥ १२ ॥

चित्तपरिणामोक्तं रूपमन्यवाच्यतिदिशाद—

भ०० द्व० का भा०—सावधा । चित्त को ही एकाग्र घृति होती है, शान्त पूर्व धीते हुवे मार्ग में प्रविष्ट होता है, उद्दित वर्त्तमान मार्ग में लगा हुआ है परन्तु यह दोनों समाधान चित्त को होने हैं इस कारण दोनों समान हैं पर्याप्ति कि इन दोनों का आप्रय पक है इन दोनों में जो चित्तकी स्थिति होती है वह एकाग्रा परिणाम कहाना है १२
चित्त का परिणाम कहकर ऐसा ही रिणाम ओरों में भी होता है । यही अगले सूत्र में कहेंगे—

**एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा
व्याख्याताः ॥ १३ ॥**

सू० का प०—(एतेन) पूर्वसूत्रोक्त उपाय ने
(भूतेन्द्रियेषु) इन्द्रियों में (धर्मलक्षणावस्थापरिणामा
व्याख्याताः) धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और
अवस्थापरिणाम कहे गये हैं ॥ १३ ॥

सू० का भा०—पूर्वोक्त चित्तपरिणाम के फलन से इन्द्रियों के
जो धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम होते हैं
उनका कथन भी समझना चाहिये ॥ १३ ॥

सू० क० भा०—एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्म-
लक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽ
वस्थापरिणामस्त्रोक्ता वेदितव्यः । तत्र व्युथाननिरोधप्रोर्धर्म-
योरभिभवपादुपर्वती धर्मिणि धर्मपरिणामः । लक्षणपरिणा-
मश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्यभिर्बुर्कः । स खलनागत-
लक्षणपरिणामं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानलक्षणं

प्रतिपत्तिः । यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः । एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा । न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः ।

तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभियुर्कं वर्तमानलक्षणं हित्वा धर्मवर्तमनुत्तिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिप्रब्रम् । एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा । न चानागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः । एवं पुनर्बुर्त्थानसुपसंपद्यमानमनागतलक्षणं हित्वा धर्मवर्तमनुत्तिक्रान्तं वर्तमानलक्षणं प्रतिपत्तम् । यत्रास्य स्वरूपाभिव्यक्तौ सत्यां व्यापारः । एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तमित्येवं पुनर्निरोध एवं पुनर्बुर्त्थानमिति ।

तथाऽवस्थापरिणामः । तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा वलन्तर्तो भवन्ति दुर्विला व्युत्थानसंस्कारा इत्येष धर्मणामवस्थापरिणामः । तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्मणां व्युध्वनीलक्षणैः परिणामो लक्षणानामप्यवस्थाभिः परिणाम इति एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते चलन्त गुणवृत्तम् । गुणास्वामान्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति । एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात् त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः ।

परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति । तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्वतीतानागतवर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न तु द्रव्यान्यथात्वम् । यथा सुवर्णभाजनस्य भित्थान्यथाक्रियमाखस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति । अपर आह-धर्मानभ्यधिको धर्मो पूर्वतच्चानुत्तिक्रमात् । पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतिः कौटस्थयेनैव परिवर्त्तेत, यद्यन्वयी स्यादिस्यमदोषः । कस्मात् १ एकान्ततानभ्युपगमात् तं दतत्त्रैङ्गो-

वयं ध्यक्तेरपैति नित्यत्वं प्रतिषेधात् अपेतमध्यस्ति विनाशपनिपे-
धात् । संसर्गच्चास्य मौद्यम्, सौद्यम्याच्चानुपलव्धिरिति ।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षण-
युक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः । तथा ऽनागतो-
ऽनागतलक्षणयुक्तो वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त-
स्तथा वर्तमानो वर्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणा-
भ्यामवियुक्त इति । यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषाद्यु
त्रिरक्तो भवतीति । अब लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षण-
योगादध्वसंकरः प्राप्नोति परैर्दोषपश्चोदयत इति । तस्य परिहार
धर्माणां धर्मत्वमसाध्यम् । सति च धर्मत्वे लक्षणे भेदोऽपि वाच्यो
न वर्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम् एवं हि न चिज्ञं राग-
धर्मकं स्यात् क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति ।

किञ्च त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्या व्यक्तौ नाहित
सम्भवः । क्रमेण तु स्वव्यञ्जकां जनस्य भावो भवेदेति । उक्त-
च रूपातिशया बृत्यतिशयाश्च विकृच्यन्ते, सामान्यानि त्वति-
श्यैः सह भवत्ते । तस्मादसङ्कुरः । यथा रागस्यैव क्वचित्स
मुदाचार इति न तदानीमन्यगावः, किंतु केवलं सामान्येन
समध्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः । तथा लक्षणस्येति ।
ज धर्मी ऋष्यध्वा धर्मात्मु ऋष्यध्वान्तस्ते- लक्षिता अलक्षिताश्च
तां तामवस्थो प्राप्नुवंतोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्य तेऽवस्थान्तरनो न
द्रव्यान्तरतः । यथैका रेखा शतरथाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकं-
स्थाने ॥ यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चाच्यते दुहिता च
स्वसा चेति ॥

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसंगदोषः कैश्चिदुक्तः ॥ कथम्
अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात् ॥ यदा धर्मः स्वव्यापारं न

करोति तदानागतो युदा करोति तदा वर्तमानो यदा कृत्वा
हिन्दृत्तस्तदादीत् इत्येवं धर्मधर्मिणोलक्षणानामवस्थार्ना
च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परदैर्देवं उच्यते । नासौ दोषः ।
कस्मात् ? गुणी नित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचिच्छात् ॥ यथा
संस्थानमादिपर्वपात्रं शब्दादीनां गुणानां विनाशयविनाशि-
नामेवं लिंगमादिपर्वपात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्य विना-
शिनां तस्मिन् विकारसंबोधेति ॥

तत्रद्युदाहरणं मूळर्थी पिंडाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरायुपसम्पद्य-
मानो धर्मर्थतः परिणामते घटाकार इति ॥ घटाकारोऽनागतं
लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणा-
मते । घटो नवपुराणातां प्रतिक्षणमनुभवन्ववस्थापरिणाम
प्रतिपद्यत इति । धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था धर्मस्थापि
लक्षणान्तरमवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति ।
एवं पदार्थान्तरेऽवपि योज्यमिति । त एते धर्मलक्षणा-
वस्थापरिणामा धर्मिण्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणाममः
सर्वान्मूलनिवृशेषानभिप्लवते । अथ कोऽयं परिणामः ? अवस्थि-
तस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरेऽत्पत्तिः परिणाम
इति ॥ १३ ॥ तत्र—

भाषा का प०—पूर्व कहे हुए चित्त के परिणाम से धर्म; लक्षण
और अवस्था रूप से भूतेन्द्रिय अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियों में धर्म एवं
ग्याम लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम समझने योग्य हैं । इन
तीनों में से धर्मपरिणाम उसे कहते हैं जिस में धर्मी अर्थात्
इन्द्रियों में व्युत्थान अर्थात् चक्रवलता और निरोध अर्थात् स्थिरता
रूप दो धर्मों का तिरोताव और प्रादुर्भाव होता है और लक्षण
परिणाम; वह है जिसमें इन्द्रियनिरोध तीन मर्गों से युक्त होता है
वह निरोध प्रथम अन्य तीन लक्षणवाले मार्ग को परित्याग कर
गुणात्मको अहण किये हुए वर्तमानलक्षण वो प्राप्त होता है जिस में

अपने रूप का प्रकाश होना है यह चित्त का दूसरा मार्ग है जो कि अनीत और अनागत (भूत और भविष्य) के लक्षणों से गिन नहीं है ।

ऐसे ही व्युत्थान भी विलक्षण अर्थात् तीन मार्गों से युक्त है । वर्तमान लक्षण पो त्याग कर धर्मभाव को ग्रहण किये हुए अतीत अर्थात् भूत लक्षण को प्राप्त हुआ । यह चित्त का तीसरा मार्ग है । भविष्य और वर्तमानके लक्षणों से युक्त नहीं है इस ही प्रकार से फिर चञ्चल हुआ चित्त भविष्य लक्षण को परित्याग करके धर्म भाव को ग्रहण किये हुए वर्तमान लक्षणको प्राप्त होकर जिस लक्षण में चित्त के स्थकरण का प्रकाश होने से व्यवहन होता है वह चित्त का दूसरा मार्ग है । जो भूत और भविष्यके लक्षणों से परित्यक्त नहीं होता है । इस रोति से चित्त की फिर प्रकाशना घा निरध होता है (पुनः व्युत्थानगिति) और फिर चञ्चलता होती है ।

इस ही रीतिसे अवस्था परिणाम है । अवस्था परिणाममें जिस समयमें चित्तका विरोध होता है तब निरोधके संस्कार चलतान होते हैं । चञ्चलता के संस्कार घलदीन होजाते हैं इस रीति से चित्त के धर्मों का अवस्था परिणाम है, उस में धर्मी अर्थात् चित्त का हन धर्मों से परिणाम उक्त तीन मार्ग के आश्रय धाले धर्म का लक्षणों से परिणाम और लक्षणों का अवस्थाओं से परिणाम अर्थात् अवस्थान्तर होता है । इस रोति से धर्म, लक्षण और अवस्थाकृत परिणामों से रहित लक्षणमात्र भी चित्त नहीं रहना क्योंकि गुण की कृतियाँ स्थिर नहीं रहतीं गुणों का ही भाव ही चित्त की प्रवृत्ति में कारण कदा है अनेक इन्द्रियों में धर्म और धर्मों के भेद से तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिये ।

परमार्थ में तो एक ही परिणाम है, क्योंकि धर्मों का स्वरूप मात्र ही धर्म है । धर्मी का विकार ही धर्म द्वारा कहा जाता अर्थात् धर्मी के विकार को ही धर्म रूपसे कहते हैं धर्मस्य वर्तमान-स्येवाध्यसु) धर्मी में वर्तमान जो धर्म है वही भूत, भविष्य और वर्तमान कालोंमें अनश्वावको प्राप्त होता है न कि धर्मी द्रव्य अर्थात् गुणी में कुछ वैपरीत्य नहीं होता । जैसे सुधरणे के पात्र को तोड़ कर दूसरी

रीति का बनाने से केवल उसके भावंको विकार होता है, न कि सुन्दरण रूप द्रव्य को।

कोई कहते हैं, धर्म ही पदार्थ है, क्योंकि उसी से धर्मी की अर्थि व्यक्ति होती है। यदि धर्मों में मिलावट हो तो वे पूर्वापर अवस्था के भेद को प्राप्त होकर बदल जाय?

यह दोष नहीं है पकान्तता के न होने से। यदि चिच्छकि के समान द्रव्य की भी नित्यता मानी जाए तो ये तीनों लोक व्यक्ति से रहित हो जाय क्योंकि व्यक्ति में नित्यत्व नहीं है। जब व्यक्ति ही न रही तो फिर विनाश किसका? इस दशा में यह जगत् कारण में लीन होने से सदा सूदम और सूदम होने से अग्राह हो जाय। इसलिए धर्मी चिच्छकि के समान कूटस्थ नित्य नहीं है, किन्तु प्रवाह से नित्य परिणामी है।

लक्षणपरिणाम धर्म तीनों कालों में रहता है भूनलङ्घण युक्त भविष्य और वर्तमान के लक्षणों से विशुक्त नहीं होता, भविष्य लक्षण युक्त वर्तमान और भूत के लक्षणों से विशुक्त नहीं होता। ऐसे हो वर्तमान लक्षणयुक्त भूत और माविष्य के लक्षणों से युक्त होता है। जैसे कोई पुरुष एक खी में रक्त होकर औरों से विरक्त नहीं होता।

इस लक्षण परिणाम में सबमें सब लक्षणों का योग होने से तीनों मांगों में संकरता प्राप्त होती है।

दूसरे लोग दोषका उद्धारण करते हैं उसका उत्तर यह है धर्मोंको धर्म होना असाध्य है यदि धर्म का धर्म हो तो लक्षण का भेद कहना भी योग्य है वर्तमान काल में धर्मत्व नहीं होता इस रीति से चित्त रागधर्मचाला चिद नहीं होगा ज्योंकि कोष के समय में राग समुदाय का आविमाच जहीं होता तीनों लक्षणों का एक समय में एक ही व्यक्ति में होना असम्भव है। कम से तो ये एक दूसरे के व्यंजक हो सकते हैं अन्यत भी लिखा है रूपातिशय और वृत्तिको अधिकता ये परहेपर विहृद्ध हो संकेते हैं और सामान्यनः अतिशयों से भिजकर रहते भी हैं इससे कहीं मांगेसंकर नहीं है जैसे राग हीं को अधिकतर होता है किन्तु उस राग का दूसरे स्थल में अभाव नहीं केवल सामान्य रूप से दूसरे स्थल में वह है इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय में भी राग की उस स्थल में संचाहा है ऐसे ही लक्षण की भी ज्ञाता है।

धर्मी तीन मार्गका नहीं है, किन्तु धर्मके ही तीन मार्ग हैं । वे लक्षित और अलक्षित तीन अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं और वही धर्म भिन्न नामों से कहे जाते हैं । किन्तु भिज २ अवस्थाओंसे, द्रव्यान्तरसे नहीं । जैसे एक ही रेता शब्द के स्थान में शत, दश के स्थान में दश और एक के स्थान में एक ही होती है । जैसे एक ही स्वी माता पुत्री भगिनी कहती है । अवस्थाके परिणाममें फूटस्थिता दोप आवेग, यह कोई कहते हैं । मार्ग के व्यवहार से निरुद्ध होने से दोप कैसे होगा जब धर्म अपना कार्य नहीं करता तब वह अनागत है जब अपने कार्य पासे करता है तब चर्तमान है जब अपने कार्य पासे करके नियुन हो जाता है तब उसे अतीत कहते हैं । इस रीति से धर्म और धर्मी के लक्षण धीर अवस्थाओं को कूटस्थिता प्राप्त होती है अन्प लोग दोप देते हैं । यह दोप नहीं ब्राह्मकता । गुणोंके रहते भी गुणोंके विमर्दन अश्रीत् प्रादुर्गांव और तिरोभाव की विचित्रता से ऊंचे संस्थान अर्थात् अपने स्वरूप से स्थिति, विनाशी और अविनाशी शब्दादि गुणों का प्रहिला धर्म है, परसे ही लिङ्ग अर्थात् लक्षण विनाशी और अविनाशी सत्यादि गुणोंका पहला धर्म है उसमें ही विकार संघात है ।

उसमें यह उदादरण है-मिट्टी पिण्ड के आफार से दूसरे घटादि धर्म को प्राप्त होकर भिट्ठी धर्म से ही घटाकार में परिणत होती है । उसका घटाकार भविष्य लक्षण को त्याग कर चर्तमान लक्षण को ग्रात होता है । यह लक्षण का परिणाम प्रतिक्षण में नवीनता और ग्रावीनता को प्राप्त होता हुआ घड़ा अवस्थाकृत परिणाम को प्राप्त होता है । इसी रीति से धर्मी को भी धर्मान्तर अवस्था धर्म को भी लक्षणान्तर अवस्था है । किन्तु द्रव्य परिणाम एक ही है जो भेद से दिखलाया गया है । इस ही क्रम से अन्य पदार्थों में भी युक्त करना चाहय है । ये धर्म, लक्षण और अवस्था को परिणाम धर्म के स्वरूप को अनुकरण नहीं करते, इसलिये एक ही परिणाम इन सभ विशेषों में प्रवाहित होता है । यह परिणाम क्या है ? उपस्थित द्रव्य का पूर्णधर्म को त्यागकर अन्य धर्मको श्रद्धण करना ही परिणाम है ॥१३॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में जो विच परिणाम का धरण निया था उस से हमिद्र्यों में लक्षणपरिणाम, धर्म परिणाम, और अवस्था-परिणाम समझने चाहय हैं । उनमें से जिसमें विच का उत्थान और:

निरोधं धर्मों का प्राणुभाव और तिरोभाव होता है उसे धर्मपरिणाम कहते हैं। लक्षणपरिणाम तीन मार्ग युक्त होता है अर्थात् भूतलक्षण परिणाम, भविष्यलक्षणपरिणाम और वर्तमानलक्षणपरिणाम। भूतलक्षण परिणाम वह है कि जिसमें अनागत लक्षण को परित्यान करके केवल अतीत लक्षण का अनुसरण करता है। किन्तु अतीत लक्षण परिणाम अन्यपरिणामों से नितान्त भिन्न नहीं है, क्योंकि वर्तमानलक्षणपरिणाम, तथा अनागतलक्षणपरिणाम का अंश भी उसमें रहता है, इसी रीति से वर्तमानलक्षणपरिणाम और अनागतलक्षण परिणाम को भी समझना। इनका अभिप्राय यह है कि जब योगी का चित्त समाधि द्वा निरोध दशा को प्राप्त होजाता है तब यदि फिर चञ्चलता को धारण कर ले तो उसकी कैसी दशा होगी? जो तीन प्रकारके परिणाम होते हैं उनमें से एक लक्षणपरिणाम भूत; भविष्य और वर्तमान लक्षणमेद से रीति प्रकार का है। वर्तमानपरिणाम का अभिप्राय यह है कि जिस दशा में योगीका चित्त परिणत हो उसही दशा में रहेगा, किन्तु अन्य दोनों परिणामों का धर्म भी उसके चित्त में बना रहेगा और लघूपाय से ही पुनः चित्त स्थिर हो जायगा। यदि फिर चित्त-चञ्चलता को धारण करेगा तो अतीत लक्षणपरिणाम को प्राप्त होगा, यद्या पुनरुत्थान में अनागतलक्षणपरिणाम को धारण करेगा। यद्या योगाभ्यास से जब उन्नत परिणाम को प्राप्त होगा तो प्रथम अतीतलक्षणपरिणाम को धारण करता है, अर्थात् पूर्व के कुसंस्कार नष्ट होजाते हैं। द्वितीय वर्तमान परिणाम है और इसके अनन्तर अनागतलक्षण परिणाम होता है। ऐसे ही धर्मपरिणाम तीन मार्गयुक्त होता है इसमें धर्मी अर्थात् चित्त व्युत्थान धर्मी को त्याग कर निरोध धर्मी को धारण करता है। इसके अनन्तर अवस्थापरिणाम है इसमें जिस क्षण में निरोध संस्कारों का उदय होता है उसमें व्युत्थान संस्कारों का बल क्षीण हो जाता है इस रीति से धर्मी में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम होते हैं किन्तु इन तीनों परिणामों से शून्य चित्त नहीं होता क्योंकि शुण्ठि स्थायी नहीं रहते किन्तु यथार्थ में परिणाम एक ही है क्योंकि धर्म और धर्मीके मेद से यह सब प्रपञ्च होता है अर्थात् धर्म ही जपान्तर को प्राप्त होता है जैसे सुवर्ण पात्र को तोड़ कर यदि कोई

अन्य अलंकार बनाया जाय तो उस परिणाम से फेवल पाव्र का रूपान्तर होगा किन्तु सुवर्ण का रूपान्तर नहीं होगा । अब इसमें शंका होती है कि एकही व्यक्ति में भूत, भविष्य और चर्तमान लक्षणों का दोनों असम्भव है । यदि सम्भव भी होतो अच्छसंकरता दोष आवेगा ?

इसका उत्तर यह है कि एक काल में सब परिणाम नहीं होते किन्तु यथाकाम होने में कोई दोष नहीं है जैसे किसी व्यक्ति में राग होता है तो उस से यह नहीं कहसकते हैं । कि इस मनुष्य में कोध नहीं है किन्तु राग और क्रोध एक सभय में तहीं होते । जैसे एक मनुष्य किसी खी में अनुरक्त होता है तो वह अन्य लियों में विरक्त नहीं होता किन्तु उस समय उस खी में लाभवृत्ति फहाजायगा, इससे उक्त परिणामों में संकरदोष नहीं आता । इस सब कथन का अभिप्राय यह है कि परिणाम फेवल गुणों में होता है, किन्तु गुणों में नहीं । परिणाम का अर्थ है कि पूर्वगुण को परित्याग कर दूसरे गुण को धारण करना ॥ १३ ॥

भो० दू०—एतेन त्रिविधेनोक्तेन चित्तपरिणामेन भूतेषु स्थूल-सूक्ष्मेषु इन्द्रियेषु द्युदिक्षमान्तःकरणमेदेनावस्थितेषु धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधः परिणामो व्यालयातोऽवगत्वत्वयः । अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मेनिवृत्ती धर्मान्तरोत्पत्तिः धर्मपरिणामः । यथा—मृक्षणस्य धर्मिणः पिण्डरूपधर्मेपरित्यागेन घटस्तुपधर्मान्तरस्वीकारो धर्मपरिणामं इत्युच्यते । लक्षणपरिणामो यथा—तस्यैव घटस्यानागताद्वपरित्यागेन वर्तमानाद्वस्थीकारः । तत्परित्यागेन चातीताद्वपरिग्रहः । अवस्थापरिणामो यथा—तस्यैव घटस्य प्रथमद्वितीययोः सदशयोः कालंलक्षणयोरन्वयित्वेन । यतश्च गुणवृत्तिर्विनापरिणाममाना लक्षणमप्यस्ति ॥ १३ ॥

ननु कोऽयं धर्मीत्याशंक धर्मिणो लक्षणमाद्य—

भो०दू० का भा०—चित्त सम्बन्धी तीन परिणामोंके कहनेसे स्थूल भूत और सूक्ष्मभूत, प्रानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरणमें धर्म, लक्षण और अवस्थाभेदसे तीनप्रकार के प्ररिणाम सिद्ध हुए सामझने चाहियें । धर्मपरिणाम उसे कहते हैं जिसमें धर्मी तो यथास्थित रहे किन्तु पूर्व धर्म निवृत्त शोकर उसमें दूसरे धर्म की उत्पत्ति होजाय । जैसे मृत्तिका धर्मी है उसमें पिण्डरूप धर्म के निवृत्त होने से घट

रूप धर्मान्तर की उत्पत्ति होजाती है इसको ही धर्मपरिणाम कहते हैं। लक्षणपरिणाम का अर्थ यह है कि वही वडा ज्ञान अनागत अर्थात् भविष्य भार्ग को परित्याग करके वर्तमान भार्ग के ग्रहण करने को उद्यत होता है, उसे लक्षणपरिणाम कहते हैं इनके परित्याग से जो पुनः अपने पूर्वभार्ग (कृप) को ग्रहण करना है उसे अवस्थापरिणाम कहते हैं ॥ १३ ॥

अगले सूत्र में धर्मों के लक्षण कहते हैं—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

सू० का पदा०—(शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी) शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्म से युक्त धर्मी होता है ॥ १४ ॥

सूत्र का भा०—शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मों का धर्म अनुसरण करता है ॥ १४ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—योग्यतावच्छन्नाधर्मिणः शक्तिरेव धर्मः । स च फलप्रसर्वभेदानुप्रितसद्भावः । एकस्यान्योन्यश्च परिवृष्टः । तत्र वर्तमानः स्वच्यापारमनुभवधर्मी धर्मान्तरेभ्यः शान्ते भ्यश्चाव्यपदेश्ये भ्यश्च भिद्यते यदा तु साप्रान्तेन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात् कोऽसौ केन भिद्येत ।

तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः सच्यापारा उदितास्ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तरा वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः पूर्वपश्चिमतायाश्चभावात् । यथानागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता नैवमतीतस्य । तस्माननातीतस्यास्ति समनन्तराः तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्थेति ।

अथाव्यपदेश्याः के ? सर्वे सर्वात्मकमिति । यत्रोक्तम्—

जलभूमोः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूपं स्थावरेषु दृष्टम् ।
तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जंगमानां स्थावरेत्वित्येवं जात्यनुच्छेदे-
देन सर्वं सर्वात्मसमिनि ।

देशकालाकारनिपित्तापवन्वान्नं खलु सपानकालं
मात्पनामधिवृत्यस्तिरिति । य एतेष्वभिव्यक्तानभिवृत्यक्तेषु
धर्मेष्वनुपातीं सामान्यविशेषात्पा सोऽन्वयीं प्रमर्मी । यस्य
तु धर्मपात्रपूर्वेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः । कस्मात् ?
अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यतर्क्यं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत् ।
तत्समृत्यभावश्च नान्यदृष्टस्य स्परणमन्यस्यास्तीति । चस्तु मत्य-
भिज्ञानाच्च द्वितोऽन्यी धर्मी यो धर्मान्यथात्त्रप्रभुपापतः
प्रत्यभिज्ञायते । तस्माच्चेदं धर्मपात्रं निरन्वयमिति ॥१४॥

शा० पा०—धर्मी की शोभ्यता के अनुसार जो शक्ति है उसही
को धर्म कहते हैं और उस धर्म की सत्ता भिन्न २ फलों की उत्पत्ति से
अनुभाव की जाती है एक धर्म का सद्व्याप्त दूसरों में दीखता है उनमें
से वर्तमान धर्म अपने व्यापार का अनुभव करता हुआ अन्य शान्त
और अव्यपदेश्य धर्मों से भिन्न होजाता है और जब सामान्य भाव
को प्राप्त होता है तब धर्मी स्वरूपमात्र होनेसे कौन और किससे
भिन्न हो ?

उनमें जो धर्मीके धर्म शान्त, उद्दितं और अव्यपदेश्य हैं इन तीनों
धर्मों में से शान्त वे धर्म बहुत हैं जो व्यापारों को करके निवृत्त हो
गये हों और जो व्यापार से युक्त हैं वे उद्दित कहाते हैं वे अनागत-
लक्षणपरिणाम के समीपवर्ती होते हैं और वर्तमान के सहचर
अतीत होते हैं । भूत के अनन्तर धर्तमान क्यों नहीं होते ? पुर्वना
और पञ्चिमता के अभाव से जैसे अनागत और धर्तमान की पूर्व-
पञ्चिमता है वैसे अतीत की नहीं (तस्माज्ञानीतस्यास्ति समनन्तरः)
इसलिये अतीत की अनन्तरता नहीं है इससे अनागत ही धर्तमान
को समनन्तर कहाता है ।

अव्यपदेश्य कितने और कौन हैं ? सब सबके अन्तर्गत होते हैं जिस

में यह कहाजाता है जंल और भूमि के परिणाम से उत्पन्न हुए रस आदि का विषम रूप स्थावरों में देखा गया है। पेसे ही स्थावरों का जंगमों में और जंगमों का स्थावरों में। इच दीति से जाति के अनुच्छेद से सवका परस्पर सम्बन्ध है। देश, काल और निमित्त के बन्धन से एक समय में प्रकाशित नहीं होते। इन अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष धर्मों में जो अनुपत्तन करता है वह सामान्य और विशेष रूप से धर्मों कहाता है जिसका धर्म ही सम्बन्धरहित है। उसको भोग का अभाव है। क्योंकि दूसरे के हान से किये हुए कर्मों का अन्य कर्मों को होसकता है क्योंकि उसमें उसकी सृति का अभाव है। अन्य के देखे हुए का दूसरे को समरण नहीं होसकता। पदार्थों की प्रत्यभिका से धर्मों सिद्ध होता है जो धर्मों के परिणाम को प्राप्त होता भान होता है। इस कारण से धर्मोंमात्र अन्वयंतरहित नहीं है॥ १४॥

भा० का भा०—वे धर्मों और धर्मों भिन्न २ फल की उत्पत्ति से जाने जाते हैं और सब धर्म अन्योन्याश्रय होते हैं जैसे वर्तमान धर्म अपने कार्यों को करता हुआ अव्यपदेश्य और शान्त धर्मों से परिवर्तित हो जाता है। जब वर्तमान धर्म सामान्यरूप से रहता है तब उसमें धर्मों अर्थात् आत्मा अपने यथास्थित रूप में रहता है। अब यहां पर प्रश्न होता है कि जो परिवर्तित होता है उसका लक्षण क्या है? और किनसे वह परिवर्तित होता है। इसका उत्तर यह है कि शान्त धर्म वे कहाते हैं जो अपने कार्यों को करके निवृत्त हो गये हैं और जिनका कार्य समाप्त न हुआ हो वे उद्दित कहाते हैं ऐसे अव्यपदेश्य व्यापाररहित होते हैं अर्थात् इनके व्यापार में कंभी परिवर्तन नहीं होता। उद्दित धर्म अनागत के समीपवर्ती होते हैं क्योंकि वे अधिष्ठयमात्री होते हैं और वर्तमानके समन्वतर अर्थात् अवश्यमात्री भूतधर्म होते हैं किन्तु अतीत के समन्वतर वर्तमान नहीं होते क्योंकि उन में अवश्यमाविता (अर्थात् ज़रूर ही यह होगे) नहीं होती। प्रश्न—अव्यपदेश्य कौन से धर्म हैं? उ०—जो धर्म सब चराचर में पाये जाते हैं वे अव्यपदेश्य हैं जैसे जल और पृथिवीके परिणामिक रूपादि गुण सब स्थावर और जंगम में होते हैं और इन धर्मों में जो वर्तमान है वही सर्वान्वयी धर्म आत्मा है अन्यथा अतीत धर्मों का समरण करना असम्भव होगा। क्योंकि जिसने अपने ज्ञान से क्रम

किया था धर्म जब कोई न होगा तब अन्य के कर्म का आश्रय एक धर्मी अवश्य ही मानना योग्य है इस में यह भी सिरु हुआ कि पोई धर्मी सम्बन्ध उद्दित नहीं है ॥ १४ ॥

१४ सू०—इसका तात्पर्य यह है कि शान्त अर्थात् जिनका कार्य समाप्त होगया पेसे पीछे थीते हुए धर्मी उद्दित अर्थात् जो इस समय घत्तमान हैं, अव्यपदेश्य अर्थात् जो शक्तिरूप से स्थित हैं इन तीनों प्रकार के धर्मों का जो धर्मी है उसे शान्तोदितान्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी कहते हैं ॥ १४ ॥

गो० चू०—शान्ता ये कुतस्वस्वव्यापारा अतीतेऽच्यनि अनुप्रविष्टा: उदिता यैऽनागतमध्यात्मं परित्यज्य वर्त्तमानेऽच्यनि स्वव्यापारां कुर्वेति । शब्दपदेश्या ये शक्तिरूपेण स्थिता व्यपदेष्टुँ न शक्यन्ते तेषां यथा स्वं सर्वात्मकमित्येवमादयो नियतकार्यकारणरूपयोन्यतया वच्छुन्ना शक्तिरेवेद् धर्मशब्देनाभिधीयते । त त्रिविधमपि धर्मं योऽनुपतात् अनुवर्त्तते इन्धियित्वे स्वीकरोति स शान्तोदितान्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मीत्युच्यते । यथा सुवर्णं हत्यकरुपधर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरुपधर्मान्तरपरिहे सुवर्णरूपतया परिवर्त्तमानं तेषु धर्मेषु कथंश्चिह्निन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना विथतमन्वयित्वेनाधभासते ॥ १४ ॥

एकस्य धर्मिणः फथमनेके धर्मी हत्याशेषामपनेतुमाद्—

गो० चू० का भा०—शान्त उनको कहते हैं, जो अपने अपने कार्य को करके अतीत अर्थात् भूतमार्ग में प्रविष्ट हो जुके हैं न वे धर्त्तमान काल में कुछ करते हैं और न भविष्य में उन को कुछ कर्त्तव्य है । उद्दित उनको कहते हैं भविष्य मार्ग में अभी प्रविष्ट नहीं हुए और धर्त्तमान मार्ग में लापने व्यापार को कर रहे हैं । अव्यपदेश्य वे हैं जो शक्तिरूप से स्थित हैं जो व्यापार करने के योग्य, नहीं हैं जैसे रक्खा हुआ धन होता है नियमित कार्यरूप से संयुक्त शक्ति ही धर्म कहाती है । इन तीनों धर्मों को जो प्रह्लण करे उसे शान्तोदितान्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी कहते हैं । जैसे सुवर्णं डले के आकार को परित्याग करके अलंकार के रूप को धारण करके सामान्य और विशेष रूप से भी लोना ही प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

एक ही धर्मी अनेक धर्मी का आधार धर्योकर हो सकता है इस शंका का उत्तर अगले सूत्र में दिया है ।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

सू० का. पदा०—(क्रमान्यत्वम्) क्रम का परिवर्त्तन (परिणामान्यत्वे हेतुः) परिणाम के परिवर्त्तन में कारण है ॥ १५ ॥

सू० का. भा०—उक्त परिणामों का हेतु क्रम का परिणाम है ॥ १५ ॥

व्या० कू० भाष्य—एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्तोः क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति । तथा—चूर्णमृतिपिंडमृद्धयृत्कपालमृत्कणमृदिति च क्रमः । यो यस्य धर्मस्य समनन्तरे धर्मः स तस्य क्रमः पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः । लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वच्चमानभावः क्रमः । तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावः क्रमः । नातीतस्यास्ति क्रमः । कस्मात् ? पूर्वपरतार्थां सत्यां समनन्तरत्वं तु नास्त्यतोत्स्य । तस्मात् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः । तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणना दृश्यते । सा च ज्ञाणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिच्छयज्यपाना पर्यन्तक्षिप्तापद्यत इति धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽपि त्रिनीयपरिणामं इति । त. एते क्रमा धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलिप्तस्वरूपाः । धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयोऽपि । अदा तु प्रसमार्थतो धर्मिएयभेदोपचारद्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदाथमेकत्वनैव क्रमः प्रत्यवभांसंते । चित्तस्य ये धर्मोः परिवृष्टाश्च परिहृष्टाश्च । तत्र प्रत्ययात्वकाः परिवृष्टाः वस्तुपानात्मका आपरिहृष्टाः । ते च ससैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसञ्जानाः ।

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽपि जीवनम् ।

चेष्टा शक्तिर्व चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥ १५ ॥

अदो योगिन उपाचार्सर्वसाधनस्य बुधुतिसत्तार्थप्रतिपञ्जये
संयमसुव्य विषय उपचित्प्रते ॥ ३५ ॥

आ० का. ८०—एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है ऐसी
शब्दों का होने पर कहते हैं कि कर्मों का अदल बदल परिणामों के अदल
अदल का कारण है क्रमान्यत्व का अर्थ कहते हैं जैसे मट्टी का पिण्डां,
मट्टी का घड़ा, मट्टी का कपाल अर्थात् कढ़ल, मट्टी का कंण और
मट्टी यह क्रम कहतां हैं जो धर्म जिस के पश्चात् व्यवधान रहित
होता है वह उसका क्रम है ।

पिण्ड नष्ट होता है और घट उत्पन्न होता है यह धर्मपरिणाम
का क्रम है । लक्षणपरिणाम का क्रम यह है—घट के अनागत भाव
से धर्तमानभाव का क्रम तथा पिण्ड के धर्तमानभाव से अतीत
भाव का क्रम, अतीत भाव का क्रम नहीं है । क्योंकि पूर्वता श्रीर
परना के होने से अनन्तरत्व धर्म होता है । सो अतीत की पूर्वता
और परता नहीं है । इसलिए वो ही लक्षणों का क्रम है । प्रेस ही
अवस्थापरिणाम क्रम भी नवीन घट के किसी प्रान्त में पुराणता
देख कर अनुमान किया जाता है, वह पुराणा इतिहासिक क्रम से प्रकट
होती हुई व्यक्तित्व को प्राप्त होती है । धर्मपरिणाम और लक्षणपरि-
णाम से मिल यह तीसरा परिणाम है ।

ये क्रम धर्म और धर्मी का सेव होनेपर अवभासित होते हैं ।
भूत्य धर्मों को अपेक्षा से धर्म भी कहीं पर धर्मी होजाता है । जब
परमार्थ से धर्मी, सेव का उपचार नहीं होता, तभी वह धर्म कहलाता
है, तब यह पक ही क्रम मालूम पड़ता है ।

चित्त के द्वारा धर्म है १-परिषद्ध और २-अपरिषद्ध । उनमें जो
शान्तरूप होते हैं, वे परिषद्ध धर्म हैं और जो धर्म वस्तु साक्षी ही हैं वे
अपरिषद्ध धर्म कहाते हैं । वे अपरिषद्ध धर्म सात प्रकार के होते हैं
जो अनुमान से प्राप्त हुई वस्तु के सद्व्याव से जाने जाते हैं । तिरोथ,
धर्म, संकार, परिणाम, जीवन, वैद्या, शक्ति, ये सात शान्तरहित
चित्त के धर्म हैं ॥ ३५ ॥

इस हेतु से जिस योगी को योग के साधन प्राप्त होगये हैं उसकी

साधन भोगने को इच्छा को सिद्ध करने के वास्ते संयम का विषय कहते हैं—

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में यह शंका चतुर्पद होती है कि एक धर्मी का प्रक ही परिणाम होता है ? अथवा सब परिणाम एक ही काल में होते हैं ? इस सूत्र में उसका समाधान करते हैं कि क्रम का अदल घट्ट अदल परिणामों के परिवर्तन का होतु है । जैसं प्रथम मिट्ठी का चूर्ण होता है, उससे पिण्ड बनता है, पिण्ड से घड़ा फूट कर फिर कपाल होता है, कपाल से कणके और कणकों से फिर मिट्ठी होती है । जो जिसका नियंतपूर्ववर्ती होता है वह पूर्ववर्ती उत्तरवर्ती का क्रम कहाता है । जैसे मिट्ठी के पिण्ड अर्थात् लूँदा विगड़ता है तब घड़ा घनता है । यह धर्मपरिणामक्रम और लक्षणपरिणामक्रम है । घड़े का अनागतभाव से वर्तमानभाव क्रम कहाता है और वर्तमानभाव से अतीतभाव क्रम कहा जाता है । किन्तु अतीतभाव का कोई भी क्रम नहीं है, क्योंकि क्रम को पूर्ववर्तिना अपेक्षित है इस से अनागत और वर्तमान का ही क्रम हो सकता है । ऐसे ही अवस्थापरिणाम समझना योग्य है अर्थात् घड़े में जो नयापन और पुरानापन होता है वह ज्ञाण मुहूर्चादि की परमारा के क्रम से होता है यह जितने परिणाम हैं वे सब धर्म और धर्मी के भेद में ही ही ही सकते हैं, परन्तु अन्य धर्म का प्रतिधर्म 'भी' धर्म हो सकता है । वस्तुतः तो परिणाम एक ही है चित्त के दो धर्म हैं—एक परिवृष्ट और हूसरा अपरिवृष्ट । परिवृष्ट वह है जो केवल ज्ञानात्मक है और अपरिवृष्ट वस्तुमात्र ज्ञानशून्य है । वे अपरिवृष्ट सात प्रकार के हैं—निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति ये ज्ञानरहित चित्त के धर्म हैं ॥ १५ ॥

अब जिस योगी को भोग के साधन प्राप्त हुए हैं उसको योग के सब साधन प्राप्ति की इच्छा से विषयों के त्याग का वर्णन करते हैं—

१५—सूत्र—इसका नाम क्रमधार है, उक्त धर्म जो घट्ट जाते हैं उसका कारण क्या है ? इस प्रक्ष का उत्तर भगवान् सूत्रकार ने इस में दिया है कि उक्त परिणाम के अदल घट्ट का होतु क्रमका परिणाम है अर्थात् जैसे मिट्ठी का परिणाम मृत्तिपृष्ठ मृत्तिपृष्ठका परिणाम कपाल तथा कपालघ पका परिणाम घड़ा होता है अर्थात् घड़ा मिट्ठी का साक्षात् परिणाम नहीं है किन्तु ऊपर लिखा क्रम परिणाम ही घड़े क्रम

महापरिणाम का हेतु है । ऐसे ही प्रथम सूत्र में कहे अतीतादि परिणाम को हेतु क्रमपरिणाम है, जगत् के जितने भाव हैं वे सब क्रम से बदलते रहते हैं । चित्त के सुख, दुखादि जितने धर्म हैं वे भी इस ही क्रम से बदलते रहते हैं ॥ १५ ॥

भौ० व०—धर्मणामुक्तलक्षणानां यः कमस्तस्य यत् प्रतिक्षणः
मन्यत्वं परिदृश्यमानं तत् परिणामस्योक्तलक्षणस्यान्यत्वे नानाविधत्वे
हेतुलिङ्गं लापकं भवति । अयमर्थः । योऽयं नियतः क्रमो मृच्छार्णन्मृ-
तिप्रिण्डस्ततः कपालानि तेभ्यश्च घट इत्येवं क्रमरूपः परिदृश्यमानः
परिणामस्यान्यत्वमावेदयति । तस्मिन्नेव धर्मिणि यो लक्षणपरिणाम-
मस्यावस्थापरिणामस्य च क्रमः सोऽपि अनेनैव न्यायेन परिणामान्य-
त्वे गमकोऽवगान्तव्यः । सर्वः एव भावा नियतेनैव क्रमेण प्रतिक्षणां
परिणामानाः परिदृश्यन्ते । अत लिङ्गं क्रमान्यत्वात् परिणामान्यत्वम् ।
सर्वेषां चित्तादीनां परिणाममानानां केचिद्धर्माः प्रत्यक्षेणौपलभ्यन्ते
यथा सुखादयः संस्थानादयश्च । केचिद्द्वयं कान्तेनानुमानगम्याः । यथा-
धर्मसंस्कारशक्तिप्रभृतयः । धर्मिणश्चाभिन्नरूपतया सर्वत्रानुपगमः ॥ १५ ॥

इदानीमुक्तस्य संयमस्य विषयप्रदर्शनद्वारेण सिद्धीः प्रतिपाद-
यितुमाह-

भौ० व० का भा०—ऊपर जिनका वर्णन करनुके हैं, उन धर्मों को
जो क्रम है वह प्रतिक्षण बदलता दीखता है वही उस परिणाम के
प्रतिवर्तन का हेतु है जिसका पूर्व वर्णन करनुके हैं अर्थात् धर्म-
परिणाम से परिणामों का भेद जान पड़ता है । अभिप्राय यह है कि
जो यह नियतक्रम है कि मट्टी के चूर्ण से पिण्ड होता है, उससे कपाल
(खण्ड) बनाया जाता है, कपाल से फिर घड़ा बनजाता है । यह
जो क्रम दीखता है यही दूसरे परिणाम का दिखाने वाला है, अर्थात्
क्रम से ही मट्टी घड़े के रूप में परिणत होगई यह दूसरा परिणाम
हुआ । जैसे यह धर्मपरिणाम का क्रम कहा ऐसे ही लक्षणपरिणाम
और अवस्थापरिणाम का क्रम भी दूसरे परिणाम का हेतु समझना ।
सम्पूर्ण पदार्थ वा भाव क्रमसे प्रतिक्षणं परिणत होते दीखते हैं इससे
सिद्ध हुआ कि क्रम से भेद होता है और वही भेद पदार्थों में अन्य
परिणामों को अत्पक्ष करता है समस्त चित्तादिकं पदार्थ जो प्रि-
णाम को प्राप्त होते रहते हैं कोई धर्म प्रत्यक्ष पायें जाते हैं जैसे

सुख और स्थिति प्रत्यक्ष परिणामी जीन पड़ते हैं। कोई भूमि अनुसार से जाने जाते हैं। धर्मी (गुणविशेष) संस्कार और शक्ति आदि परन्तु धर्मी का सम्बन्ध सम्बन्ध रहता है ॥ १५ ॥

आगे उक्त संयम के विप्रय (जिनमें संयम कियो जाता है) और उसके फल अर्थात् लिङ्गियों का घर्यन किया जायगा—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

सू० का पदा०—(परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्) उक्त संयम के संयम से (अतीतानागतज्ञानम्) भूत और भविष्य का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

सू० का भा०—इ परिणामों के संयम से भूत और भविष्य को कैसे का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

ब्यो० दै० कु० भा०—धर्मलक्षणावस्थापरिणामपु संय-
माद्योगिना॒ भवत्यतीतानागतज्ञानधारणाध्यानसप्ताधित्रयपेक्ष
संयम उक्तः । तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणपतीतानागतज्ञानं
तेषु सम्पादयति ॥ १६ ॥

भा० का पदा०—धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और भविष्य-
परिणामों में संयम से योगियों को भूत और भविष्यकाल का ज्ञान होता है। संयम का लक्षण प्रथमे लिख आये हैं कि ध्यान, धारणा और समाधि की एकता को संयम कहते हैं सोक्षात् किये हुवे उक्त सीना परिणाम योगी में भूत और भविष्य के ज्ञान को सम्पादन करते हैं ॥ १६ ॥

भा० का भावा०—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था-
परिणाम के संयम से योगी को भूत और भविष्य काल का ज्ञान होता है, संयम का अर्थ पूर्व ही लिख दिया है अर्थात् ध्यान, धारणा और समाधि के एकत्र होने को संयम कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि उक्त परिणामी के संयम से भूत और भविष्य काल का ज्ञान होता है ॥ १६ ॥

१६ स०—उपर्युक्त दोनों सूत्रों में लिखे परिणामों के वरणन का फल अब आगे लिखते हैं—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम इन तीनों परिणामों में संयम करने से योगी को भूत, भवित्व और वर्तमान कानका ज्ञान होता है अभिप्राय यह है कि योगी क्रमपरिणामके तत्त्वको समझ कर जान जाता है कि शब्द पेसी अवस्था देशकी वाँ अंमुके मनुष्यकी अथवा मेरी भवित्वमें होने वाली है। यदि योगी उके संयमसे जान जाता है कि पेसी दशा होने वाली है तो उसका प्रतीकार भी अर्थात् विज्ञनिवारण उचित उपायों से कर लेता है ॥ १६ ॥

भो० च०—धर्मलक्षणावस्थाभेदेन यत्परिणामव्यमुक्तं तत्र संयमात्तस्मिन् विषये पूर्वोक्तसंयमस्य कारणादतीतानागतशाने योगिनः संमाधिराविर्भवति । इदमत्र तात्पर्यम् अस्मिन् धर्मेणि अथ धर्मे इदं लक्षणमियमवस्था चानागतादध्वनः संमेत्य वर्तमानेऽध्वनिं स्व व्यापारं विधायातीतिमध्याने प्रविशतीत्येवं परिहृतविक्षेपतया यदा संयमं करोति तदा यत्किञ्चिद्भुत्पन्नमतिकान्तं वा तत्सर्वं योगी जानाति । यत्प्रिच्छित्स्य शुद्धसत्त्वप्रकाशरूपत्वात्सर्वार्थग्रहणसामर्थ्यमविद्यादिभिः विक्षेपैरप्रक्रियते । यदा तु तस्त्वैरपायैविक्षेपाः परिहृयन्ते तदा निवृत्तमेत्येवाऽदर्शस्य सर्वार्थप्रहृण्णसामर्थ्यमेकोग्रतोवलोदाविर्भवति ॥१६॥

भो० च० का भा०—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम जो पूर्व कहे उनमें संयम करने से योगी को समाधि में भूत और भवित्वकालका ज्ञान होता है इससंबन्धका तात्पर्य यह है इस धर्ममें वह धर्म रहता है इसका यह लक्षण है यह अवस्था है यह अनागत भावको ल्यान कर वर्तमान मार्गमें अपने कार्य को करने अपने पूर्वमार्ग अर्थात् उपादान कारणमें जानेको उत्थुक है इन्हीं मार्गोंमें विष्णुरहित होकर संयम करने से योगीको अनुत्पन्न हुए और व्यतीत हुए सेवको ज्ञान होजाता है क्योंकि शुद्धचित्त होजाने से सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न होजाती है और अविद्यादि मल दूर हो जाते हैं तब मतरहित दर्पण के समान सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति विचारमें उत्पन्न होजाती है ॥ १६ ॥

दूसरी सिद्धिकावरण करते हैं—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरतेराध्योपासात्संकास्तत्र-
विभागसंयमात् सर्वभूतहृतज्ञानम् ॥ १७ ॥

सू० का पदा०—(शब्दार्थप्रत्ययानामितरतेराध्या-
सात्संकरः) शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दृसरेमें मिले,
रहने से संकर अर्थात् घनिष्ठ मेल है (तत्पविमाग
संयमात् सर्वभूतहृतज्ञानम्) उसके विभाग में संयम
करने से सब प्राणियों की वाणीका ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

सू० का भावा०—शब्द अर्थ और ज्ञानमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध
होने से शब्दसंकरता है और उनके विमाग में संयम करने से प्राणी
भाषकी भाषाका ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

व्या० दे० कु० भा०—तत्र वाग्वर्णेऽवेक्षार्थवती श्रोत्रश्च-
धनिपरिणाम पात्रविषयपृष्ठ पदं पुनर्नादानुसंहारवृद्धिनिर्गत्यमिति
वर्णा एकमपयासम्पवित्वात् परस्परनिरनुग्रहात्मानस्ते पदमसं-
स्पृश्यानुपस्थाप्याविभूतास्तिरोभूताशचेति प्रत्येकं पदस्वरूपा-
उच्चन्ते वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रवितः सह-
कारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यपिवापन्नः पूर्वशोत्तरेणोत्त-
श्व पूर्वेण विशेषेऽवस्थापिव इत्येवं वहनो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थ
संकेतेनावच्छिन्ना इयं त एते सर्वाभिधानशक्तिप्रवृत्ता गकारौ-
कारविशर्जनीयाः सास्नादिपन्नमर्थं द्योतयन्तीति तदेतेपापर्थसं-
केतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतधनिकपाण्डा य एको वृद्धिनिर्भास-
स्तपदं वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते । तदेकं पदमेकवृद्धिविषय
एकप्रयत्नाक्षिप्तप्राग्मपक्रमवर्णं वौद्वपन्त्यवर्णं पत्थयव्यापारोपस्था
पितं परत्र प्रतिपादयिष्या वर्णेवाभिधीयपानैः श्रुयपाणैश्च
श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्या लोकवृद्ध्या सिद्धवत्म-
अप्रतिपत्य प्रतोयते तस्य संकेतवृद्धितः प्रविभाग एतावत्येकं

जातीयकोऽनुपसंहार एकस्यार्थस्य वाचक इति । संकेतस्तु पदप-
दार्थयोरितरेतराध्याससरूपः स्मृत्यात्मको योऽये शब्दः सोऽयमर्थो
योऽयमर्थः स सोऽयं शब्द इति । एवमितरेतराध्यासरूपः संकेतो
भवतीति एवयेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासान्सङ्कीर्णा गौरिति
शब्दो गौरित्यर्थो गौरितिज्ञानम् य एषां प्रविभागः स सर्ववित् ।
सर्वपदेषु नास्ति वाच्यशक्तिर्वृत्तिं इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते । न सत्ता-
पदार्थो व्यमिचरतीति तथा नहासाधना क्रिया स्तीति तथाच पच
तीत्युक्ते सर्वकारकाणामात्रेषो नियमार्थोऽनुवादः कर्तुं करणकर्मणां
चैत्राग्निनएहुलानामिति दृष्टव्यं वाक्यार्थे पदरचनं शोचियशब्दन्दो-
धीते, जोवति प्राणान् धारयति । तत्र वाक्येषद् पदार्थाभिव्यक्ति-
स्ततः प्रदं प्रविभृत्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं कारकवाचकं
वा अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारू-
प्यादनिर्झार्तं कथं क्रियार्था कारके वा व्याक्रियेतेति तेषां शब्दा-
र्थप्रत्ययानां प्रविभागः । तद्यथा-श्वेतं प्रासाद इति क्रियार्थः
श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः क्रियाकारकात्मा तदर्थः
प्रत्ययश्च कस्पात् सोऽयमित्यभिसम्बन्धादेकाकार एव प्रत्ययः
संकेत इति यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः सहि
स्वाभिरतस्याभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न द्विद्विषयतः ।
एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथा शब्दोऽन्य-
थार्थोऽन्यथाप्रत्यय इति विभागः । एवं तत् प्रविभागसंयमात्-
योगिनः सर्वभूतस्तज्ज्ञानं सम्पद्यत इति ॥ १७ ॥

भाठ का पदाठ—शब्द, अर्थ और प्रत्ययके विचारमें वाणी अक्षरों
में ही अर्थयुक्त होती है । कान तो केवल ध्वनि के परिणाम को ही
प्रहण करने वाले होते हैं नाद अर्थात् ध्वनि के विनाश होने से जोरे
द्विद्वित से प्रहण क्रिया जाता है उसे पद कहते हैं । अक्षरों का एक
समय में उच्चारण होना असम्भव है, वे आपस में एक दूसरे के
सहायक नहीं हैं और वर्णपदके सम्बन्धको व्यांग करं स्थिरं

नहीं रहते अर्थात् वर्ण कभी प्रकट होते हैं और कभी लुप्त होते हैं। उसी कारणसे एक न वर्ण की प्रदर्शनशा नहीं है। फिर एक-२ वर्ण ही प्रदर्शनशा हैं। सम्पूर्ण अर्थ के प्रकाश करने की शक्ति से युक्त हैं, क्योंकि अपने सभीप दूसरे अक्षर के समान धर्मयुक्त हैं। पूर्ण वर्ण अगले से और अगलो अक्षर पिण्डले से विशेष अर्थ में कथापित करता है, अर्थात् पिण्डले अक्षर के अर्थ का आभास अगले पर पड़ता है, और अगले अक्षर का आभास पिण्डले अक्षर के अर्थका प्रकाशित करता है। इस प्रकार से अनेक अक्षर क्रम के अनुसार अर्थ के संकेत से युक्त होते हैं। गौ: इस पदमें ग, औ और विसर्ग संकेतिक अर्थ से भरे अर्थात् उत्तरवर्ण समुदाय के अर्थ को बोध करने वाली शक्ति से पूर्ण हैं। गौ के जले में जो मांस लटकता है इसे स्पृहना कहते हैं। ग, औ और विसर्ग सात्सु युक्त अर्थ को प्रकाश करते हैं। अर्थ से युक्त अद्वयों का उपसंहारकी घटनि के क्रम से जो शुद्धि का निर्मास अर्थात् प्रकाश है वही पदवाचक है और वाचक का संकेत करता है। अब यह शङ्ख होती है कि एक पद एक ही शुद्धि का विषय है, इस से सुवधी, जानकर्त्ता कर हो। यह संकेत भी एक ही के प्रयत्न से हुआ है, इसरे को बोध करने की इच्छा से, कहे, इसे अद्वयों से, मुने हुये अद्वयों से सुनने वालों के द्वारा वचन के व्यवहार की चालना से युक्त सांखारिक शुद्धि के द्वारा सिद्ध के समान प्रतीत होता है। इसका संकेतशुद्धिसे विभाग होता है। इतने शब्दों का अनुसंहार एक अर्थ का, बोधक है। यह शब्दों पद और अर्थ के परस्पर अस्यास्त से होता है। मनुष्यि रु है अर्थात् शब्द का अर्थ जो प्रथम स्मृतिशृङ्खिति में आकड़ होनुका है वही, फिर वाणी के द्वारा प्रस्तुत होना है। यह जो शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है, वही शब्द है। इस रीति से शब्द और अर्थ दोनों परस्पर अस्यास्त अर्थात् एक दूसरे से मिले हैं यही सङ्केत, कहाता है। यह शब्द, अर्थ और जान परक इसरेमें ज्ञान होनेसे सङ्कीर्ण हैं। गौ: यह शब्द गौ यह अर्थ, गौ यह ज्ञान (ज परां प्रतिभासाक्षः) जो इन के विभाग को जानने वाला है वह शब्द का ज्ञानने वाला है। सब पदों में वाचक शक्ति विभाग है, “दृश्य” ऐसा कहने पर उसकी सत्ता का बोध होता है। कोई पदार्थ सूचना अर्थात् भाव को त्वया नहीं करता है। ऐसे ही सूचना होने कोई कियो तब्दी होती है जैसे “एकाता है।” ऐसा कहने पर सम्पूर्ण

कारकों का अर्थात् कर्ता, करण और कर्म (बैच, अग्नि और तण्डुल) इन सब का अध्याहार हो जाता है। वाचार्थ में पदों की रचना देखी जाती है "श्रोत्रियशब्दन्दोऽधीते" "जीवति प्राणान्धारयति" इन दोनों वाच्यों में जैसे पहिले वाच्य में "बृन्दोऽधीते" पद से वोध होता है वैसा ही केवल श्रोत्रिय पद से भी ज्ञान होता है। दूसरे वाच्य में "प्राणन् धारयति" इस वाच्य के स्थान में 'जीवति' पद का प्रयोग होता है, अतएव वाच्य में पद और पद के अर्थों का प्रकाश है अर्थात् वाच्य में कर्ता, कर्म और किया आदि जुड़े २ दीजते हैं उस से पद का विभाग करके प्रकट करना चाहिये कि यह पद कियावाचक है वा कारकवाचक है। यदि ऐसा न होगा तो (पवति) शब्दके प्रयोग में यह ज्ञान न होगा कि यह किया है वा यही प्रत्ययान्त 'भवति' शब्द का सम्बोधन में होस्त्रान्त रूप है। इसी प्रकार "अःवः" घोड़ा वाचक पुलिलङ्घ प्रथमा विभक्तिके एक वचनका रूप है वा 'श्वस्' अव्ययका अन्त समाप्तान्त रूप है। पेसे ही "अजापयः" पद का अर्थ कारक मान के वकरों का दूध होता है और किया मान के नू पहुँचादे, वा जीत अर्थ होता है इत्यादि पदों में सुवन्त और तिडन्त का एक ही रूप होने से ठीक ज्ञान नहीं होता है। कियामें वा कारकमें कैसे इन का निरुपण होगा, उन शब्दार्थ प्रत्ययोंका विभाग होना चाहिये जैसे अठारी सफेद होरही है यह कियार्थक है रंग से सफेद अठारी है यह कारकार्थ पद है। शब्द किया और कारक रूप है और प्रत्यय उसका अर्थ है। क्योंकि यह घटी है इस सम्बन्ध से प्रत्यय तदाकार ही प्रतीत होता है। जिसका श्वेतार्थ है वह शब्द और प्रत्यय के आधीन है क्योंकि वह अपनी अवस्थाओं के द्वारा विकार को प्राप्त हुआ न शब्द के साथ है, न शुद्धि के। शब्द भिन्न है, अर्थ भिन्न है, प्रत्यय भिन्न है। यह विभाग है इस विभाग में संयम करने से योगी को सब प्राणियों की व्यनि का ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

मा० का आवा०—वाणी अक्षरों में ही अर्थयुक्त रहती है क्योंकि विना अक्षर की योजना के किसी शब्द का अर्थ नहीं होता है, कान केवल ध्वनि के शुञ्जार को प्रहण करते हैं और शुद्धि वर्णों के क्रम को प्रहण करती है क्योंकि शब्द के अक्षर एक समय में उत्पन्न नहीं होसकते हैं घरन जब पहिला अक्षर आगे वोध को उत्पन्न करके नष्ट

हो जाता है तब दूसरा अक्षर उत्पन्न होता है इसीही प्रकार से प्रत्येक अक्षर का आधिर्भवि होता है परन्तु अपने सहकारी अक्षर के धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। जैसे गौः शब्द में गकार, औकार और विसर्ग क्रम से उच्चारित होकर सास्नावाली व्यक्ति का वोध करते हैं। इस में वर्णोंका उपसंहार, ध्वनि, क्रम और सङ्केत ही कारण है। जो शब्द दूसरे को ज्ञान उत्पन्न करने की इच्छा से घोला जाता है उसके बोध में सङ्केत आनादिकाल से चला आता है। तात्पर्य यह है कि गौ शब्द, गौ अर्थ और गौ ज्ञान एक ही जान पड़ते हैं। हर एक शब्द में बोधक शक्ति होती है, साधनहीन कोई क्रिया नहीं होती है, जैसे पकाता है कहने से चेत्र कर्त्ता, अग्नि करण और चावल कर्म का अध्याहार होता है। कहीं वाक्य के स्थान में एक पद का प्रयोग भी देखा जाता है, जैसे वेद पढ़ता है इस वाक्य के स्थानमें जीवित पद का प्रयोग होता है। कहीं पर नाम और क्रिया में भी एकदा जानपड़ती है। जैसे 'भवति' क्रिया भी है और 'भवती' शब्द का सम्बोधन में 'भवति' रूप होता है इत्यादि शब्दों के संकेत में जो संयम करता है वह सब ग्राणियों के शब्दों को समझता है ॥ १७ ॥

१७ स०—शब्द का ओचेन्द्रिय से अहण होता है, और उसके वर्ण तथा अर्थों का क्रम भी नियत है, यदि स्फोटवाद की रीतिसे चर्णादि क्रमको न माना जाय तो यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि अमुक शब्द को अमुक अर्थके बोध करने में शक्ति है। यद्यपि स्फोटवाद में अर्थ, जाति, शुणादि शब्दार्थ ज्ञानमें एक शब्दका दूसरे शब्द में अध्यात्म रहता है, इससे शब्दज्ञान में संकर दोष आता है। जैसे किसी ने कहा कि गौ को लाओ, इस वाक्य को सुन के खुर और सोंग युक्त पशु विशेष को ले आता है। परन्तु गौ को लाने वाले से यदि पूछा जाय कि गौ। शब्द के कौन से वर्ण वा मात्रा ने कर्ण द्वारा तुम्हारे हृदय में प्रवेश करके तुम्हारे गौ विषयक ज्ञान को चैतन्य किया तो वह कुछ भी उत्तर नहीं देसकता है। इससे ही जान जाता है कि शब्द के भागों का तथा उनके अर्थों का ज्ञान संसारी लोगों को नहीं है। अतएव योगी जब शब्द के भागों में संयम करता है तब उसे जान पड़ता है कि अमुक प्राणी ने अमुक शब्द का उच्चारण किया और उत शब्दों के अर्थों को भी योगी समझने लगता है।

भो० व०—शब्दः थोत्रेन्द्रियप्राहो नियतकमवर्णात्मा नियतैकार्थं-
प्रतिपत्तयव छिद्रः । यदि या क्रमरहितः स्फोटात्मा शास्त्रसंस्कृतद्विदि-
ग्राहोः । उभयथापि पदरूपो घाष्यरूपश्च तयोरेकार्थंप्रतिपत्तौ साम-
र्थ्यात् । अर्थो जातिगुणकियादिः । प्रत्ययो इनानं विषयाकाराद्विद्वितिः ।
एवां शब्दार्थज्ञानानां ध्ययद्वारे इतरेतराध्यासात् विद्वानामपि तु द्वये
फलपतासम्पादनात्मसंकीर्णत्वम् । तथाहि—गामानयेत्युक्ते कथित् गा-
लत्तेणमर्थं गोत्वजात्यवच्छिन्नं सास्तादि मृदिपएडरूपं शब्दवा-
तद्वाचकं यानञ्च तद्विद्रूपमभेदेनैवाध्यवस्थति । न त्वस्य गोशब्दो
घाचकोऽर्थं गोशब्दस्य वाढ्यस्तयोरिदं ग्राहकं यानमिति भेदेन ध्यव-
हरति । तथाहि—कोऽर्थमर्थः फोऽर्थं शब्दः किमिदं प्रानमिति पृष्ठः
सर्वज्ञैकरूपमेवोच्चरं ददाति गौरिति । स यद्ये फलपतां न प्रति-
पदते । कथमेकरूपमुत्तरं प्रयच्छति । एकस्मिन् स्थिते योऽर्थं
प्रविभाग इदं शब्दस्य तत्त्वं यद्वाचकत्वं ताम् । इदमर्थस्य यद्वाच्यत्वव
मिदं ज्ञानस्य यत् प्रकाशकत्वमिति प्रविभागं विधाय तस्मिन् प्रवि-
भागे यः संयमं फरोति तस्य सर्वेषां भूतानां मृगापद्मिसरीसूपादीनां
यद्वदुतं यः शब्दस्तत्र शानमूल्यदतेऽनेनैवाभिप्राप्येतेन प्राणिनाऽर्थं
शब्दः समुच्चालित् इति सर्वं जानाति ॥ १७ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भगव० व० का भा०—शब्द कर्णं इन्द्रिय से घटण करने योग्य है
और उसका क्रम तथा वर्णं नियत है और अर्थशान भी उसका
नियत है, यदि क्रमरहित स्फोटरूप शब्द को मानाजाय और
संस्कृत शुद्धि द्वारा उसका प्रहण माना जाय तो भी (अर्थात्
दोनों प्रकार से) पद रूप और घाष्यरूप दोनों को ही
अर्थयोधक शक्तियुक मानना होगा । अर्थं, जाति, गुण और
किया, इनके कान में जो विषय रूप शुद्धि है वह एक ही है ।
इस कारण अर्थादिकों के भिन्न होने पर भी वह अर्थादिक सब एक
रूप प्रतीत होते हैं । जैसे किसी ने कहा कि गौ को लागे इस कहने
से सुनने वाला गोत्वजातिविशिष्ट । सास्ता वाली व्यक्ति जो गो
शब्द की वाच्य है, उसका वाचक ज्ञान और उसकी प्राहक शृणि
इन सब को भिन्न २. ग्रहण नहीं करता है, अर्थात् सुनने वाला यह
नहीं समझता है कि गौ शब्द वाचक है, यह व्यक्ति उसकी वाच्य
है और यह उसका प्राहक ज्ञान है । यदि उससे पूँछाजाय गो शब्द जो

तुमने सुना उसका धाचक क्या है, वाचव क्या है और कान क्या है तो वह गीके अतिरिक्त और कुछ भी उच्चर नहीं देसकता है। यदि शब्दादि सीनों एक रूप न होते तो एक ही उच्चर क्योंकर होता ? इसही अभेद भाव में अर्थादि को भिन्न २ समझ कर अर्थात् शब्द में जो धाचक शक्ति है, अर्थ में जो वाच्य शक्ति है और कान में जो प्रकाशक शक्ति है इन में भेद जान के जो भेद में संयम करता है उसको मृग, पक्षी और सरीखूप आदि प्राणियों की ध्वनि का ज्ञान होता है अर्थात् वह जान जाना है कि इस प्राणी ने इस अभिप्राय से यह ध्वनि की ॥ १७ ॥

आगे दूसरी सिद्धि का वर्णन करेंगे—

सँस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

सू० का प०—(संस्कारसाक्षात्करणात्) संस्कारों के प्रत्यक्ष होने से (पूर्वजातिज्ञानम्) पूर्वजन्म का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

सू० का भा०—सँस्कारों के प्रत्यक्ष होने से पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है ॥ १८ ॥

व्या० भा०—द्वये खल्वपी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः। ते पूर्वभवाभिसँस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिहृष्टशिर्चत्पर्माः। तेषु संयमः सँस्कारसाक्षात्क्रियायै समर्थः। नचेदेशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणम्। तदित्यं सँस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः। परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात् परजातिसंवेदनम् ।

अत्रेदर्मारूपानं श्रूयते-भगवनो जैगीषव्यस्य सँस्कारसाक्षात्करणाहशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विदेकर्जं ज्ञानं प्रादुरभूत्। अथ भगवानावटश्वरतनुधरस्तमुवाच-दशसु

भद्रासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतवुद्दिसत्वेन त्वया नरकनिर्णगर्भ-
संम्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्ट्रे पुंषुनः पुनरुत्पथयानेन सुख-
दुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति । भगवन्तमावटयं जैगीपव्य-
चवाच-दशसु भद्रासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतवुद्दिसत्वेन यथा-
नरकनिर्णगर्भं दुःखं संपश्यता देवमनुष्ट्रेषु पुनःपुनरुत्पथ-
यानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत् सर्वं दुःखमेव ग्रत्यवैमि । भग-
वानावटय उवाच-यदिदमयुप्पतः प्रधानवशित्वमनुच्चमं च
सन्तोपसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निःक्षिप्तमिति । भगवान्-
जैगीपव्य उवाच-विषयसुखापेक्षयैवंदमनुच्चमं सन्तोपसुखमुक्तम्
फैवस्यसुखापेक्षया दुःखमेव । वुद्दिसत्वस्याय धर्महित्रगृणः
त्रिगुणाश्र मन्त्रयो हेषपक्षे न्यस्त इति दुःखरूपस्तुप्पातंतुः । तप्पा-
दुःख सन्तापापगदात् प्रसन्नमवाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ।

आ० का प०—संस्कार द्वे प्रकार के होते हैं स्मृति और पंच
क्लेशों के कारण एक धासनारूप संस्कार होते हैं और दूसरे संस्कार
ये हैं जिन फा कारण विपाक अर्थात् फल है और वे धर्माधर्म का
होते हैं । ये संस्कार पूर्वजन्मके कर्मोंके होते हैं । परिणाम, चेष्टा, शक्ति,
जीवन, शुणों के समान वित्त के अप्रत्यक्ष धर्म हैं । उन में संश्यम
करने से योगी संस्कारों के प्रत्यक्ष दरने में समर्थ होता है । देश,
काल, निमित्त और अनुभव के बिना उन का साक्षात् नहीं होता ।
इस दीति से संस्कारों के प्रत्यक्ष होनेसे योगी को पूर्व जन्म का ज्ञान
होता है ऐसे ही पर जन्म का भी संस्कारों के प्रत्यक्ष अर्थात् स्मरण
होने से परजन्म अर्थात् भविष्य जन्म का ज्ञान होता है ।

इस विषय में यह इतिहास सुनते हैं भगवान् जैगीपव्य ऋग्वे को
संस्कारों के प्रत्यक्ष करने से दश सूष्टियों में जन्म के परिणाम और
क्रम भलीभांति प्रत्यक्ष करनेसे विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ था । इस के
अनन्तर भगवान् आवट्य ऋग्विने जैगीपव्य से प्रश्न किया कि आप
इन दश सूष्टियोंमें योगधार से हुक्कि और वलकी स्थिर दशामें नरक,
स्वर्ग और तिर्थक् आदि योनियों में देखता और मनुष्यादि शरीरों

में भ्रमण करते रहे उन संय में आप ने कौन कौन से विशेष सुख और दुःख सहे उनका वर्णन कीजिये । उन आवश्यक ऋषि से जैगीपव्य बोले कि दश सृष्टियों में धारंवार जन्म लेकर थोग बलसे अवशाहत ज्ञान और बुद्धिके द्वारा नरक, स्वर्ग, देव और मनुष्यादि शरीरों में जो कुछ भोगा उस सधको मैं दुःख ही समझता हूँ । फिर आवश्यक ऋषि बोले जो मनुष्य इन्द्रियों का निरोध करना और सत्त्वोपकरी मुहोत्तमसुख है उसको भी आपने दुःखकी थेरीमें ही प्रविष्ट किया ? भगवान् जैगीपव्य ऋषि बोले सन्तोष को विषय सुख की अपेक्षा अनुचाम सुख कहाजाता है, किन्तु कैवल्य सुख की अपेक्षा तो वह दुख ही है । बुद्धि का धर्म तीन गुणयुक्त होता है और ज्ञान भी त्रिगुणात्मक होता है जो कि हेय अर्थात् सांसारिक विषय के पक्ष में नियुक्त है तृप्ता दुःखरूप है, योगीको तृप्तारूप दुःख प्रसन्नता युक्त होने से छोड़ देता है और सब के अनुकूल जो सुख है वह प्राप्त होता है ।

भा०का भा०-पूर्वकम्^० के दो प्रकारके संस्कार होते हैं—एक वासना रूप, दूसरे विपाक रूप । वासनारूप वेसंस्कार-कहाते हैं जो पूर्वकमें के फल-धर्म व अधर्म हैं । योगी को समाजि द्वारा जब यह संस्कार प्रत्यक्ष होते हैं तब उसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है । जेय योगीको प्रत्यक्षसंस्कारोंका परिज्ञान होता है तब उसे परजन्मका भी परिज्ञान होता है । इसमें एक दृष्टालत है कि जैगीपव्य ऋषिको योगाभ्यास करतेहुए दश कल्पोंके जन्मोंका स्मरण हुआ था उनसे एक समय आवश्यक ऋषि ने यह प्रश्न किया था कि योगके प्रताप से आपकी बुद्धि और ज्ञान विनष्ट नहीं हुआ था एसी ज्ञानमय आवस्था में आपने अनेक योनियों में गमनागमन किया उनमें आपको जो सुख वा दुःख प्राप्त हुआ उस का सुझासे वर्णन कीजिये ? इस प्रश्न के उत्तर में जैगीपव्य ऋषिने कहा कि मैंने इन दश कल्पों में जितने जन्म धारण किये उन सब में सुझे दुःख ही दुःख मिले सुखका लेश भी प्राप्त न हुआ, फिर आवश्यक ऋषिने प्रश्न किया कि सन्तोषादि जो पूर्ण सुख कहेजाते हैं उनको आपने दुःख किस रीति से कहा ? जैगीपव्य ऋषिने इसका उत्तर दिया कि सन्तोषादि जो सुख कहते हैं वे कैवल सांसारिक दुःख की अपेक्षा ही सुख हैं, किन्तु कैवल्य सुखकी अपेक्षा वे भी दुःख ही हैं । जीवके धर्म त्रिगुणात्मक हैं और सांसारिक विषयों में त्रिगुणात्मक ज्ञान भी होता है तृप्ता दुःख रूप है । जब कि दुःख रूप तृप्ता योगी

के विच्छ से छुर होजाती है तब उसका भिन्न प्रसन्न होजाता है तब योगी को परिचित का ज्ञान भी होजाता है ॥ १८ ॥

यो० ष०-द्विविधाभिच्छस्य वासनारूपाः संस्काराः । केवित् स्मृतिः भावोत्पादनकलाः केवित् जात्यायुभ्योर्गलक्षणविधकहेतवः, यथाधर्माधर्मार्थाः तेषु संस्कारेषु यदा संयमं करोति, एवं मया सोऽर्थोऽनुभूत एवं मया सा किया निष्पादितेति पूर्ववृत्तमनुसन्धानो भावयन्नेव प्रबोधकमन्तरेण उद्बुद्धसंस्कारः सर्वमतीतं स्पृहति । क्रमेण साक्षात् कृतेषु उद्बुद्धेषु संस्कारेषु पूर्वजन्मातुभूतानपि जात्यादीन् प्रत्यक्षेण पश्यति ॥ १८ ॥

सिद्धयन्त्रमाह—

यो० ष० का भा०—विच्छ के वासना रूप संस्कार दो प्रकार के होते हैं, कोई स्मृति मात्र से फल देते हैं और कोई जन्म, आनु और भोगकर्त फल के हेतु हैं जैसे धर्म और अधर्म, इन संस्कारों में योगी यज्ञ संयम करता है अर्थात् मैंने इस प्रकार से यह अनुभव किया था वह कार्य किया था ऐसे पूर्व कार्यों को समाधि में विचारने से उस के ज्ञानका उदय होता है तब उसे भूत कियाओं का स्मरण होता है और क्रम से वह स्मरण इतना घटता है कि वह पूर्वजन्म के जात्यादि सभ विषयों को जान जाता है ।

अथ और सिद्धि कहते हैं ॥ १९ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

पदार्थ—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय में संयम करने से (परचित्तज्ञानम्) दूसरों के मनकी वात जानी जाती है ॥ १९ ॥

स० का प०—शब्द का संयम करने से दूसरों के मनकी वात जानी जाती है ॥ १९ ॥

व्या० भा०—प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणाच्चतः परचित्तज्ञानम् ॥

भा० का प०—प्रत्यय में संयम करने से अर्थात् ज्ञान का साक्षा तक प्रद होने से परचित्त ज्ञान होता है ॥ १९ ॥

भा० का भा०—ज्ञान का साक्षात्कार होने से योगी दूसरों के मन की वात जान लेते हैं ॥ १६ ॥

भो० वृ०—प्रत्ययस्य परचित्तस्य केनचिन्मुखरागादिना लिंगेन गृहीतस्य यदा संथर्म करोति तदा परकीयचित्तस्य ज्ञानमृत्पद्धते सरागस्य चित्तविरागं वेति । परचित्तगतानपि धर्मान् जानातीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भो० वृ० का भा०—जब योगी मुखरागादि बाह्य चिन्हों के द्वाया दूसरों के भाव को जानने का अभ्यास करना है, तब इसको सराग च विराग परचित्त का ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् दूसरों के हृदयत भावों को भी यह जान होता है ॥ १६ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

सू० का पदार्थ—(तत्-सालम्बनम्-न) यह अवलम्बन सहित नहीं है (तस्य, अविषयीभूतत्वात्) उसके विषयीभूत न होने से ॥ २० ॥

सू० का भा०—वह परचित्त ज्ञान अवलम्बन सहित नहीं है, क्योंकि योगी के चित्त में उसका केवल ज्ञान होता है, आलम्बन नहीं ॥ २० ॥

ध्या० भा०—रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्त-मिति न जानाति । परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नालम्बनीकृतं परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूत-मिति ॥ २० ॥

भा० का य०—राग का ज्ञान होता है, पर किस आलम्बन में राग है यह नहीं जानता । केवल परचित्त के भाव का ज्ञान उस को होता है, उसका आलम्बन क्या है, इससे उसे कुछ प्रयोजन नहीं ॥ २० ॥

भो० वृ०—तस्य परस्य युचित्तं न तत्सालम्बनं लक्षीयेनालम्बनेन संहितं न शक्यते ज्ञातु मालम्बनस्य केनचिलिङ्गे न विषयीकृतत्वात् । लिङ्गाद्वि चित्तमात्रं परस्यावगतं न तु नीलविषयमस्य चित्त-

पीतविषयमिति था । यद्यन न यृहोतं तत्र संयमस्य कर्तुमशक्यत्वान्न भवति परचित्तस्य ओ विषयस्तत्र शानम् । तस्मात्परकीयचित्त नालम्बनसहितं गृह्णते, तस्यालम्बनस्यागृहोतत्वात् । चित्तधर्माः पुनर्गृह्णन्त एव । यदा तु किमनेतालग्निवत्तमिति प्रणिधार्तकरोति तदा तत्संयमात्तद्विषयमपि शानमुत्पद्यत एव ॥ २० ॥

भौ० य० का भा०—पर का जो चित्त है उसके आलम्बन को योगी ग्रहण नहीं करता । लिङ्ग से चित्त का शानमात्र होता है न कि उसके विषय का । जीलझुड़े वा पीत है । जो ग्रहण ही नहीं होता उसमें संयम नहीं हो सकता । इसलिए परकीय चित्त निरालम्ब ही ग्रहण किया जाता है । जब वह इसका ध्यान करता है कि इसने किस विषय का आलम्बन किया है, तब आलम्बन के संयम से विषय का भी शान उसको होता है ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चच्छुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

स० का प०—(कायरूपसंयमात्) कायगत रूप के संयमसे (तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे) उसकी आद्यशक्ति का स्तम्भ होने पर (चच्छुःप्रकाशासम्प्रयोगे) नेत्रके प्रकाश का संयोग न होने पर (अन्तर्धानम्) अन्तर्धान होता है ॥ २१ ॥

स० का भा०—कायगत रूप में संयम करने से उसकी शक्ति का स्तम्भ होता है और शक्तिस्तम्भ होने से नेत्र के प्रकाश का संयोग नहीं होता और उससे योगी को अन्तर्धान सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

ब्या० दे० का भा०—कायस्य रूपे संयमाद् प्रस्य या ग्राहा शक्तिस्तां प्रतिष्ठानाति ग्राहशक्तिस्तम्भे सति चच्छुःप्रकाशासंयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

भा० का प०—काया के रूप में संयम करने से रूप की जो ग्राहशक्ति है उसका निरोध होता है । ग्राह शक्ति के स्तम्भ होने पर

नेत्रों में जो देखने का प्रकाश है उसके संयोग 'न होने से अन्तर्धान अर्थात् दृष्टिरूप' को ने दिलाई देना उत्पन्न होता है। योगी को इस से शब्दान्तर्धान आदि पांच प्रकार का अन्तर्धान समझना योग्य है।

भा० का भा०—जब योगी शरीर के रूप में संयम वरुता है तब उसके शरीर के रूप की ग्राहणशक्ति स्तम्भित होजाती है तब किसी के नेत्रों का प्रकाश उस के शरीर को स्पर्श नहीं कर सकता; इस कारण से योगी का शरीर अन्तर्हित होजाता है ॥ २१ ॥

विशेष—यह एक स्वाभाविक वात है कि नेत्र इन्द्रिय की शक्ति जब किसी कारण से प्रतिविनिधित होजाती है तब उस को सम्मुख रक्तां पदार्थ भी नहीं दीखता। जैसे इन्द्रजाल का सेल करने वाले लोग अनेक पदार्थों के संयोग और कियाकौशल से दर्शकों के नेत्रों को स्तम्भित करदेते हैं, ऐसे ही ऐन्द्रजालिक लोगों के परम गुरु योगियों का अन्तर्धान होना कुछ आश्चर्यजनक नहीं है ॥ २१ ॥

भ०० छ०—कावः शरीरं तंस्य रूपं चञ्चुर्ग्रह्यो गुणस्तस्मिन्नस्त्यस्मिन्कायेरूपमिति संयमाचस्य रूपस्य चञ्चुर्ग्रह्यत्वरूपा या शक्तिस्तस्याः स्तम्भे भावनावशात् प्रतिवन्धे चञ्चुःप्रकाशासंयोगे चञ्चुपःप्रकाशः संतवधर्मस्तस्यासंयोगे तद्ब्रह्मणव्यापाराभावे योगिनोऽन्तर्धानं भवति । न केनचिवद्भूते इत्यत इत्यर्थः । पतेनैवरूपाद्यान्तर्धानोपायप्रदर्शनेन शब्दादीना श्रोत्रादिग्राहाणामन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

भ०० छ० का भा०—काव्य शरीर को कहते हैं, उसका रूप नेत्रों से ग्रहण करने योग्य एक गुण है। उस काव्य के रूप ध्यान से जो संयम कियाजाता है उससे नेत्रों की ग्रहण करने वाली शक्ति का स्तम्भ हो जाता है अर्थात् भावना के प्रभाव से नेत्र की शक्ति का स्तम्भ होजाता है अर्थात् नेत्र का प्रकाश रुक्खाता है क्योंकि देखना मन का और दुखि का गुण है और उसके अभाव से योगी अन्तर्धान होजाता है तब कोई भी योगीको नहीं देख सकता है ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्मततसंयमादपरान्तः
ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

सू० का प०—(सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म)
सोपक्रमं और निरुपक्रमं जो हैं प्रकार के कर्म हैं

(तत् संयमात्) उन में संयम करने से (अपरान्त-ज्ञानम्) मृत्युका ज्ञान होता है (वा अरिष्टेभ्यः) अथवा द्रुःखों से मृत्युका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

सू० का भा०—सोपकम् और निरुपकम् फलों में संयम करने से द्रुःखों से योगी को मृत्यु का ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

च्या० दे० कु० भा०—आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं—सोपकर्म निरुपकर्म च । तत्र यथाद्वै वरत्रं वित्तान्तिरं लघीयसा कालेन शुद्ध्येत् तथा सोपकम् । यथा च तदेव समिथिदत्तम् चिरेण संशुद्ध्येत् पवनिरुपकम् । यथा वाग्निः सुष्के फक्ते मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः ज्ञेयसा कालेन दहेत्यथा सोपकम् । यथा वा सं-पवाग्निस्तुणाशौ क्रपशोऽवयवेषु न्यस्तविरेण दहेत्यथा निरुपकम् तदैकभविकमायुक्तरं कर्म द्विविधं सोपकर्म निरुप कर्म च । तत् संयमादपरान्तस्य गायणस्य ज्ञानपरिष्ठेभ्यो वेति । त्रिविश्यमरिष्टाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं चेति तत्राध्या-त्मिकं घोरं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति ज्योतिर्वा नेत्रेऽपृष्ठे न पश्यति । तथाभिभौतिकं यमपुरुपान्पश्यति, पितृनतीतान-कस्मात्पश्यति । तथाधिदैविकं स्वर्गमकस्मात् सिद्धान्वापश्यति । त्रिवरीतं वा सर्वमिति । अनेन वा जानात्परान्तं परणमृष्ट-स्थितमिति ॥ २२ ॥

भा० का प०—आयु अर्थात् जीवनं जिसका फल है वह कर्म दो प्रकार का है—सोपकम् और निरुपकम् । उन दोनों में जैसे जल से भीगे वस्त्र को लिंचोड़ कर फैलाने से बहुत ही थोड़े काल में वस्त्र दूखजाता है ऐसे ही सोपकम् कर्म बहुत शीघ्र फलजनक होता है और जैसे घटी वस्त्र तह करके रख देने से अधिक समय में सुखता है ऐसे ही निरुपकम् कर्म विलम्ब से अधिक समय में फल देता है । अथवा जैसे इग्नि सूखे लृणात्मूह में डालने और वायु की सहायता से शीघ्र दाढ़क हो जाना है ऐसे ही सोपकम् शीघ्रफलदाणक होता

है। वही अग्नि तुणसमूह के किंसी भागमें थोड़ी २ डालने से विलम्ब से जलावेगी पेसे ही निरुपक्रम कर्म फल देता है। इस रीति से एक जन्म के दो प्रकारके कर्म होते हैं—एक सोपक्रम और दूसरे निरुपक्रम। उन कर्मों में संयम करने से अथवा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान होता है। अरिष्ट तीन प्रकार का है—१ आध्यात्मिक, २-आधिभौतिक और ३-आधिदैविक। उनमें से आध्यात्मिक अरिष्ट उसे कहते हैं जिस में कान घन्द करने से शरीर के भीतर शब्द सुनाई नहीं देता, नेत्रों के रुक जाने से शरीर के भीतर प्रकाश को नहीं देखता, आधिभौतिक अरिष्ट का ऊरुच यह है कि यम के दूतों को छौट पितरों को देखता है। आधिदैविक अरिष्ट वह है कि जिसमें अचानक अधिक सुखवाले लोकों को सिद्धों को देखता है अथवा चिपरीत सब पदार्थों को देखता है इससे जानता है कि मृत्युकाल समीप है ॥ २२ ॥

भा० का भा०—पहिले जन्मों में किये दह कर्म जिस से वर्त्तमान जन्म की आशु वनी है दो प्रकारके हैं—एक सोपक्रम दूसरे निरुपक्रम। सोपक्रम कर्म वे हैं जिनका फल वर्त्तमान समय में मनुष्य भोगता है। जैसे वाम में गीले वस्त्र पसारने से शीघ्र सूखते हैं और वही छाया में तह करके रखने से घृत विलम्ब में सूखते हैं, इन्हीं दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से अर्थात् दृढ़ता के साथ यह चिन्तन करने से कि मेरे कर्म शीघ्र फल देने वाले हैं वा विलम्ब में फल देने पेसा संयम करने से योगी को अपनी मृत्यु का ज्ञान होजाता है। अथवा आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से योगी को अपनी मृत्यु का ज्ञान होजाता है ॥ २२ ॥

भो० वृ०—आशुर्विपाकं यत्पूर्वकृतं कर्म तद्द्विप्रकारं सोपक्रमं निरुपक्रमश्च। तत्र स्वेषक्रमं यत् फलजननायोपक्रमेण कार्यकरणा भिसुख्येन सह वर्त्तते। यथोपणप्रदेशे प्रसारिताद्वैवासः शीघ्रमेव शुभ्यति। उक्तविपरीतं निरुपक्रमं यथा तदेवाद्वैवासः लंबचित्तमनुप्णदेशे चिरेण शुभ्यति। तस्मिन् द्विविधे कर्मयि यः संयमं करोति कि ममकर्म शीघ्रविपाकं विरविषःकं वा, एवं ध्यानदादर्घदिपरान्त-ज्ञानमस्यातपद्यते। अपरान्तः शरीरवियोगस्तस्मिन् ज्ञानमसुभिन् कालेऽमृतिभ्यःदेशे भम शरीरवियोगो भविष्यतीति निःसंशयं जानाति। अरिष्टे भ्यो वा। अरिष्टानि त्रिविधानि आध्यात्मिकाधिभौतिका धिदैविकानि। तत्त्वाद्ध्यात्मिकानि पित्तिकर्णः कौष्ठ्यस्य वायोधोवं

न श्रणेतीत्येवमादीनि । आधिभौतिकानि अकस्माद्विकृतपुरुषदर्शनादीनि । आधिदैविकानि अकाशङ् पश्चद्वयु मशच्यस्यर्गाद्विपदायेदर्शनादीनि । तेभ्यः शरीरविद्योगका जानाति । यद्यपि अयोगिनामन्यरिष्टे भवः प्रायेण तज्जानमुत्पद्यते तथाऽपि तंपां सामान्याकारेण तत्संशयरूपं, योगिनां पुमनियतदेशकालतया प्रत्यक्षवद्व्यभिचारि २२

परिकर्मनिष्पादिताः सिद्धिः प्रतिपादियितुमाद—

भू० दू० का भा०-आयु ता विपाक जो पूर्व कियाहुआ कर्म है घटदो प्रकारका है एक सोपकम और दूसरा निरुपकम। सोपकम कर्म उन्हें कहते हैं जो घर्तमान कालमें फल देनेके घास्ते उद्यत हैं जैसे गर्भी भरेस्थानमें गीले (भीगे) घर्खको पसारने से शीघ्र दूखता है इससे विपरीत अर्थात् जो उल्टा है उसे निरुपकम कर्म कहते हैं । जैसे शीत प्रधात देश में रक्ता हुआ घस्त्र दिलय से सूखना है । इन दो प्रकार के कर्मों में जो संयम करना है अर्थात् विचारता है कि मेरे कर्म शीघ्र फल देनेघाले हैं वा विलम्ब से फल देने वाले हैं इस दृष्टियान से अपरान्त दान उत्पन्न होता है । अपरान्त मरने को कहते हैं अर्थात् योगी निश्चयपूर्वक जान जाता है कि अमुक समय में और अमुकदेश में मेरा मरण होगा अथवा तीन प्रकारके दुःखों से जो दान किया हुआ है वह प्रकाशित होजाता है । आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक यही तीन प्रकार के दुःख हैं, इन में से आध्यात्मिक दुःख द्वारा अन्तःकरण द्विरा रहता है इस कारण अन्तर्गत वायु का शब्द सुनाई नहीं देता है उस दुःख के द्वारा होने से वह शब्द सुन पड़ता है । आधिदैविक दुःख से भय-झर पुरुष का दर्शन होता है । आधिभौतिक दुःखसे अकालमें र्गादि का दर्शन होता है उस से अपनी मृत्यु का समय जाना जाता है यद्यपि वह बात अयोगी को भी होती है किंतु अयोगी को निपत्ति हान नहीं होता अर्थात् उस दान में संशय वना रहता है और योगी को निश्चय शूर्वक देश, काल का प्रत्यक्ष के समान दान होजाता है ॥२२॥ कर्मों का वर्णन किया, आगे सिद्धिः वैका वर्णन करेंगे ।

मैत्र्यादिषु वलानि ॥ २३ ॥

सू० का प०— (मैत्र्यादिषु) मैत्री आदि में संयम करने से (वलानि) वह प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

सू० का भा०—मैत्री, सुदिता और करुणा, में संयम करने से वल की वृद्धि होती है ॥ २३ ॥

व्या० भा०—मैत्री करुणा मुदितेति बिस्तोभावना स्तम्भ भूतेषु सुखितेषु मैत्रीभावयित्वा मैत्रीवलं लभते । दुःखितेषु करुणा भावयित्वा करुणावलं लभते । पुण्यशीत्येषु सुदिता भावयित्वा मुदितावलं लभते । भावनातः समाधिर्थः संस्यम स्ततो वलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते । प्रापशीत्येषु पेक्षा न्तु भावना । तत्थ तस्या नास्ति समाधिरिति अतो न वलमुपेक्षातस्तत्र संस्यमाभावादिति ॥ २३ ॥

भा० का पदा०—मैत्री, सुदिता और करुणा यह दो प्रकार की भावना हैं उनमें से सुखी प्राणियों में भित्रता की भावना करके भित्रता के वल को पाता है दुःखी प्राणियों में करुणा अर्थात् दया की भावना करने से दयाघन को पाता है धर्मात्माओं में प्रसन्नता की भावना करने से मुदितावल को पाता है भावना से समाधि होती है समाधि से संस्यम वल प्राप्त होता है अनिवार्य वल होते हैं अर्थात् उन शक्तियों का कोई प्रतिवन्ध नहीं करसकता पाप करने का स्वभाव है जिनका उनमें राग होता है इससे उनमें भावना नहीं होती इस ही कारण से उपेक्षा का वल सी नहीं होता क्योंकि उसमें संस्यम होना असम्भव है ॥ २३ ॥

भा० का भा०—पूर्व कही हुई मैत्री, सुदिता और करुणा, भावनाओं में संस्यम करने से मैत्रीवल, करुणावल और सुदितावल की वृद्धि होती है अर्थात् जब योगी सब सुखी प्राणियों को अपना भित्र समझता है तब उसको भी सब अपना भित्र समझने लगते हैं जब योगी दुःखी प्राणियों पर कृपा करता है तब उस पर भी सब कृपालु होते हैं और जब योगी सुदिता में संस्यम करता है अर्थात् पुण्यशीलों को देखकर प्रसन्न होता है तब उसको भी देख कर सब प्रसन्न होते हैं । अब यहाँ पर शक्ति होती है कि पूर्वपाद में दो प्रकार की भावना कही थीं किंतु इस स्तर में उपेक्षा का प्रतिवाग क्यों किया इसका उच्चर भाष्यकार यह देते हैं कि योगी योगी की

जो उपेक्षा अर्थात् स्याग कियाजाता है इससे उपेक्षा भावना नहीं कहला सकती इस से उस में समाधि ही 'नहीं होसकती' और 'समाधि के अभाव से उसमें संयम भी नहीं होसकता और यदि संयम ही न हुआ तो उसका घल कैसे होसकता है ॥ २६ ॥

भ० २०—मैत्रीकरणमुदितोपेक्षांसु ये विहितः संयमस्तस्य घलानि मैत्रांदीना सम्बन्धीनि प्रादुर्भवन्ति । मैत्रीकरणमुदितोपेक्षा-स्तथाऽस्य प्रकारं गच्छन्ति यथा सर्वेस्य मित्रत्यादिकमयं प्रतिपाद्यते २३

सिद्धयन्तरमाह—

भ० २० का भा०—मैत्री, करण, सुरिता और उपेक्षा में जो संयम किया जाता है उससे मैत्री आदि का घल प्राप्त होता है अर्थात् योगी की मैत्री आदि घटिकों प्राप्त होती हैं जिससे योगी यथा का मित्र बन जाता है ॥ २६ ॥

अत्ये दूसरी सिद्धि कहते हैं—

वलेषु हस्तिवलादीनि ॥ २४ ॥

सू० का पदा०—(वलेषु) घलों में संयम करने से (हस्तिवलादीनि) हस्तिवलादि प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

सू० का भा०—योगी जिसके घल में संयम करता है उसीके समान योगी को घल प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

ठ्या० दे० कु० भा०—हस्तिवले संयमाद्यस्तिवलो भवति । वैनतेयवले संयमाद्यनतेयवलो भवति । वायुवले संयमाद्यायुवलो भवतीत्येवमादि ॥ २४ ॥

भा० का भा०—हस्ति के घल में संयम करने से हस्तिके समान घल धाला होता है, वलवान् पक्षियों के घलमें संयम करने से उनके समान घलवान् होता है, वायु के घल में संयम करने से वायुके समान घलवान् होता है हस्तिवले अन्य घल भी ऐसे ही समझने एं

भा० का भा०—योगी समाधि समय में जिसके बलमें संयम करेगा उसके समान ही बलवान् हो जायगा ॥ २४ ॥

२४ स०—योगी को जो बल वृद्धि आदि सिद्धि प्राप्त होती है उसमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिया जासका है क्योंकि विकित्सा शास्त्र, ज्योतिष और योगविषय पैसे नहीं है जिनमें शब्दप्रमाण पर विश्वास करके अख्यात करली जाय बरन यह सब विषय पैसे हैं कि जिन पर खिना प्रत्यक्ष देखे कदापि विश्वास न करना चाहिये क्योंकि यदि किसी मूर्ख वैद्य के बचन पर विश्वास करके कोई अहितकारी औपधि खाले तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। पैसे ही किसी कच्चे योगी के कहने से यदि असुक्ति से ग्राणों का निरोध कर देठे तो मनुष्य के प्राणानाश में कोई सन्देह नहीं रहता है। इस से जो योगी योग किया में ज्युत्पन्न और सुचनुर हो उसही की बात पर विश्वास करके योग की सिद्धियों को प्रत्यक्ष करके देखना चाहिये। तथा ही इन सिद्धियों का मनुष्य पूरा पता पा सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

भा० च०—हस्तादिसम्बन्धिषु बलेषु कृतसंयमस्य तद्वलानि हस्तादिवलानि आविर्भवन्ति । तद्यमर्थः—यस्मिन् हस्तिवले वायु-वेग सिंहवीर्यं वा तन्मयीभावेनार्थं संयमं करोति तत्त्वामर्थ्ययुक्तं सत्त्वमस्य प्रादुर्भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

सिद्धपन्तरमाह—

भा० च० का भा०—हस्ती आदि के बलमें संयम करने से हस्ती आदि का बल प्राप्त होता है। अभिग्राय यह है कि हस्ती के बल, घोष वेग वा सिंहवीर्य में तन्मयभाव से जब योगी संयम करता है तब योगी के प्राण भी वैसे ही थलयुक्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥

और सिद्धि कहते हैं—

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

स० का पदा०—(प्रवृत्त्यालोकन्यासात्) प्रवृत्तिका जो आलोक अर्थात् प्रकाश उसके न्यास अर्थात् ज्ञान

के साथ संयोग करने से (सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्) सूक्ष्म, गुप्त और उच्चम अर्थों का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

सू० का भा०—पूर्वोक्त ज्योतिष्मती प्रवृत्ति को प्रकाश संयुक्त करने से योगी सूक्ष्म, व्यवहित और उच्चमोर्चम अर्थों को जान सकता है ॥ २५ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरूपा पूनसदत्स्यायमालोकस्तं योगो सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विशेषाण्टे वार्थं विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति ॥ २५ ॥

भा० का वदा०—पूर्वपाद में जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मन की कंही थी उसका जो प्रकाश उसको योगी सूक्ष्म, गुप्त वा उच्चमोर्चम अर्थ में लगा कर उस अर्थ को जान लेता है ॥ २५ ॥

भा० का भावात्मा०—पूर्वपाद में मन को जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही है उसको ज्योति के अर्थों के साथ सम्बन्ध करने से योगी सब प्रकार के अर्थों को जान लेता है ॥ २५ ॥

भ० कृ०—प्रवृत्तिविषयवती ज्योतिष्मती च प्रागुक्ता तस्या योऽसावालोकः सात्विकप्रकाशं प्रसारस्य निविलेषु विषयेषु न्यासात् नद्वासतानां विषयाणां भावनातोऽन्तःकरणेषु इन्द्रियेषु च प्रकृष्टशक्तिमापन्नेषु सूक्ष्मस्य परमारणवदेव्यवहिनस्य भूम्यत्वं तस्य निधानदेविप्रकृष्टस्य मेर्वपरपाश्ववर्तिनोरसादेवान्नमुत्पद्यते ॥ २५ ॥

एतत् समानवृत्तान्तं सिद्ध्यन्तरमाह-

भ० कृ० का भा०—ज्योतिष्मती और विषयवती जो प्रवृत्ति पूर्वोक्ते कही थीं उन से जो सात्विक प्रकाश फैलता है उस प्रकाश से जो संस्पृण विषय प्रकाशित होते हैं उन में संयम करने से योगी की इन्द्रियां शुद्ध और बलवान् हो जाती हैं इस कारण अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु आदि भूमिके भीतर जो छिपे हुए पदार्थ हैं और धड़े पदार्थ में ह पर्वत से पंखीपार जो रसातंत्र आदि देश हैं उन सबका ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

और भी सिद्धि कहते हैं—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्य का पदा०—(सूर्ये संयमात्) सूर्य में संयम करने से (भुवनज्ञानम्) जगत् का यथार्थ ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

सूर्य का भा०—सूर्ये में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

व्या० दे० कु० भा०—तत् प्रस्तारः सप्त लोकाः । तत्रावीचे: प्रभृति मेरूपृष्ठः यावदित्येवं भूर्लोकः । मेरूपृष्ठादारभ्य-आश्रु वात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः । ततः परः स्वलोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्तुतीयो लोकः । चतुर्थः प्राजापत्यो महलोकः । त्रिविधो ब्राह्मणः । तद्यथा—जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति ।

आंध्रस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ।

माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भूवि प्रजाः ॥ इति ॥

संग्रह श्लोकः । तत्रावीचेरुपस्तुपरि निविष्टाः परमदानरक-भूमयो घनसलिलानलानिलाकाशात्मःप्रतिष्ठाः प्रहाकालाम्बरीष-रौरुपहारौरुपकालसुत्रान्धतामिसाः । यत्र स्वकर्म्पोपाद्विर्जत दुःखवेदनः प्राणिनः कष्टमायुर्दीर्घमाक्षिप्य जायन्ते ततो प्रहातक्ष-रसातलात्तलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सम्पातालानि । भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः । तस्य राजतचैदूर्धर्षस्फटिकहेममणिमयानि शृंगाणि । तत्र वैदूर्धर्षप्रभानुरागानीलेत्पलपत्रस्यामो नभसो दक्षिणो भागः, रवेतः पूर्वः स्वच्छः पश्चिमः, कुरुएषकाभ उत्तरः । दक्षिण पाश्वे चास्य जम्बूर्योऽयं जम्बूद्वैपः । तस्य सूर्यप्रचारात् रात्रिनिदिवं लग्नमिव वर्तते । तस्य नीताश्वेतश्रृंगवन्तउद्दीचीना-

स १८ पर्वतः द्विषट्यथापाः । सद्वरेषु धीषि पर्वतिः तप
नय योजनाहत्याक्षिणि रथलयोः द्विषट्यथापाः कुरु इति ।
निषेवेष्टप्राचिकेपर्यन्ता दक्षिणातो द्विषट्यथापाः । सद्वरेषु धीषि
पर्वतिः तप नय योजनाहत्याक्षिणि दक्षिणाते किञ्चुकाते भारत-
पुरिः । शुभेराः प्राचीना गद्वाथपाल्यत भीमानः प्रतीचीनाः
केतुपालागन्धान्दनसीमानाः । यद्यां पर्वतिलाल्पतम् । सद्विषट्य-
थापाहत्याक्षिणि दक्षिणे तदर्थं न एषुक्षण् ।

स लग्नायशात्याहत्याक्षिणो जस्युक्तीपरपरो द्विषट्यथापो-
द्विषिता पलायकुमिना चेष्टिणाः । तत्त्वे द्विषट्यथापाः द्विषट्यथापाः
क्षीचक्षाद्वालामांसेष्ट (सद्व) षुक्तरहीपाः समुद्राश्च गर्भपराशिक्षिप्ताः
सत्यिचित्तपर्यन्तायतं सा इच्छुरात्युरात्यापिद्विषयपाल्पत्तोरत्वाददर्कः
सत्ता रामुद वरिषेद्विष्टा पलायकुमारो लोकान्तोकवर्षतपस्यात्ताः
एकनाशाणां गनकोटिपरिसंलग्नाताः । तदेवत तर्व्वे शुभविषित
संस्थानप्रदम्पद्यं एषुक्षण् । आपोद्वन्न प्रधानास्याल्पस्यवो
पथापादाशे स्वर्णीत इति ।

तत्र पालाले जत्तपी पर्वतेष्टेषु देवनिकाया असुरगत्पर्व-
किञ्चनरक्षिष्टप्रमाणपत्तारत्वाभूतमेवपिष्टाचापारमारकापरामासा-
पामाकुण्डागद्विषयकाः प्रतिवरपन्ति । सर्वेषु द्वोषेषु शुष्यात्पानो
देवप्रवृत्ताः ।

शुष्येष्टप्रदक्षिणानामूर्धानभिः । तत्र गिधपने नन्दने
द्विषट्यथ शुष्यात्पानभिष्टुप्तानाभिः । शुष्यमार्फ द्वेषताः । उदर्थीन
पुरम् । वैपान्ताः प्रापादः । ग्रहनप्राप्तारकास्तु भूये निषद्वा
पामूर्धिद्विषयमेवापलक्षितम् गाराः शुष्येरोक्षपुर्वपरि उच्चिपिष्टा-
द्विष्ट विष्टप्रिष्टर्वत्वं ।

गारेष्टद्विषयातिः पद्मेष्टविषयायाः विष्टशा अविषयात्ता
आस्यारसुपाणा आपेष्टविषयपथाविनश्चेति । तर्व्वे सङ्कल्प-

सिद्धा अणिमावैश्वर्योपपत्राः कल्पायुषो वृन्दारकाः काम-
भोगिन औपणादिकदेहा उचमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिचाराः।
महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः—कुमुदा
ऋपवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभाः इति । एते महाभू-
तवशिनो ध्यानादाराः कल्पसहस्रायुपः । प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके
चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहा-
कायिका अपरा इति । ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोचरायुपः।

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः आभास्वरा
महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति । ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो
द्विगुणद्विगुणोचरायुपः सर्वे ध्यानादारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वम्
प्रतिहनज्ञाना अधरंभूयिष्वनावृतज्ञानविषयाः । तृतीये ब्रह्मणः
सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अकृतप्रवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा
उपर्युपरिस्थिताः प्रधानवशिनो यावत् सर्गायुपः ।

तत्रात्य्युनाः सवितर्कध्यानसुखाः, शुद्धनिवासाः सविचार-
ध्यानसुखाः, सत्पामा आनन्दमोत्तरध्यानसुखाः, संज्ञासङ्खिन-
श्चास्मितामात्रध्यानसुखाः । तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति ।
त एते समलोकाः सर्वे एव ब्रह्मलोकाः । विदेहप्रकृतिलयास्तु
मोक्षपदे वत्तन्त इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति । एतद्योगिना
साज्ञातकर्त्तव्यं सूर्यर्घद्वारे संयमं कृत्वा, ततोऽन्यत्रापि एवं
तावदभ्युसेद्यावदिवं सर्वे दृष्टिप्रिति ॥ २६ ॥

भा० का ४०—भुवन का प्रस्तार अर्थात् विस्तार यो है सात
लोक हैं उनमें से ध्रुव से लोकर मेरुपृष्ठ पर्यन्त भूलोक कहाता है
मेरुपृष्ठ से ध्रुवपर्यन्त सूर्योदि ग्रह अविवनी आदि नक्षत्र और
अरुन्धती आदि तारा से पूर्ण जो लोक हैं उसे अन्तरिक्ष लोक
कहते हैं इसके परे पांच प्रकार का स्वलोक है तीसरा लोक माहेन्द्र
कहाता है चौथा प्राजापत्य महलोक है तद्वनन्तर तीन प्रकार का
ब्रह्मलोक है जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक । ऐसा ही अन्यत्र

भी कहा है—तीन प्राणात् का घटलोक है प्राजापत्य गतलोक है मातृन्द्र स्वलोक है, अन्तरद्ध में तारा और पूर्वी में प्रजा रहती है; इत्यादि ॥ २६ ॥

भा० का भा०-महर्षि व्यासदेवके भाष्य का भविप्राय यह है कि सूर्य में संयम करने से घटलोकादि उद्धर्वलोक और इत्यात्मा आदि अधस्थित लोकों का योगी पो दान होता है । इस भाष्य में संग्रह शब्दों के पूर्व जो इति शब्द है घटोंतक भाष्य यही खमाति प्रतीत होती है और उससे लाते का भाष्य प्रचिन जान पछता है पर्योक्ति इस भाष्य में जो हृषी तथा समुद्रों वा विश्वार लिया है पर व्योतिराशास्त्र के सिद्धान्तप्रश्नों से विचल है इसके अनिक दो दो और तीन तीन सात्क वर्षों की अवश्या भी इनमें लियी है और वेदों में सगकी शब्दभ्या का प्रयाण १०० वर्ष लिया है यद्यपि योग से अधस्था छी पूरिं द्वातकी है परन्तु यह दण्डनो अधिक नहीं होमफली है । वेदविभव दोनों से इसी के पश्चात् का भाष्य माननीय नहीं होसकता है इस ही वारण भाष्य के पदार्थ में इनि पर्यन्त भाष्य का ही प्रहरण किया है ।

विशेष—सूर्य अनन्द इनशब्दों से योगशास्त्र में वाहन के सूर्यादि का प्रदण नहीं है किंतु शरीरस्थ ही सूर्यादि का प्रदण होता है पर्योग द्वारा सूर्यादिकों में संयम करने का कोई नियम नहीं लिया जाय विभूतिपाद में उस के द्वारा सिद्धिनी प्राप्ति कैसे काइ सकते हैं, इस लिये शारीरस्थ इडा नाड़ी जो द्वितीय भाग से चलती है उसे सूर्य को और धाम और सेरिंगला नाड़ी वहनी है उसे चन्द्र एवम् मध्यस्थ शुषुप्त्या नाड़ी को ध्रुव कहते हैं और जो सूप्र के भाष्य में सम्बलोक कहा है वे योग भी सप्तभूमिका हैं । महाराज भोज विरचित शृस्तियों से जान पठता है कि यह पूर्वसूप्र में आन्तरिक प्रगता और इस सूप्र में यात्रा प्रकाश या घटणा मानते हैं तो दस से यह भी सिद्ध होता है कि यात्रा विषय अर्थात् प्रत्यक्ष लोकिक सूर्यादि में संयम करने का ही उन का भविप्राय है परन्तु भगवान् भाष्यकार ने सूर्य शब्द से शरीर की उस नाड़ी का भ्रहण किया है जो पीठ के मेहदागड़ की दाढ़िनी और से चलती है और उस में संयम होना भी सम्भव है परसे ही चन्द्रमा के और ध्रुव के संयम को भी जाना

भूकुटि के मध्य में जो तारे के समान एक प्रकाश है उसे तारा कहते हैं ॥ २६ ॥

भा० वृ०—सूर्येनप्रकाशमये यः संयमं करोति तस्य सप्त-
सु भूमुखः स्वः प्रभूनिषु लोकेषु यानि भुवनानि नचत् सन्निवेशमाङ्गि-
स्थानानि तेषु यथावदस्य ज्ञानमुत्पद्यते । पूर्वस्मिन् सूत्रे सात्त्विक
प्रकाश आलम्बनतयोक्त इह तु भौतिक इति विशेषः ॥ २६ ॥

भौतिकप्रकाशालम्बनद्वारेणैवसिद्ध्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—प्रकाश के निमित्त 'जो सूर्य में संयम
करना है उसको भूलोक भुवर्लोक और स्वलोक में जितने भुवन हैं
और उनमें सन्निवेश रखने वाले जो स्थान हैं उन सब के विषय में
संयमी को यथार्थ ज्ञान होता है । पहिले सूत्र में सात्त्विक प्रकाश
का चर्णन किया था और इस सूत्र में भौतिक प्रकाश का चर्णन किया
है यही इन दोनों सूत्रों में 'मेद है ॥ २६ ॥

भौतिक प्रकाशमें संयम करनेसे और सिद्धिका चर्णन करते हैं:-

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २८ ॥

सृ० का पदा० (चन्द्रे) चन्द्रमा में संयम करने
से (ताराव्यूहज्ञानम्) नक्षत्रों के समूह का ज्ञान
होता है ॥ २७ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं विजानीयात्

भा० का प०—चन्द्रमा में चित्तवृच्छि को लगा कर ताराओं की
शास्त्रि को जाने ॥ २७ ॥

भा० का भा०—रुपए है ॥ २७ ॥

भो० वृ०—ताराणां ज्योतिषां यो व्यूहो विशिष्टः सन्निवेशस्तस्य
चन्द्रे कृत्वा यमस्य ज्ञानमुत्पद्यते । सूर्येनप्रकाशेन हततेजस्कत्वाच्चा-
रणा सूर्यसंयमाच्चज्ञानं न भवितुमर्हतीति पृथगुपायोऽभिहितः २७
सिद्धाव्यन्तरमाह—

भो० वृ० का भा०—तारागण का 'जो समूह उसका विशेष ज्ञान
चन्द्रमा में संयम करने से उत्पन्न होता है । तारागण का तेज सूर्य

के प्रकाश से विनष्ट हो जाता है इस लिए मूर्च्छ में संयम करने से उनका शान नहीं हो सकता है इस कारण यह दूसरा उपाय उन के हान का काफ़ा है ॥ २४ ॥

दूसरी सिद्धि कहते हैं—

भ्रुवे तद्विज्ञानम् ॥ २५ ॥

सू० का प०—(ध्रुवं) ध्रुव नामक नक्षत्र में संयम करने से (तद्विज्ञानम्) तारागण की गति का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

सू० का भा०—ध्रुव में संयम करने से तारों की गति का ज्ञान होता है ॥ २५ ॥

व्या० दे० कु० भा०—ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं विजानीयात् । उद्वर्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात् ॥ २५ ॥

भा० का प०—इस के पश्चात् ध्रुव नामक तारे में संयम करके नक्षत्रों की चाल को जाने उद्वर्वगामी विमानों में संयम करके उन में संयम करके विमानों को जाने ॥ २५ ॥

भा० का भा०—योगी को उचित है कि ध्रुव में संयम करके तारों की गति को जाने और ऊद्वर्वगामी विमानों में संयम करके विमानों को भी जानले ॥ २५ ॥

भो० वू०—ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने कृतसंयमस्य तासां ताराणां या गतिः प्रत्येकं नियतकालानियतदेशा च तस्या ज्ञानमुत्पद्यते । इथं ताराऽयं प्रत्य दृयता चालेनामुराशिमिदं नक्षत्रं यास्यतीति सर्वं जानाति । इदं कालशानमस्य फलमित्युक्तं भवति ॥ २५ ॥

धारणा: सिद्धीः प्रतिपादान्तरा सिद्धीः प्रतिपादयितुमुपकमते-

भो० वू० का भा०—तारागण में जो प्रधान और निश्चल ध्रुव है उस में संयम करने से तारों की जो गति है अर्थात् किस ध्रुव के आधार से किस तारा की कितने समय में गति होती है यदि ज्ञान

होता है। फलितार्थ यह है कि योगी निश्चयपूर्वक जानजाता है कि यह तादा और यह ग्रेह इतने कालमें असुखराशि वा अमुक नक्षत्र पर पहुँचेगा, यह योगी को कालशान होता है ॥ २८ ॥

वाहा सिद्धियों का वर्णन करके आगे आन्तरिक सिद्धियों का वर्णन करेंगे—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

मू० का प०—(नाभिचक्रे) चक्राकार नाभि में (कायव्यूहज्ञानम्) शरीर के समुदाय का ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

सू० का भा०—नाभिचक्र में संयम करने से शरीरस्थ सब पदार्थों का ज्ञान होता है ॥ २९ ॥

दृष्टा० द० कृ० भा०—नाभिचक्रे संयम कृत्वा कायव्यूह विजानीयात् । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोपाः । धातवः सूतं त्वग्लोहितं भास्त्राशुक्राणिं पूर्वं पूर्वमेषां नाभिचक्रे विन्यासः ॥ २९ ॥

भा० का प०—नाभिचक्र में चित्त की वृत्तिको स्थिर करने से काया के समूह को जाने। वात पित्त और कफ यह ३ दोष शरीर में रहते हैं और सामं धातु हैं चंस्मै, स्थिर, मांस, नस, हड्डी, चर्वी और बीर्य इन में जो ३ पूर्व हैं वह क्रमशः वाहा हैं यह इनको स्थिति का क्रम है।

भा० का भा०—नाभि में शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है शरीर में वातादि ३ दोष और त्वग्गादि सात धातु हैं। धातुओं की स्थिति का नियम यह है कि उच्चरोत्तर अन्तरंग हैं इन्हीं से सब का शरीर स्थिर रहता है ॥ २९ ॥

भ० वृ०—शरीरस्थित्यवर्ति नाभिसंहाकं यत् पोडशोकारं चक्रं त्वस्मिन् कृनसंयमस्य योगिनः कायगतोयोऽन्वै व्यूहो विशिष्टप्रसमलः धातुनाव्यादीनामंवस्थानं तत्रं ज्ञानंसुत्पद्यते। इदमुक्तं भवति—नाभि

चक्रं शरीरमध्यवर्ति सर्वतः प्रसृतानां नाड्यादीनां मूलभूतमतस्तत्र
कृतावधानस्य समप्रसन्निवेशो यथावदाभाति ॥ २६ ॥

सिद्धयन्तरमाद—

भौ० चू० का भा०—शरीर के भीतर जो नाभिचक १६ आकार
का है उस में जो योगी संयम करता है उस को कायब्युह अर्थात्
विशेष रस, मल, धातु और नाड़ी आदियों के स्थान का शान उत्पन्न
होता है, अभिप्राय यह है कि नाभिचक शरीर के मध्य में है और
शरीर में जितनी नाड़ियाँ फैली हुई हैं उन सबका मूल नाभिचक है
अतएव उसमें जो संयम करता है उसे सब नाड़ियों का यथार्थ
शान होजाता है ॥ २६ ॥

कण्ठकूपे ज्ञुतिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

सू० का पदार्थ—(कण्ठकूपे) कण्ठ के नीचे
(ज्ञुतिपासानिवृत्तिः) ज्ञुधा और प्यास की निवृत्ति
होजाती है ॥ ३० ॥

सू० का भा०—कण्ठ के नीचे कूप में संयम करने से भूख और
प्यास निवृत्त होजाती है ॥ ३० ॥

ध्या० दे० कू० भा०—जिहाया अधस्तात् तन्तुस्तन्तोर-
धस्तात्कण्ठस्तोऽधस्तात् कूपस्तकं संयमात् ज्ञुतिपासे न
वाधेते ॥ ३० ॥

भा० का प०—जिहा के नीचे सूक्ष्म के समान एक नस है उस
तन्तु के अधोभाग में कण्ठस्थान है कण्ठ के अधोभाग में कूप
अर्थात् गम्भीर छिद्र है उस कूप में संयम से ज्ञुधा और रुपा दुःख
नहीं देती है ॥ ३० ॥

भा० का भा०—जिहा के अधोभाग में तन्तु तन्तु के अधोभाग में
कण्ठ और कण्ठ के नीचे कूप है उस कूप में जब योगी संयम करता
है तब उसे ज्ञुधा और पिपासा नहीं सतातीं ॥ ३० ॥

भौ० चू०—कण्ठे गते कूपः कण्ठकूपः, जिहामूले जिहातन्तोर-

धस्तात् कूप इव कूपे गत्तिकारः प्रदेशः प्राणादेर्यत्सम्पर्कात्कुरुत्
पिवासादयः प्रादुर्भवन्ति तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः चूतपिपासा
दयो निवर्त्तन्ते । घण्टिकाधस्तात् स्रोतसा धार्यमाणे तस्मिन्
भाविते भूत्येवंविधा सिद्धिः ॥ ३० ॥ सिद्धयन्तरमाह-

भौ० वृ० का भा०—करण में जिहा की जड़ में जिहा तनु के नीचे
जो गड़े के आकार का करणकूप है इसही में प्राणों के सम्पर्क से
भूख और प्यास लगती है, उस में संयम करने से योगी को भूख
प्यास का दुःख प्रतीत नहीं होता । यह सिद्धि जिहाके मूलमें घाँटी
नामक संयम करने से होती है ॥ ३० ॥ और सिद्धि कहते हैं—

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

सू० का प०—(कूर्मनाड्याम्) कूर्मनाडी में
(स्थैर्यम्) स्थिरता होती है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—कूर्मनाडी में संयम करने से योगी के चित्त की
स्थिरता होती है ॥ ३१ ॥

व्या० दे० भा०—कूपादध उरसि कूर्मकारा नाडी तस्यां
कृतसंयमः स्थिरपदं लभते । यथा सर्पो गोधा वेति ॥ ३१ ॥

भा० का प०—कूप के नीचे वक्षःस्थल में कच्छुप के शंशीराकार
के समान एक नाडी है उस में संयम करने से अचल यदि प्राप्ति
होती है जैसे सर्प अथवा गोह ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—पूर्व सत्रमें कहे कूप से नीचे वक्षःस्थल में कच्छुप के
शंशीर के समान एक नाडी है जिसे कूर्मनाडी कहते हैं उस में संयम
करने से योगी को स्थिरपद की प्राप्ति होती है जैसे सर्प वा गोह
अपने घर में जाकर चञ्चलता वा करता को त्याग देते हैं ऐसे ही
योगी का चित्त इस नाडी में आकर स्थिर हो जाता है ॥ ३१ ॥

भौ० वृ०—करणकूपस्याधस्ताद्या कूर्मख्या नाडी तस्यां कृत-
संयमस्य वेतसः स्थैर्यमुत्पद्यते । तत्पूर्णानमनुप्रविष्टस्य चञ्चलता न
भवतीत्यर्थः । यदि वा कायस्य स्थैर्यमुत्पद्यते न केनचित्स्पृद्यितुं
शक्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ सिद्धयन्तरमाह—

भो० शू० का भा०—करणकूप के नीचे जो कुर्मनाड़ी है उसमें संयम करने से विच्च की स्थिरता होती है अर्थात् उस स्थान में जब विच्च जाता है तब चंचलताको त्याग देता है यदि काया में स्थिरता प्राप्त हो जाय तो कोई भी घल फिर नहीं सकता । दूसरी सिद्धि फिर कहते हैं—

मूर्धज्योतिपि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

सू० का प०—(मूर्धज्योतिषि) कपाल की ज्योति में (सिद्धदर्शनम्) सिद्धों का दर्शन होता है ॥ ३२ ॥

शू० का भावार्थ—कपालस्थ ज्योति में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है ॥ ३२ ॥

व्या० भाव्य—शिरःकपालेऽन्तश्चिद्रं प्रभास्वरं ज्योति-स्त्रं संयमात्सद्गानां धांवापृथिव्योरन्तरालचारिणा दर्शनं भवति ॥ ३२ ॥

भा० का प०—शिर के कपाल के भीतर पक छिद्र होता है उस में अत्यन्त प्रकाशमान पक ज्योति है उस में संयम करने से जो सिद्ध पृथिवी और आन्तरिक्ष के मध्य में फिरा करते हैं उन के दर्शन होते हैं ॥ ३२ ॥

भा० का भा०—कपाल के मध्य में पक छिद्र है उसमें अत्यन्त प्रकाशयुक जो ज्योति है उसमें संयम करने से आन्तरिक्ष में विचरने वाले महात्माओं के दर्शन होते हैं ॥ ३२ ॥

इ२ सू०—सिर अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाश का आधार है जैसे अन्तरिक्ष स्थित सूर्यादि ग्रहों का भूमि में प्रकाश फैलता है ऐसे ही मूर्छों की ज्योति का प्रकाश हृदय में फैलता है । यद्वा हृदय का सात्त्विक प्रकाश सिर में जाके पुष्ट होता है उस प्रकाश में संयम करने से पृथिवी में घूमने वाले सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है । यह सिद्धज्ञन और लोगों को नहीं दीखते हैं ॥ ३२ ॥

भो० शू०—शिरःकपाले ब्रह्मरन्ध्राख्यं छिद्रं प्रकाशाधारत्वात् ज्योतिः । यथा गृहाभ्यन्तररस्थस्य मणेः प्रसरन्ती प्रभा कुञ्जिताकारेष्व सर्वप्रदेशे संघटते तथा हृदयस्थः सात्त्विकः प्रकाशः प्रसूतस्तप्त

संपिणिडतत्वं भजते । तत्र कृतसंयमस्य ये द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्निः
सिद्धा दिव्याः पुरुषास्तेषामितरप्राणिभिरहश्यानां तस्य दर्शनम्भवति ।
तान्पश्यति तैश्च स सम्भावत् इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

सर्वज्ञत्वं उपायमाह—

मोजबुचि का भा०—सिर के कपाल में जो ब्रह्मरन्ध नामक
छिद्र है उस में प्रकाश रूप ज्योति है जैसे घर के भीतर रक्खी मणि
का प्रकाश सब घर में फैलता है ऐसे ही हृदय के भीतर सात्त्विक
प्रकाश जो सब शरीर में फैला है वह ब्रह्मरन्ध में इकट्ठा रहता है
उस प्रकाश में जो संयम करता है उसे पृथिवीं और अन्तरिक्ष के
मध्य में रहने वाले सिद्ध आर्थात् दिव्य पुरुष जो दूसरे प्राणियों को
नहीं दीखते हैं वे योगी को दीखते हैं और योगी से उन को वाचां-
लाप भी होता है ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञत्व का उपाय कहते हैं—

प्रातिभाद्रा सर्वम् ॥ ३३ ॥

सू० का प०—(प्रातिभाद्रा) अथवा प्रातिभ नामक
तारा जो हृदय में है उस के ज्ञात्र से (सर्वम्) सम्पूर्णं
ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

सू० का भा०—प्रातिभ के ज्ञान से योगी को सब ज्ञात होता
है ॥ ३३ ॥

व्यास भा०—प्रातिभ नाम तारकं तद्विवेचकस्य ज्ञानस्य
पूर्वरूपम् । यथोदये प्रभा भाकरस्य । तेन वा सर्वमेव जानाति
योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥ ३३ ॥

भा० का पदार्थ—प्रातिभ नामक एक तारा है उसका ज्ञान
विवेचक द्वारा उत्पन्न हुए सत्य ज्ञान का पूर्वरूप अर्थात् लक्षण है ।
जैसे अस्त्रोदय सूर्योदय का लक्षण है इस प्रातिभ ज्ञान से योगी को
सम्पूर्ण ज्ञान होता है ॥ ३३ ॥

भा० का भा०—पूर्वोक्त कपालस्थ ज्योति के अन्तर्गत एक प्रातिभ
नामक तारा है इस तारे का नाम प्रातिभ इस लिये है कि यह समस्त

प्रतिभावों (वृद्धियों) का मूल है, उसमें संयम करने से जो ज्ञान होता है वह प्रातिभाव ज्ञान कहाता है । यह प्रातिभावान होने से योगी को संचूणि ज्ञानों का उदय होता है, क्योंकि यहीं होने प्रसाजन्य ज्ञान का पूर्वरूप है ॥ ३३ ॥

३१ स०—इस सूत्र के भाष्य में भगवान् व्यासदेव ने मूर्ढा में स्थित एक विलक्षण प्रातिभाव नामक तारा माना है (इस तारे का स्थान दोनों भौंहों के धीर्घ में लिखा है), और उसमें संयम करने से सब सिद्धि मिलती है, किन्तु महाराज भोज ने किसी निमित्त की अपेक्षा न करके जो स्वाभाविक ज्ञान मन में उत्पन्न होता है उसको प्रतिभा माना है, इस प्रतिभा में संयम करने से सब सिद्धि प्राप्त होती हैं, भाष्य में लिखी प्रभा का अर्थ यथार्थज्ञान है । सूत्र में सर्व शब्द है, उससे कितने ही पंडित अनुमान करते हैं कि महर्षि पतञ्जलि ने इस ही सूत्र तक योगसिद्धि धर्णन की है वे लोग सर्व शब्द में “सामान्यं नपुंसकम्” इस निर्देश से सिद्धि अर्थ लेने पर भी नपुंसकता को शुद्ध समझते हैं परन्तु दूसरे लोग “सर्वम्” से विशेष ज्ञान को मानते हैं किन्तु प्रातिभाव का अर्थ भी ज्ञान ही है तब सारार्थ यह होगा कि ज्ञान में संयम करने से सब ज्ञानों की प्राप्ति होती है ॥ ३३ ॥

भो० व०—निमित्तानपेक्षं मनोमात्रजन्यमविसंघावकं द्रागुत्पद्य-
मावं ज्ञानं प्रतिभा । तस्यां संयमे क्रियमाणे प्रातिभं विवेकख्यातेः पूर्व
भावि तारकं ज्ञानमुद्देति । यथोदेव्यति सवितरि पूर्वं प्रभा प्रादुर्भवति
तद्विवेकख्यातेः पूर्वविभावकं सर्वविषयं ज्ञानमुत्पद्यते तस्मिन् सति
संयमान्तरानपेक्षः सर्वं जानातीत्यर्थः ॥ ३३ ॥ सिद्ध्यन्तरमाह-

भो० व० का भा०—किसी कारण की अपेक्षा न रखने वाला केवल मन से उत्पन्न हुआ विज्ञानभगड़े का ज्ञान प्रतिभा कहाता है; उस प्रतिभा में संयम करने से प्रातिभाव ज्ञान जो विवेकख्याति का पूर्वरूप है उत्पन्न होता है जैसे सूर्य के उदय होने से पूर्व प्रभा फैल जाती है ऐसी ही विवेकख्याति के पूर्व सर्व विषयों का ज्ञान योगी को उत्पन्न होता है । उसके उत्पन्न होने से योगी को और संयमों की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ३३ ॥

दूसरी सिद्धि कहते हैं ।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

स० का पदार्थ—(हृदये) हृदयमें (चित्तसंवित्) चित्तका ज्ञान होता है ।

स० का भाव—हृदय में संयम करने से योगी को चित्त का ज्ञान होता है ।

ब्र्या० भा०—यदिंदप्रसिद्धं ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वैशम तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

भा० का पदार्थ—यह जो ब्रह्मपुर अर्थात् हृदयस्थल में दहर अर्थात् जो तड़ाग के समान स्थल है उसमें कमल स्थानोपन्न ज्ञान रहता है उसमें संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

भा० का भावार्थ—हृदय का मध्यस्थान १ तड़ाग के तुल्य है उसमें संयम करने से चित्तज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

वैरं स०—हृदये शरीर का एक अङ्ग है उसमें नीचे को मुखचाला एक कमल है उसकी में चारों अन्तःकरण हैं अन्तःकरण में संयम करने से योगी को अपने और पराये चित्त का ज्ञान होता है अर्थात् अपने चित्त की सम्पूर्ण चांसनाओं को और पराये चित्त के रागादि को योगी जान सेता है ॥ ३४ ॥

भौ० वृ०—हृदये शरीरस्य प्रवेशविशेषस्तस्मिन्नधोमुख स्वल्प पुण्डरीकाभ्यन्तरेन्तः करणसंवृत्तस्य स्थानं तत्र कृतसंयमस्य स्वपरं चित्तज्ञानमुत्पद्यते । स्वचित्तगताः सर्वावासनाः परचित्तगतांश्च रागादीन् जानातीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

सिद्धं यन्तरमाह-

भोवृ० का भाव—शरीर का विशेष स्थान हृदय है उसमें आधो मुख कमल के भीतर अन्तःकरण का स्थान है उस में संयम करने से अपने और दूसरे के चित्त का ज्ञान योगी को होता है अर्थात् अपने चित्त के सम्पूर्ण विषयों को और दूसरे के चित्त के रागादि को योगी जान जाता है ॥ ३५ ॥

आगे और सिद्धि कहेंगे ।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययविशेषो भोगः
परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

सू० का पदा०—(सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः) बुद्धि और पुरुष जो अत्यन्त भिन्न है (प्रत्ययविशेषो भोगः) उनकी एकता का ज्ञान भोग कहा है (परार्थ-त्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्) परार्थ के विचार से और स्वार्थ के संघम से पुरुष का ज्ञान होता है ॥३५॥

सू० का भा०— बुद्धि जो पुरुष से अत्यन्त भिन्न है, किन्तु अज्ञान से जो उनकी पक्ता मानी जाती है उसे भोग कहते हैं अतएव स्वार्थ संयम से योगी को पुरुषज्ञान अर्थात् जीव का ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

ध्या० दे० कृ० भा०—बुद्धिसत्त्वं प्रख्याधीलं समान-
सत्त्वोपनिवन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन
परिणातम् । तस्माच्च सत्त्वात् परिणामिनोऽत्यन्तविधमर्मा
विशुद्धोऽन्यश्चित्तिमात्ररूपः पुरुषः । तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः
प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य द्रव्यीत्विप्रयत्वात् । स भोगप्रत्ययः
सत्त्वस्य परार्थत्वाददृश्यः ।

यस्तु तस्माद्विशिष्टचित्तिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र
संयमात् पुरुषविप्रया प्रक्षा जायते । त च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धि-
सत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते । पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्माच-
लम्बनं पश्यति । तथा शुक्तम् ‘विज्ञातारमरं केन विजानीयात्’
(वृ० २ । ४ । १४) इति ॥ ३५ ॥

भा० का पदा०—बुद्धि विचाररूप ज्ञान है जीव में अज्ञान से
उसका आरोप करने से बुद्धि जीवरूप से प्रतीत होती है
उस परिणामिनी बुद्धि से भिन्न ज्ञानस्वरूप जीव है उक दोनों

में जो अत्यन्तं भिन्न हैं अभैर्द ज्ञान को भोग कहते हैं जो उस भोग से शुक है और भोग्य तथा साधन से भिन्न ज्ञानस्वरूप है उस पुरुष में संयम करने से पुरुषविषयिणी बुद्धि उत्पन्न होती है किन्तु यह ज्ञान जीव ही को होना है न कि बुद्धि को; जैसा कि वृहद्ब्रह्मण्यक उपनिषद् में कहा है—“ज्ञानने ज्ञाले को किससे जाने ?” ॥ ३५ ॥

भो० वृ०—सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकः प्राधानिकः परिणामविशेषः । पुरुषो भोक्ताऽधिष्ठात्ररूपः । तयोरत्यन्तासांकीर्णयोर्मोक्तरूपत्वात् क्षेत्रात्तत्त्वात्तच भिन्नयोर्ये प्रत्ययस्याविशेषो भेदेनाप्रतिभासनं तस्मात् सत्त्वस्यैव कर्त्ताप्रत्ययेन या सुखदुःखसंवित् स भोगः । सत्त्वस्य स्वार्थनैरपेक्षेण परार्थः पुरुषर्थनिमित्तस्तस्मादन्यो यः स्वार्थः पुरुषस्वरूपमात्रालभ्वनः परित्यक्ताहक्षरसत्त्वे या चिच्छाया संकान्तिस्तत्र कृतसंयमस्य पुरुषविषयं ज्ञानसुत्पद्यते । तत्र तदेवं रूपं स्वात्मनं ज्ञानं सत्त्वनिष्ठः पुरुषो जानातीत्यर्थः । न पुनः पुरुषो ज्ञाता ज्ञानस्य विषयभावमापयते । ज्ञेयत्वापत्ते ज्ञात्वा ज्ञेययोरत्यन्तविरोधात् ॥ ३५ ॥

अस्यैव संयमस्य फलमाह-

भो० वृ० का भा०—प्रकाश और सुखात्मक प्रधान परिणाम को सत्य कहते हैं, भोग के अधिष्ठाता को पुरुष कहते हैं, भोग्य और भोक्ता भाव से यह दोनों अत्यन्तं भिन्न हैं तथा सत्त्व जड़ और पुरुष चेतन है, जड़ और चेतन भाव से भी इन दोनों में अत्यन्त भेद है तो भी दोनों की जो पेक्ता ज्ञान है अर्थात् सत्त्व में ही कर्ता-पक्ता वांध होता है और उस से जो सुख दुःख का ज्ञान होता है उसे भोग कहते हैं। परन्तु सत्त्व जड़ है इस कारण उसमें स्वार्थ नहीं हो सकता है अतएव भोग्य पदार्थ पुरुष के निमित्त है, इस सूक्ष्म भाव में अहक्षार त्याग कर जो संयम करता है उसको पुरुष का व्याधार्थज्ञानं उत्पन्न होता है, अभिप्राय यह है कि सत्त्व विद्यत ज्ञान को सातत्व जाना जाता है किन्तु पुरुष ज्ञाता ज्ञानं भाव में परिवर्तित नहीं हो जाता क्योंकि ऐसा होने से ज्ञाता ही ज्ञेय हो जायगा परन्तु ज्ञाता और हेत्य में बड़ा भेद है ॥ ३५ ॥

इस संयम के फल को आगे कहते हैं—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ३६

सू० का पदार्थ—(ततः) इसके अनेन्तर (प्राति-
भश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता) प्रातिभ अर्थात् बुद्धि-
बर्द्धक, आवण दिव्यश्रवण, दिव्यस्पर्श, दिव्यदृष्टि,
दिव्यरसज्ञान और दिव्य गन्ध ज्ञान (जायन्ते) उत्पन्न
होते हैं ॥ ३६ ॥

सू० का भा०—सत्य और पुरुष के भेद ज्ञान में संयम करने से
दिव्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं ॥ ३६ ॥

व्या० दे० का भा०—प्रातिभावु सूच्चपञ्चदहितविप्रकृष्टा-
तीतानागतज्ञानस् । आवणादिव्यशब्दश्रवणम् । वेदनादिव्यपृष्ठश-
धिगमः । आदर्शादिव्यरूपसंवित् । आस्वादादिव्यरससंवित् वा-
क्षातो दिव्यगन्धविज्ञानमित्येतानि नित्यं जायन्ते ॥ ३६ ॥

भा० का पदार्थ—प्रतिभा सम्बन्धी ज्ञान से सूक्ष्म, गुप्त, दूर,
भूत और भविष्य का ज्ञान होता है, कर्ण सम्बन्धी ज्ञान से दिव्य
शब्द का अर्थण होता है, वेदना से दिव्यस्पर्श का ज्ञान होना है, आदर्श
अर्थात् नेत्र इन्द्रिय से दिव्यरूप का ज्ञान होता है जिह्वा से दिव्य
रस का ज्ञान होता है, नासिका से दिव्य गन्ध का ज्ञान होता है यह
ज्ञान नित्य ही होते हैं ॥ ३६ ॥

भा० का भावा०—जब योगी को पुरुष का ज्ञान हो जाता है अतः
पश्यत् गुप्त, सूक्ष्म, दूर भूत और भविष्य तथा दिव्य श्रवणाद् ज्ञान
उत्पन्न होते हैं, इस सूत्र का यह भी अर्थ होता है कि श्रवणादिकों
में संयम करने से दिव्य श्रवणादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं ।

ओ० बृ०—ततः पुरुषसंयमादभ्यस्यमानात् व्युत्थितस्यापि
ज्ञानानि जायन्ते । तत्र प्रातिभं पूर्वोक्तं ज्ञानं तस्याचिभावात् सूक्ष्मा-
दिक्कमर्थं पश्यति । आवणं थोड़ेन्द्रिय ज्ञानं तस्माद्ब्रं प्रकृष्टं दिव्यं
शब्दं ज्ञानाति । वेदना स्पर्शेन्द्रियजं ज्ञानं वेद्यतेऽनपेति कृत्यानन्त्रि-
ष्या संज्ञया व्यवहित्यते । तस्मात् दिव्यपृष्ठश्चित्यन्यं ज्ञानं समुपजायते
आदर्शश्चुरन्द्रियजं ज्ञानम् । आसमन्तात् दश्यतेऽनुभूयते संपर्मने-

नेति कृत्वा, तस्य प्रकर्षाद्विव्यं सूष्मानमुत्पद्यते । आस्त्रादो रसनेन्द्रियं जं ज्ञानम् । आस्थाधतेऽनेति कृत्वा, तस्मिन् प्रकृष्टे द्विव्यं रसे संविदुपजायते । वाचा गन्धे संवित् वृत्तिशब्देन तान्त्रिकवा परिभाषयाद्वागेन्द्रियमुच्यते । वच्च ते गन्धविषय इति वृत्तेभ्येन्द्रियाज्ञाता वाचा गन्धसंवित् तस्यां प्रकृष्ट्यमाणायां द्विव्यगन्धोऽनुभूयते ।

एतेषां फलविशेषविभागमाह—

मो० वृ० का भा०—पुरुष के संयममें आभ्यास करने से व्युत्थित चित्तधाले को भी ज्ञान होजाते हैं, जिस प्रातिम ज्ञान का पूर्व धर्षण कर लुके हैं उन के प्रकाशित होने से योगी को सूक्ष्म अर्थ भी मालूम हो जाते हैं कर्णेन्द्रिय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है । उससे योगी को द्विव्य शब्द का ज्ञान होता है वेदना शब्द का अर्थ स्पर्श का ज्ञान है उस से द्विव्य स्पर्श का ज्ञान होना है । आदर्श का अर्थ नेत्रेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ ज्ञान है उससे द्विव्यरूप ज्ञान होता है, जिहवा से जो रस का ज्ञान होता है उस से द्विव्य रस ज्ञान होता है, वाचा शब्द का अर्थ इस शाखा में नासिका से उत्पन्न हुआ ज्ञान है उस से द्विव्य गन्ध का ज्ञान होता है ॥ ३६ ॥

इस के विशेष फल के विशेष भागों को आगे कहेंगे—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थानेसिद्धयः ॥ ३७ ॥

सू० का पदार्थ-(ते समाधौ-उपसर्गाः) पूर्वसूत्रमें कहे ज्ञान समाधि में विघ्नकारक हैं (व्युत्थानेसिद्धयः) और चंचल चित्त वाले को सिद्धि हैं ॥ ३७ ॥

सू० का भा०—कैवल्य समाधि वाले को पूर्वोक्त ज्ञान विघ्नरूप हैं, किन्तु चंचल चित्त वाले योगी को सिद्धि हैं अर्थात् सिद्धि प्राप्त मनुष्य को कैवल्य समाधि के अभाव से ईश्वर का ज्ञान नहीं होता ॥ ३७ ॥

व्या० दे० का भाष्य—ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पत्त्यमाना उपसर्गस्तद्वार्णप्रत्यनीकत्वात् । व्युत्थितचित्तस्योत्पत्त्यमानाः सिद्धयः ॥ ३७ ॥

भा० का पदा०-पूर्व सुत्रमें कहे प्रातिम आदि नित्य ज्ञान स्थिर निच्छ वाले को उत्पन्न हुये विज्ञ हैं क्योंकि इन से ईश्वर के ज्ञान में विज्ञ होता है व्युत्थित चित्त अर्थात् वायाहृति वाले की यह सिद्धि है ॥ ३७ ॥

भा० का भा०-उत्तर प्रातिम ज्ञानादि कैवल्य समाधि में विज्ञ हैं और वायाहृति वाले को सिद्धि है ॥ ३७ ॥

भो० घ०—ते प्राक॒ग्नि॑पादिता॒ फलविशेषा॑ः समाधि॑ः प्रकर्ष॑ गच्छन॑ उपसग्नी॑ उपद्रवा॑ पित॑ कारिणः । तत्र हृष्विस्मयादिकरणेन॑ समाधि॑ः शिखिलो॑ भवति॑ व्युत्थाने॑ तु पुनर्ब्यवहारदशायां॑ विशिष्टफलदायक॑ त्वात्सिद्धयो॑ भवति॑ ॥ ३७ ॥

तित्तद्यन्तरमाद-

भो० घ० का भा०—पूर्व कहे हुए संशयों के विशेष फल समाधि के उपद्रव अर्थात् विज्ञ हैं, हर्ष और हायस आदि के करने से समाधि शिखिल हो जाती है किन्तु व्युत्थान अर्थात् सांसारिक व्यव एवं में यह सब सिद्धि हैं क्योंकि इन से अधिक लाभ होता है ॥ ३७ ॥

दूसरी सिद्धि कहते हैं-

वन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्त-
स्य पश्चरोगवेशः ॥ ३८ ॥

सू० का प०—(वन्धकारणशैथिल्यात्) वन्धन का जो कारण है उस के शिखिल होने से । प्रचारसंवेदनाच्च (पश्चरोगवेश) और प्रचार अर्थात् प्रवेश और निर्गम के ज्ञान से (चित्तस्थ-परशरीरवेशः) चित्तका पराये शरीर में प्रवेश होता है ॥ ३८ ॥

सू० का भा०—वन्ध कारण के शिखिल होने और प्रचार ज्ञान होने से योगी के वित्त में परकार्यनिवेश की शक्ति होती है ॥ ३८ ॥

घ्या० दे० का भा०—लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिपृस्यशरीरे कर्माशयवशा द्रव्यः प्रतिपृष्ठत्पर्थः । तस्य कर्मणो वन्धकारण-

स्य शैथिल्यं समाधिवलाङ्गयति । प्रचारसंवेदनङ्गच चित्तस्य
समाधिजयेत् । कर्मवन्धक्षयात् स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनान्वच
योगी निचं स्वशारीरान्विष्टकृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति गिञ्चि-
मं निच्छचेन्द्रियाण्यनुपत्तनित । यथा पघुकरराजानं मत्तिकाउत्प
तन्तमनुपत्तनित निविशमानमनुविशान्ते । तथेन्द्रियाणि परश-
रीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति ॥ ३८ ॥

भा० का प०-चलता को प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीर में
कर्मफल के घशसे वन्ध अर्थात् स्थिरता है उस वन्धन के कारणकर
कर्म की शिथिलता समाधि के प्रताप से होती है और प्रचार ज्ञान
भी समाधि से ही उन्पन्न होता है कर्मवन्धनों के नाश होने से और
अपने चित्त के प्रचार ज्ञान से योगी चित्त को अपने शरीर से निकाल
कर दूसरे में ढाल देता है चित्त के पर शरीर में प्रविष्ट होने से
इन्द्रियां भी उस ही शरीर में चली जाती हैं जैसे रानी मक्खी के
उड़ने से सब मक्खी उड़ती है और जहाँ वह दैठती है वहाँ सब बैठ
जाती हैं ऐसे ही इन्द्रियां भी दूसरे शरीर में प्रवेश करने के समय
चित्त की अनुगमिनी होती हैं ॥ ३८ ॥

भा० का भा०—मन जो अरथन्त ही चञ्चल है उसका एक शरीर
में स्थिर रहना यह केवल कर्मफलके वन्धन से है और वह कर्म
वन्धन समाधि से शिथिल होता है और समाधि ही से चित्तका
प्रचार अर्थात् नाड़ी का परिष्णान भी जाना जाता है । जय यांगी के
समाधिवल से कर्मवन्धन ढीले होजाते हैं और चित्त के प्रवार को
भी योगी जान जाना है तब उस को यह शक्ति होजाती है कि वह
अपने चित्त को पर शरीर में प्रविष्ट कर देता है और चित्तके गमन
से इन्द्रियां भी चित्त की अनुगमिनों होनी हैं योकि इन्द्रियों की
गति रानी मक्खी के समान है जैसे रानी मक्खों के उड़ने से सब
मक्खियां उड़ती हैं और जहाँ वह दैठती है वहाँ सब बैठ जाती हैं ॥ ३९ ॥

भौ० छ०— द्याप रत्वाद्यस्त्वित्योर्नियनकर्मवशादेव शरीरा-
न्तर्गतयोर्मोग्यमोक्तुभवेत् यदू संवेदनमनुपजायते स एव शरीरे वन्ध
इत्युच्यते । तद्यदा समाधिवशाद्वन्धकारणं धर्मधर्मख्यं शिथिलं
भवति तानवमापद्यते । चित्तस्य च योऽसौ प्रचारो हृदयप्रवेशादिन्द्रिय-

द्वारेण विषयाभितुम्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं प्रानमियं चित्तवहा नाडी
अनथा चित्तं वहन्ति इत्यं च रसप्राणादिवहाम्यो नाडीम्यो विलक्षणेनि
स्वपत्तरीरथोर्थदा सञ्चारं जानानि तदा परकीयं शुरीरं सृतं जीवठक्कु-
रीरं चा चित्तसञ्चाराद्गृहे विशेषति । चित्तं परश्चारो विशेषदिन्दि-
याएयपि अनुवत्तं न्ते मधुकरराजमिवमधुमक्षिकाः । अथ परश्चारो
प्रविष्टो योगी स्वशरीरवत् तेन व्यवहरति यनो व्यापकयोश्चित्तपुरुष-
योर्भाग्यसङ्काचकारणं कर्म तत्त्वेऽसाधिना क्षिप्तं तदा स्वातन्त्र्यात्
सर्वज्ञैव भोगनिष्पत्तिः ॥ ३८ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

भो०७० का गा०—शात्मा और चित्त के व्यापक होने से नियत
कर्म के धरा से दोनों ही शरीर के अन्तर्गत हैं परन्तु इन में से एक
भोग्य और दूसरा भोक्ता है इन दोनों में जो एकता का ज्ञान है उस
ही से वन्धन है, जब समाधि के बल से वन्धन का कारण धर्म और
अर्थर्म रूप कर्म शिथिल हो जाता है । चित्त का जो प्रचार अर्थात्
गमनागमन है वह चित्त की नाड़ियों के द्वारा इन्द्रियों में जाता है
फिर विषयों की ओर दौड़ता है ये नाड़ी चित्तवहा कहाती है ये
चित्तवहा नाड़ियां प्राणवहा और रसवहा नाड़ियों से लक्षण हैं, योगी
जब अपने शरीर और दूसरों के शरीरों के संचार को जान जाता है
तब दूसरे के जीते धा मरे शरीर में प्रवेश करजाता है जब योगी का
चित्त दूसरे शरीर में चला जाता है, वह इन्द्रियां भी चित्त का अनु-
गमन करती हैं अर्थात् वे भी दूसरे में चलो जाती हैं जैसे रानी मक्खी
के पीछे शहद की सब भवितियां जाती हैं । दूसरे शरीर में जाके
योगी अपने शरीर के समान ही सब व्यवहार करता है व्योक्ति चित्त
और आत्मा व्यापक हैं जब उनको भोगतुष्णा ही न ही नव उनको
सर्वत्र आनंद भिलता है यद्यों कि भोग के साधनकर्म शिथिल होगये
हैं अतएव योगी सर्वत्र स्वतन्त्रसाध से सुखी रहसकता है ॥ ३८ ॥

और सिद्धि कहते हैं—

उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च ६६

सू० का प०—(उदानजयात्) कण्ठ में रहने
वाले उदान वायु के जीतने से (जलपंककंटकादिषु-

असङ्गः) जल, पंक् और करटक आदि शरीरमेदक पदथर्यों का स्पर्श नहीं होता (उत्क्रान्तिश्च) और मरण अपने वश में हो जाता है ॥ ३६ ॥

सू० का भा०—उदानादि वायु के जीतने से करटकादिका स्पर्श नहीं होता और मरण भी यथार्थचि होता है ॥ ३६ ॥

व्या० भा०—समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनं, तस्य क्रिया पञ्चतयी । प्राणो मुखनामिकाननिराहृदगृह्णत्तिः । सम् नयनात्सप्तानश्चानाभिवृत्तिः । अपनयनादपान आणदत्तलवृत्तिः उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः । व्यापी व्यान इति, एषां प्रधानं प्राणः । उदान नयाऽनजलपङ्कूकरटादिव्यसङ्गुत्क्रान्तिश्च प्रयाणकाले भवति । तां वशित्वेन भ्रतिपद्यते ॥ ३६ ॥

भा० का पदा०—सम्पूर्ण इन्द्रियों में रहनेवाला प्राण आदि वायु ही सबके आजावन अर्थात् आधार है उस प्राणो की पुरुति है उन में से प्राण उसे कहते हैं जिसका मुख और नासिका के द्वारा गमन होता है और यह हृदय तक चर्चमानं रहता है समता को प्राप्त करने वाला समानवायु नामि तक रहता है अधोगमी वायु को अपान कहते हैं जो नामि के अधोभाग से पैरों तक गमन करता है कर्षयगमन से उदान कहता है जो करट से सिर पर्यन्त पूरित है शरीर में पूर्ण होने से व्यान कहता है, इन सब में प्रधान प्राण है प्राण और उदान का संयम करने से जल, पङ्क और करटक आदि के स्पर्श से फँड़ा नहीं होती । उत्क्रान्ति जो मरने के समय होती है उसको वशमें करता है ॥ ३६ ॥

भा० का भावार्थ—सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने गमनागमन से स्थिर रहनेवाला वायु है जिसके प्राणादि पुरुति हैं प्राण वह वायु है जिसकी गति मुख नासिका से हृदय पर्यन्त है । समग्रतेवाला नामिपर्यन्त जाने वाला वायु समान कहता है । अधोगमशील जा चरण पर्यन्त ध्रुमण करता है वह अपान वायु कहाजाना है और जो करट से सिर पर्यन्त ध्रुमता है उसका नाम उदान है और जो सब शरीर में व्यापक है वह व्यान कहता है । प्राण श्रौत उदान

के संथम करने से जल, कीचड़ और करटकादि का भय योगी का निवृत्त होजाना है और मरण भी योगी के वश होजाता है (अर्थात् अपने जीवन को द्विगुण करसकता है) ॥ ३६ ॥

भो० च० -- समस्तानामिन्द्रियाणां तुषञ्चालावद्या युगपदुत्थिता
वृत्तिः सा जीवनशब्दवाचः । तस्याः कियाभेदात् प्राणापानादिसंहार-
भिर्व्यपदेशः । तत्र हृदयान्मुखनास्त्रिकाद्वारेण धायोः प्रणयनात् प्राण
इत्युच्यते । नामिदेशात् पादाङ्गुष्ठपर्यन्तमपनयनादपानः । ना॒भेदेशं
परिवेष्ट एष समन्ताश्रयनात् समानः । कुकाटिकादेशादाशिरोऽनुत्तेरन्नय-
नादुदानः । इयाप्यनयनात् सर्वशरीरव्यापी डशनः । तत्रोदानस्य
संथमद्वारेण जयादिसरेणां वायुनां निरोधादृच्छगतित्वेन जले महान-
थादौ महति वा कहूँ मे तीक्ष्णेषु करटकेषु वा नक्षजतेऽतिलघुत्वात्
तूलपिण्डवज्जलादौ मज्जितोऽन्युदगच्छुतित्यर्थः ॥ ३६ ॥

सिद्धधन्तरमाह-

भो० च०—समस्त इद्वियों की वृत्ति भूमी में तुषकी अग्नि के समान एक संग प्रज्वलित होनेवाली है उस ही वृत्ति को जीवन कहते हैं उसी वृत्ति के कियाभेद से प्राणादिक जुदे जुदे नाम हैं । हृदय से मुख और नासिका के द्वारा वायु को चलाने के कारण प्राण नाम है, नासि से पैर के अंगुठे तक जिसकी गति है उसे आपान कहते हैं, नासि स्थान को वेष्टित करके चारों ओर से जो जीवन शक्ति को ठीक रखती है उसे समान कहते हैं, गले के भीतर जो कुकाटिका अर्थात् धाटी है उस से शिर तक जो गमन करता है और शक्ति को स्थिर रखता है उसे उदान कहते हैं, व्यापक होने से वायु का नाम व्यान है । उदान में संथम करने से त्रौ० उसके जीतने से मुलाधार के द्वारा उस की गति को रोकने से योगी जल में अर्थात् बड़ी बड़ी नदियों में दा महारंक में और शरीर को बेघने जाले कांटों में भी नहों फँसता है जल पर योगी पेसे फिरता है जैसे रहे का देर तैरता हो ॥ ३६ ॥

सिद्धधन्तर का वर्णन करते हैं—

समानजयात्प्रज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

स० १०-(समानजयात्) समान वायु को अपने

वश में करने से (प्रज्वलनम्) अधिक तेज होता है ॥ ४० ॥

सू० का भा०—समान वायु को वश में करने से योगी का अधिक तेज होता है ॥ ४० ॥

व्या० भा०—जित समानस्तेज सउपधारानं कृत्वा उवलति ४०

भा० का प०—जीत लिया है समान वायु को जिसने वह योगी तेज की छुट्ठि करके ज्ञानवलयमान होता है ॥ ४० ॥

भा० का भा०—स्पष्ट है ॥ ४० ॥

इ—पूर्वसूत्रों में लिखी हुई सिद्धि योग का चिह्न है इस कारण से योगी लोग उन के फेर में नहीं पड़ते हैं किन्तु योगभ्रंण ही उन की इच्छा करते हैं ॥ ४० ॥

भो० वृ०—अग्निनावेष्ट्य व्यवस्थितस्य समानात्यस्य वायो-
र्ज्यात् संयमेन वशीकारान्निरावरणस्याग्नेऽरुद्भूतत्त्वाच्चेजसा प्रज्वल-
न्निव योगी प्रतिभाति ॥ ४० ॥ सिद्ध्यन्तरमाह-

भो० वृ० का भा०—शरीर की अग्नि को घेर कर जो समान वायु रहती है उसको संयम से जीतकर आर्थात् अपने वश में करके योगी ऐसा तेजस्वी जान पड़ता है मानो अग्नि का पुंज है ॥ ४० ॥

और सिद्धि कहते हैं—

श्रोत्राकाशयोः सम्बधसंयमादिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

सू० का पदार्थ—(श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्) कर्ण इन्द्रिय और आकाश में संयम करने से (दिव्यं श्रोत्रम्) दिव्यश्रवण होता है ॥ ४१ ॥

सू० का भा०—कर्णेन्द्रिय और आकाश में संयम करने से दिव्यश्रवण ज्योतिर् दूर देश का भी श्रवण होता है ॥ ४१ ॥

व्या० भा०—सर्वश्रोत्राणामाकाशं पतिष्ठां सर्वशब्दार्नं च । यथोक्तम्—तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति तत्त्वतदाकाशस्य लिंगम् । अनावरणं चोक्तम् । तथाहि अमूर्त-

स्यानावरणदर्शनाद्विभूत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य । शब्दग्रह-
णानुभितं श्रोत्रम् । वधिरावधिरयोरेकः शब्दं गृहणात्परो न
गृहणातीति । तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम् । श्रोत्राकाशयोः
सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवक्त्तते ॥ ४१ ॥

भा० का प०—समस्त प्राणियों की कर्णेन्द्रिय का आवार आकाश
है और सम्पूर्ण शब्दों का भी आधार आकाश ही है ऐसा ही अन्यत्र
भी कहा है । एक स्थल पर उच्चारित शब्दों का सुनना सर्वत्र पाया
जाता है और यही आकाश का चिन्ह है अर्थात् विना आकाश के
शब्द का कर्ण इन्द्रिय में प्रवेश करना ही असम्भव है और इस ही
से आकाश का आवरणरहितत्व भी सिद्ध होता है लेसे ही जो पदार्थ
अमूर्त अर्थात् कपरहित है उस की सर्वव्यापकता भी प्रसिद्ध है
किन्तु शब्द को प्रहण करने का निमित्त कर्त्ता ही है जोकि वहरा
और सुनने वाला इन दोनों में से एक शब्द को प्रहण करता है और
दूसरा नहीं करता इसलिये कर्ण ही शब्द का विषय है कर्णेन्द्रिय
और आकाश का जो सम्बन्ध है उसमें संयम करने से दिव्य भवण
होता है ॥ ४२ ॥

भा० का भा०—सब की कर्णेन्द्रिय का आधार आकाश है और
वह अमूर्त होने से व्यापक है यदि केवल आकाश ही से शब्द का
सम्बन्ध होता तो वहिरे को भी शब्द सुनाई देता किन्तु ऐसा नहीं है
इस से प्रतीत होता है कि शब्दप्रहणकर्णेन्द्रिय से होता है । कर्णेन्द्रिय
और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने के योगी को विष्य भवण
शक्ति होती है ॥ ४३ ॥

भो० वृ०—श्रोत्रं शब्दभावकमाहकारिकमिन्द्रियम् । आकाशं व्योम
शब्दतन्मात्रकार्यम् । तथोः सम्बन्धो वैश्वेशिभावलक्षणस्तस्मिन् कृत
संयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवक्त्तते युगपत्सूक्ष्मव्यवहितविषमकृष्ट-
शब्दग्रहणसमर्थं भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

सिद्ध यन्तरमाह—
भो० वृ० का भा०—कर्णेन्द्रिय शब्द को प्रहण करने वाली है,
आकाश का जो तन्मात्र शब्द है उसके सम्बन्ध में संयम करने से

योगी को विद्यु थोत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् सूक्ष्म शब्द व्यवहित छिपे हुए और दूरके शब्दों को सुनने की शक्ति उत्पन्न होती है ॥ ४१ ॥
आगे और सिद्धि कहते हैं—

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमात्त्वाद्युतूलसमाप्ते- आकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

खण्ड का पदार्थ—(कायाकाशयोः) शरीर और आकाशके (सम्बन्धसंयमात्) सम्बन्धमें संयम करनेसे (लघुतूलसमाप्तेश्च) लघु अर्थात् हलके रूई आदि पदार्थों की समापत्ति से (आकाशगमनम्) आकाश में गमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

सू० का भा०—शरीर और आकाश का जो परस्पर सम्बन्ध है उस में संयम करने से और लघु पदार्थों के यथार्थ परिहान से योगी को आकाशगमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

व्या० भा०—यत्र कायस्तचाकाशं तस्यावकाशादानात् कायस्य तेन सम्बन्धः प्राप्तिस्तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्सम्बन्धं लघुषु तूलादि-प्वापरमाणुभ्यः समापत्तिं लघुच्चा जितसम्बन्धं लघुर्भवति । लघुत्वाच्च जले पात्राभ्यां विहरति । ततस्तुर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहृति ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति ॥ ४२ ॥

भा०का प०—जहाँ र शरीर होता है वहाँ ^२ आकाश भी अवश्य होता है व्योकि आकाश शरीर को अवकाश देने वाला है अर्थात् आकाश और शरीर का आधाराधेयभाव सम्बन्ध है इस हेतु से काया का और शरीर का सम्बन्ध है उस सम्बन्ध में संयम करने वाला काया और आकाश के सम्बन्ध को जीतकर लघु जो रूई आदि उन में ज्ञान प्राप्त करके गुरुता के सम्बन्ध को जीत कर योगी लघु हो जाता है लघु होने से पैरों से जल में विहार करता है तत्पश्चात् ऊर्ध्व-तिर्विघ्न आकाशगति होती है ॥ ४२ ॥

भा० का भा०—आकाश और प्राणी का जो आधारात्मेष भाव सम्बन्ध है उस में संयम करने से और लघु पदार्थों का पूर्ण नाश प्राप्त करने से योगी के शरीर की गुरुतः नाश हो जाती है और उस के नाश होने से योगी जल के ऊपर गमनागमन करसका है फिर ऊर्जातन्तु से किरणों पर विहार करने की शक्ति प्राप्त करके स्वचक्षन्त् आकाशगमन सिद्ध होता है ॥ ४२ ॥

भो०व०—कायः पाञ्चभौतिकं शरीरं तस्याकाशेनावकाशदा यकेन यः सम्बन्धस्तत्र संयमं विधाय लघुनि तूलादौ समापत्ति तन्मयी भावलक्षणांच विधाय प्राप्तातिलघुभावो योगी प्रथमं यथारूपं जले सञ्चरज्ञकमेषोर्यनाभितन्तुजालेन सञ्चरमाण आदित्यरशिमभिश्च विहरन् यथेष्टमाकाशेन गच्छुति ॥ ४२ ॥

सिद्ध् यन्तरमाह—

भो०व०का भा०—पांचभौतिक शरीर को काया कहते हैं उसका जो अवकाश देने वाले आकाश के साथ सम्बन्ध है उसमें संयम और कई आदि हल्की वस्तुओं की समानता में पिण्डेष भावना करके योगी प्रथम जल पर फिर मकड़ी के जाले पर विहार करें पश्चात् सूर्य की किरणों पर विहार करके अपनी इच्छानुसार आकाश में गमन कर सका है ॥ ४२ ॥

आगे और सिद्धि कहते हैं—

**बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरण-
क्षयः ॥ ४३ ॥**

सूत्र का पदार्थ—(बहिरकल्पिता वृत्तिः) शरीर से बाहर जो मन की स्वाभाविक वृत्ति है (महाविदेहा) उसका नाम महाविदेहा है (ततःप्रकाशावरणक्षयः) उसमें प्रकाश के आवरण का नाश हो जाता है ॥ ४३ ॥

स०का भा०—मन की जो अकलिप्त वास्त्र वृत्ति है जिस को महा विदेहवृत्ति कहते हैं उस में संयम करने से प्रकाश के आवरण का क्षय हो जाता है ॥ ४३ ॥

ध्या०भा०—शरीराद्विर्मनसो वृत्तिलाभो चिदेहा नाम धारणा । सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो वहिर्वृत्तिमात्रे या भवति सा कल्पितत्युच्यते । या तु शरीरनिरपेक्षा वहिर्भूतस्यैव मनसो वहिर्वृत्तिः सा खल्वकल्पिता । तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहागिति । यया परशरीराण्या विशन्ति योगिनः । ततथ धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकम्भविपाकत्रयं रजस्तमोभूतं तस्य च क्षयो भवति ॥ ४३ ॥

भा० का प०—शरीर से बाहर जो मन की वृत्ति पाई जाती है उस धारणा का नाम विदेहा है शरीर में जो स्थिर मन है उस की वाहावृत्ति मात्र से जो होती है उस वृत्ति का नाम कल्पिता है और जो शरीर की अपेक्षा न रखती हुई वहिर्भूत हुए मन की वाहा वृत्ति है वह आकलिपत वृत्ति है । उन दोनों कल्पित और आकलिपन वृत्तियों में से कल्पितवृत्ति द्वारा आकलिपत महाविदेहा की साधना की जाती है जिसके द्वारा योगिजन पर शरीरमें प्रविष्ट होते हैं उस महाविदेहा धारणा से प्रकाश स्वरूप जो बुद्धि है उसके जो आवरण क्लेश, कर्म और कर्म के फल हैं जो रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होते हैं उस आवरण व्य का नाश होजाता है ॥ ४३ ॥

भा० का भा०—मन की दो प्रकार की वृत्ति वाहा विषय में होती है—एक कल्पित दूसरी आकलिपत । उनमें से आकलिपत को महाविदेहा वृत्ति कहते हैं जो कल्पितवृत्ति के द्वारा स्थिर की जाती है । जो योगियों का पर शरीर में प्रवेश होता है वह केवल इस वृत्ति का परिणाम है जब इस वृत्ति में योगी स्थिर होता है तब उसकी बुद्धि के आवरणश्रय फलेश, कर्म और विपाक का क्षय होता है ॥ ४३ ॥

भो० वृ०—शरीराद्विर्यो मनसः शरीरनैरपेक्ष्येण वृत्तिः सा महाविदेहा नाम विगतशरीराद्वङ्कारद्वार्थद्वारेणो च्यते । ततस्तस्यां कृतात् संयमात् प्रकाशावरणक्षयः सात्त्विकस्य चित्तस्य यः प्रकाशस्तस्य यदावरणं फलेशकम्भादि तस्य क्षयः प्रविलयो भवति । अयमर्थः—शरीराद्वङ्कारे सति या मनसो वहिर्वृत्तिः सा कल्पितत्युच्यते । यदा पुनः शरीराद्वङ्कारमात्रं परित्यज्य स्वातन्त्र्येण मनसो वृत्तिः साऽकलिपता, तस्यां संयमाद्योगिनः सर्वे चित्तमलाः क्षीयन्ते ॥ ४३ ॥

तदेवं पूर्वान्तविषयाः परान्तविषया मध्यभयाश्च सिद्धीः प्रति-
पद्यानन्तरं भुवनशानादिरूपा वाशाः कायव्यूहादिरूपा आभ्यन्तराः
परिकर्मनिष्पन्नभूताश्च मैत्र्यादिषु वलरनीत्येवमाधाः समाध्युपयोगि-
नीश्चान्तःकरणबहिःकरणसूक्ष्माणिद्वयभाः प्राणादिवाकुभवाश्च
सिद्धीश्चित्तदाकर्यात् समाधी समाश्वासोत्पत्तये प्रतिपादेदानी सद्ग-
र्हनोपयोगिस्वीजनिर्वज्जसमाधिसिद्धये विविधोपायप्रदर्शनायाह-

भी० ए० का भा०—शरीर से वाहर शरीर के आधय की अपेक्षा
न उसने वाली जो मन की वृत्ति है उसे महाविवेदा कहते हैं पर्योक्ति
उस से अद्विकार का वेग दूर हो जाता है, उस वृत्ति में जो योगी
संयम करता है उससे प्रकाश का ढकना दूर हो जाता है अर्थात्
सात्त्विक चित्त का जो प्रकाश है उसको ढकने घाले अविद्यादि
क्लेश और कर्म क्षय हो जाते हैं । अभिप्राय यह है कि जब
तक शरीर का अहंकार रहता है तब तक जो मन की वाश वृत्ति
रहती है उसे कल्पिता कहते हैं । फिर जब शरीर के अहंकार को
त्याग कर स्वतन्त्रभाव से मन की वृत्ति वाहर रहनी है उसे अकं-
लिपिता कहते हैं, उस अकलिपिता वृत्ति में संयम करने से योगी के
चित्त के मल सब दूर हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

इस प्रकार से पूर्वान्त विषय, परान्त विषय और मध्य भाव की
सिद्धियों का वर्णन करके फिर भुवनशान रूपात् वाश काव्यव्यूह
आदि आभ्यन्तर परिकर्मनीति की सिद्धि करने घाले मैत्री आदि से मैत्री
आदि का बल वर्णन करके समाधिमें सहायता देने घाले अन्तःकरण
और वाद्यकरण रूप इन्द्रियों के भावों का तथा प्राणादि वायुभावों
की सिद्धियों का चित्त की दृष्टिकोण सहित करके अब स्वीज और
निर्वज्ज समाधि सिद्धि के निम्निच विविध भाँति के उपायों का आगे
वर्णन करते हैं:-

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद्भूतजयः ॥४४॥

भू० का प०-(स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयम-
यात्) स्थूल शुण अर्थात् गन्धादि तत्त्व भूत सम्बन्धी
परमाणुओं का समूह सूक्ष्मान्वयार्थवत्व अर्थात् पञ्च-
तत्त्वों की तन्मात्रा इनके संयम से (भूतजयः) भूतों
का जय होता है ॥ ४४ ॥

सू० का भा०—पञ्च तत्त्व के गुण स्वरूप तथा तन्मात्रा में संयम करने से भूतजय प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहाकारादिभिर्भूम्भौः स्थूलशब्देन परिभाविताः । एतद्भूतानां प्रथमं रूपं द्वितीयं रूपं स्वसामान्यं मूर्त्तिर्भूमिः स्नेहो जलं घट्टरुणता वायुः प्रणामी सर्वतो गतिराकाश इत्येतत् स्वरूपशब्देनोच्यते ।

अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः । तथाचोक्तम्—एक-जातिसपन्नितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति ।

सामान्यविशेषसमुदायोऽत्रं द्रव्यम् । द्वितो हि समूहः प्रत्य-स्तमितभेदानवयवानुगतः शरीरं वृक्षो यूधं वनमिति, शब्दे-नोपात्तभेदावयवावानुगतः समूह उभये देवमनुष्याः । समू-हस्य देवा एको भागो मनुष्यो द्वितीयो भागस्ताभ्यामेवा-मिधीयते समूहः । स च भेदाभेदविविच्चितः । आत्माणां वनं ब्राह्मणानां संघं आनन्दवनं ब्राह्मणसंघं इति । स पुनर्द्विविधो युतसिद्धानश्वोऽयुतसिद्धावयवश्च । युतसिद्धावयवः समूहो वनं संघं इति । अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतंजलिः । एतत् स्वरूपमित्युक्तम् । अथ किमेषां सूच्यमरूपं तन्मात्रं भूतकारणं तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्माऽयुतसिद्धावयवभेदानु-गतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राणि एतत्तृतीयम् । अथ भूतानां चतुर्थं रूपं रुद्यातिक्रियास्थितिशीलाः । गुणाः कार्यस्वभावानुपा-तिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः । अथैषां पंचमं रूपमर्थवत्वं गोगापदर्गा-र्थता गुणोच्चेवान्वयिनी, गुणास्तप्तात्रभूतमौतिकेष्विति सर्वमर्थ वत् । तेष्विदानीं भूतेषु पंचमु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्राप्तुर्भवति । तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा

भूतजयी भवति । तज्जन्याद्वद् मानुसारिण्य इव गावोऽस्य सङ्कृ-
ल्पानुविधायिन्यो भूतपक्षतयो भवन्ति ॥ ४४ ॥

भा० का प०—पृष्ठी आदि के शब्दादि विशेष गुण पृष्ठी आदि
शाकादादि धर्म के साथ युक्त होने से स्थूल कहे जाते हैं तत्त्वों का
यह प्रथम रूप हैं तत्त्वों का द्वितीय रूप सामान्य है अर्थात् पृष्ठीयों
की सूति, जल का स्नेह, अग्नि का दात् और प्रकाश, यायु का घटन
और आकाश का विभूत्व ये सब स्वरूप शब्द से गृहीत होते हैं उक्त
सामान्य रूप के शब्दादि विशेष रूप हैं ऐसा ही कहा भी है ये पंच
भूत एक जाति अर्थात् भूतत्व गुण से एक हैं परन्तु अन्य धर्मों से
भिन्न हैं सामान्य और विशेष का समुदाय ही द्रव्य है । समृद्ध
दो प्रकार का है एक जिस में भेद की उपलब्धि न हो जैसे शरीर,
पृक्ष, यूथ और घन है इन में अवयव सामान्य द्रव्य और विशेष है ।
दूसरा शब्द के कथन से अवयवगत समृद्ध भेद समझा जाता है
जैसे देव और मनुष्यों का एक समुदाय कहने से घोष एता है कि
इस समुदाय के देवता लोग एक भाग हैं और मनुष्य दूसरा भाग
है । इन दोनों से समृद्ध पक्षाता हैं और घट भेद और अभेद की
विवक्षा रखता है । जैसे आम के दृक्षों का घन, ग्राहणों की सभा
घट फिर दो प्रकार का है पहले के उदाहरण घन और संघ है दूसरे
के उदाहरण शरीर, वृक्ष और परमाणु हैं । एक युतसिद्धावयव दूसरा
अयुतसिद्धावयव । पंतजलि ऋषि के मत में अयुत सिद्धावयव को
ही द्रव्य कहते हैं और इसी को स्वरूप भी कहते हैं । इन का सूत्तम
रूप पदा है ? तन्मा ब्रांशों का जो भूत कारण है घट सूत्तमरूप है उस
का एक अवयव परमाणुकहाता है (सामान्यविशेषात्माऽशुतसिद्धावय-
वमेदानुगतः समुदायः) सामान्य और विशेषरूप अयुतसिद्धावयव
मेदानुगतसमुदाय पञ्चतत्त्व का तन्मात्र इनका तीसरा रूप है तत्त्वों
का चतुर्थ रूप यथाति, प्रकृति, किया और स्थिति स्वभाववाले गुण हैं ।
तत्त्वों का पांचवां रूप अर्थवत्ता है भोग और मोक्षरूप जितने अर्थ हैं
ये सब तत्त्वों के गुणों से सम्बन्ध रखते हैं गुण तत्त्वों के तन्मात्रों से
संबन्ध रखते हैं इस क्रम से सब में अर्थवत्ता है पंचभूत और उनके
पांचरूपों में संयम करने से उस उस रूप का दर्शन होता है और
उस में जय लाभ होता है पंच भूतों के स्वरूपों को जीत कर तत्त्वोंकी

जय होती है भूतजय से प्रकृति ऐसी दयालु होती है जैसे गौ अपने घब्बे को प्रेम से दूध देती है ॥ ४४ ॥

भा० का भा०—पंचतत्त्वों के पांच प्रकार के रूप हैं उन में संयम करने से समस्त भूतप्रकृति योगी की इच्छा को पूर्ण करने वाली हो जाती है जैसे गौ अपने घब्बे की इच्छा पूर्ण करने वाली होती है ४४

भो० व०—पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां ये पञ्चावस्था विशेषरूप धर्मः स्थूलत्वादयस्तत्र कृतसंयमस्य भूतजयो भवति । भूतानि अस्य वश्यानि भवन्तीत्यर्थः । तथा हि भूतानां परिदृश्यमानं विशिष्टाकारवत् स्थूलरूपे स्वरूपवैयों यथाक्रमं कार्यं गन्धसनेहोषणाप्रेरणावकाशदानलक्षणं सूक्ष्मपञ्च यथाक्रमं भूतानां कारणत्वेन व्यवस्थितानि गन्धादितः ब्राह्मि । अन्वयिनो गुणाः प्रकाशप्रवृत्तिस्थितिरूपतया सर्वं वैवान्धवित्वेन समुपलभ्यन्ते । अर्थवर्तमं तेष्वेव गुणेषु भोगापवर्गसम्पादनाख्या शक्तिः । तदेवं भूतेषु पञ्च सूक्ष्मलक्षणावस्थाभिन्नेषु प्रत्ययस्यं संयमं कुर्वन् योगी भूतजयी भवति । तदथा प्रथमं स्थूलरूपे संयमं विधात्र तवनुसदमरूपे इत्येवं कमेण तस्य कृतसंयमस्यसङ्कल्पायं विधायिन्यो चत्सानुसारिण्य इव गांधो भूतप्रकृतयो भवन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

तस्यव भूतजयस्य फलमाह—

भो० व० भा०—एयिकी आदि पंचभूतों की जो पांच स्थूलआदि विशेष अवस्था हैं उन में संयम करने से योगी को भूतजय प्राप्त होता है अर्थात् भूत (तत्त्व) योगी के घर में हो जाते हैं । भूतों का प्रत्यक्ष दीखता विशेष स्थूल रूप, इन भूतों के कमशः कार्यं गन्ध आदिक और स्थूल रूप के कारण तन्मात्रा इन के सम्बन्धी गुण जो प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति रूपसे सब भूतोंमें पाये जाते हैं भूतोंकी अर्थवत्ता उन तत्त्वोंमें जो भीग और मोक्षसाधनकी शक्ति रहती है इस प्रकारसे पंचभूतोंकी अवस्थाओंको जान कर जो योगी इनमें संयमी करता है उस योगी को भूतों की प्रकृति ऐसी इष्ट फल देने वाल होती है जैसे गौ अपनी बछड़े को दूध देती है ॥ ४४ ॥

आगे भूतजय का फल कहते हैं—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मनिभिघातश्च ॥ ४५ ॥

सू०का प०—(ततः) इसके अनन्तर (अणिमादिप्रादुर्भावः) अणिमादि सिद्धिओं का प्रकाश (कायसम्पत्) शरीर सम्बन्धी सब सम्पत्ति प्राप्त होती है (च) और (तद्धर्मनिभिघातः) शरीर के गुणों का नाश नहीं होता ॥ ४५ ॥

सू० का भा०—भूतज्य के अनन्तर (योगी को) अणिमादि सिद्धिओं की प्राप्ति और शारीरिक समर्थिति का विकास होता है और शारीरिक गुण अविनाशी हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

इया० भा०—तत्राणिमा भवत्यग्नुः । लघिमा लघुर्भवति । महिमा महान् भवति । प्राप्तिरंगुच्छये णापि स्पृष्टाति चन्द्रसम् । प्राकास्यमिच्छानभिघातः । भूमाद्युपज्ञनति निमज्जनति यथोदके वशित्वं भूर्यौतिकं वशी भवत्ययश्वश्वान्येषाम् । ईशित्वं तेर्पा प्रभवाप्ययन्यूहानामीष्टे यत्र कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथा सङ्कल्पस्तथा भत्रकृतीनापवस्थानम् । न च शक्तोऽपि पदार्थ विपर्यायकुरोति कस्मात् ऋन्यस्य । यत्र कामावसायिनः सूर्यसिद्धस्य भत्रेषु सकल्पादिति एतान्यष्टावैश्वर्योणि कायसम्पद्वद्यमाणा तद्धर्मनिभिघातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियां शिळापर्यनुविशनीति नापः स्त्रियाः क्लेदधन्ति नारिनस्त्वयो दहति न वायुः प्रणापी बहति अनावरणात्मकेऽप्यकाशे भवत्यावृतकायः सिद्धानापर्यद्ययो भवति ॥ ४५ ॥

भा० का प०—अणिमा सिद्धि वह है जिससे योगी आगु के समान सूदम हो जाता है लघु होने से लघिमा कहते हैं जिस सिद्धि के द्वारा महान् होता है उससे महिमा कहते हैं प्राप्ति सिद्धि उसे कहते

हैं जिससे योगी आकाशगमी चन्द्रलोक को भी स्पर्श कर सका है प्राकार्थ्य सिद्धि उसे कहते हैं जिससे योगी की इच्छा पूर्ण होती है पृथ्वी में इस रीति से दूखता है जैसे जल में पंचभूत और समस्त भौतिक पदार्थ उसके बश में होते हैं और वह किसी के बश में नहीं रहता है इस सिद्धि को विशिष्ट कहते हैं, ईशित्व सिद्धि वह है भूत भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, उल्य और नियति में समर्थ जहाँ इच्छा का अन्त हो, वहाँ तक इच्छा का पूरा होना है योगी की इच्छा-कुसार प्रकृति की स्थिरता होती है समर्थ होने पर भी योगी पदार्थों को उलटा पुलटा अर्थात् स्थिरकूम विरुद्ध नहीं करता है योगीकि और लोगों की इच्छाभङ्ग रूप दोष का भय रहता है यह थाट ऐश्वर्य चा सिद्धि है अगले सूत्र में जो कही जायेगी उहै कायसमग्रत कहते हैं तद्वर्मनमिधात का अर्थ यह है कि योगीकी शारीरिक क्रियाओं को कार्यरूप पृथ्वी नहीं रोक सकती कठोर पादाश में भी योगी प्रवेश कर सकता है, जल उसको भिगो नहीं सकते, अग्नि भी योगीको नहीं जला सकता, न हवा मुखाने वाली चलती है जो आकाश किसी को नहीं किपाना उसमें योगी का शरीर छिप जाता है अर्थात् योगी 'सिद्धों के नेत्रों से भी अदृश्य हो जाता है' ॥ ४५ ॥

भा०का भा०—भूतजय के अनन्तर योगी को अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति होती है—अणिमा से अणु और लंघिमा से लंघु, महिमा से महान् होता है प्राप्ति से योगी की घड शक्ति बढ़ती है जिससे योगी चन्द्रमा को अंशुली से स्पर्श कर सकता है अर्थात् पूर्व जो आकाश गमन कहा था उसके द्वारा ही योगी चन्द्रस्पर्शादि कठिनतर कार्य कर सकता है। प्राकार्थ्य का अर्थ है कि इच्छा पूरी होना, विशिष्ट वह सिद्धि है जिससे प्राणिमात्र दश में होजाय और आप किसी के बश में न रहे (यहाँ श होने से रात्यादिका प्रयोजन नहीं है) ईशित्व का अर्थ है कि प्राणियोंकी उत्पत्ति, लय और स्थिति को जानता है योगीके सङ्कल्प के अनुकूल ही पदार्थ हो जाता है। परन्तु इसमें शक्ति होती है कि जो योगीको पदार्थों के उलट पुलट करने की शक्ति होती है तो इस जगत् के पदार्थों में विपर्यय क्यों नहीं करता? इसका समाधान यह है कि योगी समर्थ होने पर भी नियमविरुद्ध कार्य नहीं करना योगीके सब सिद्धों का लिद्ध परम योगी परमेश्वर है उसके सङ्कल्प में विज्ञ होगा जो सर्वथा असमर्थ है ॥ ४५ ॥

भो० च०—अणिमा परमाणुरूपनापत्तिः । महिमा महत्त्वम् । लघिमा लघुत्त्वं तृतीयिगडवल्लुत्त्वप्राप्तिः । गरिमा गुरुत्त्वप्राप्तिः अंगुल त्रेण चन्द्रादिस्पर्शेनशक्तिः प्राप्तम्यमिच्छानमिधातः । शरीरातः करणेश्वरत्वं विश्वातः । सर्वत्र प्रमविष्टुना विश्वत्वं, सर्वार्थेव भूतं नि अनुगामित्वान्तरुत्तं निकामन्ति । यत्र कामावस्थायो वस्तिमन् विषयेऽध्य कापः स्वेच्छा भवति तविष्टुत्वं स्वेच्छारद्वारेणाग्निलापनम् । मित्रार्थ्यन्तं न वतीत्यर्थात् एते देविमायाः समाण्यत्वयोगिनीभूतज्ञयायोगिनः प्रादुर्भवत्ति । यथा परमाणुत्वं प्राप्तो चञ्चादीगमण्यतः प्रविशति । एवं सर्वत्र योज्यम् । एतेऽणिमाद्योऽर्थे गुणा महामिश्रत्वं उच्चान्ते । काय चम्पद्वयमाणा तां प्राप्नान्ति । नद्यर्मनिभिश्वानत्य तस्य कायम् ये धर्मा रूपादयस्तेप्रामनमिधातां नाशो न कुतरित्वत् भवति । नास्य रूपमणिर्दद्वति न चायुः शोपयतीत्पदादि योज्यम् ॥ ४५ ॥

कायसम्पदमाह-

भो० च० फा भा०—अणिमा का अर्थ है कि परमाणुवत् सूक्ष्म हो जाना, महिमा का अर्थ महान् द्वौना, लघिमा का अर्थ लघु वा हल्का होना है, गरिमा का अर्थ गुरुत्व धा भा० एपन की प्राप्ति, प्राकाश्य का अर्थ इच्छा की पूर्ति है, इशित्व का अर्थ शरीर और अन्तःकरण परः प्रभुता की प्राप्ति अर्थात् इनको अपने वश में करलेना । सब को अपने वश में कर लेना अर्थात् कोई प्राणी इस के वचन का उल्लंघन नहीं कर सकता है । अर्थात् जिस विषय की योगी इच्छा करता है वही विषय योगी को प्राप्त द्वौता है कहीं भी योगी भी इच्छा का अभिशात नहीं होता इन अणिमादिक के समाप्ति में उपकारक होने से योगी को भूतज्य प्राप्त द्वौता है जैसे अणु होने से अत्यन्त कठोर वज्र में भी योगी प्रवेश करसकता है ऐसे ही और सिद्धियों में भी समर्गना चाहिये, यह अणिमादि आंठ महासिद्धि कहाती हैं इन के पश्चात् कायसम्पत् जिन का वर्णन आगे होगा उन की प्राप्ति होती है इस के पश्चात् शरीर के जो रूपादि गुण हैं उनका कहीं नाश नहीं होता अर्थात् योगी का शरीर अग्नि में नहीं जलता, चायु में नहीं सूखता ऐसे ही अन्यत्र भी समर्गना ॥ ४५ ॥

काय की सम्पत्तियों का वर्णन करते हैं —

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

सू० का प०—स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

सू० का भा०—रूप में मनोहरता बल में घजूसंहनन अर्थात् वज्रादि के समान अच्छेद होता यह कायसम्पत् कहाती है ॥ ४६ ॥

ध्या० दे० कृ० भा०—दर्शनीयः कांतिमान् अतिशयवलः वज्रसंहननश्चेति ॥ ४६ ॥

भा० का प०—मनोहर रूपवाला तेजस्वी अधिक बल वाला वज्र के समान अच्छेद होता है ॥ ४६ ॥

भा० का भा०—स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

भो० द्व०—रूपलावण्यबलानि प्रसिद्धानि वज्रसंहननत्वं वज्रवत् कठिना छंहतिरस्य शरीरे भवतीत्यर्थः । इति कायस्य आविर्भूतगुणसम्पत् ॥ ४६ ॥

एवं भूतजयमभिधाय प्राप्तभूमिकायामिन्द्रियजयमाह-

भो० द्व० का भा०—रूप और लावण्य (सलोनापन वा मनोहरता) प्रसिद्ध है, वज्र संहननत्व का अर्थ यह है कि वज्र के समान योगी का कठोर शरीर हो जाता है यही काया की प्रत्यक्ष सम्पत्ति है ॥ ४६ ॥

भूतजय का वर्णन करके, जब योगी को भूमि प्राप्त होजाती है तब इन्द्रियों में जय प्राप्त होती है इस का वर्णन आगे करते हैं ।

अहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः॥४७॥

सू० का प०—(अहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्व-संयमात्) अहण अर्थात् जिनसे पदार्थ ज्ञान होता है इन्द्रिय, स्वरूप-अर्थात् बुद्धि अस्मिता-अहंकार, इन्द्रियों के गुण और वासना इन पांचों में संयम करने से (इन्द्रियजयः) इन्द्रियां वश में होती हैं ॥ ४७ ॥

सू० का भा०—इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार, गुण और वासना में संयम करने से योगी को समस्त इन्द्रियां वश में हो जाती हैं ॥ ४७ ॥

ब्रा० भा०—सामान्यविशेषात्मा शब्दादिग्राहः । तेष्विन्द्रियाणो वृत्तिर्ग्रहणम् । नच हत्प्रामान्यमावग्रहणकारक्षुद्यमनालोचितः सविषयविशेष इन्द्रियेण मनसाऽनुव्यवसीयतेति । स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्ध्यमत्वस्य सामान्यविशेषयोरभ्युत्सिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम् तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकारः । तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः । चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा योपापिन्द्रियाणि साक्षात्काराणि परिणामः । पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्वमिति । पञ्चस्तेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमेण संयमस्त्रव तत्र जन्म कुत्ता पञ्चरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः ॥ ४७ ॥

भा० का प०—सामान्य और विशेषरूप से शब्दादिक जिनने विषय हैं सब ग्राहक हैं उन ग्राहक विषयों में जो इन्द्रियों की वृत्ति जाती है उस वृत्ति को अहण कहते हैं परन्तु वह वृत्ति सामान्य ग्रहणकार नहीं है विस २ रीति से ग्रिना विचारा विषय या मन इन्द्रियों से शुद्धीन हो सकता है इससे प्रथम जो ग्रहण द्वारा विषय शुद्धीत होता है वह प्रथम स्वरूप भूतों का कालाना है और मन द्वारा जो विचार होता है वह द्वितीयकृप है फिर क्षान स्वरूप जो बुद्धि वह तृतीय कृप है अहंकार चतुर्थ कृप है अनेक कार्यों में व्यस्त प्रकाश करने वाले और स्थिर स्वभाव याले जिनके अहंकार सहित सदृश इन्द्रियाँ कार्य हैं वह इन्द्रियों का पञ्चम रूप है गुणोंके संग जो पुरुषार्थता अर्थात् उद्योग है इन्द्रियों के पांचों रूपों में जब करने से इन्द्रियों का जय लाभ होता है ॥ ४७ ॥

भा० का भावार्थ—इन्द्रियों के जो ५ प्रकार के रूप अर्थात् ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्यथा और अर्थवत्व उन में संयम करके योगी को उचित है कि समाधि से जयलाभ अर्थात् उन को अपने वश में कर के समस्त इन्द्रियों को जीते ॥ ४७ ॥

भो० व०—ग्रहणमिन्द्रियाणां विषयाभिमुखी वृत्तिः । स्वरूपं सामान्येन प्रकाशकत्वम् । अस्मिता अहंकारानुगमः । अन्वयार्थवत्त्वे

पूर्ववत् । एतेषां इन्द्रियाणामधस्थापञ्चके संयमं कुत्वा इन्द्रियजयी भवनि ॥ ४७ ॥

तस्य फलमाह—

भो० च० का भा०—इन्द्रियों की जो विषयों की ओर प्रवृत्ति होती है उसे ग्रहण कहते हैं, स्वरूप का अर्थ सामान्यता से प्रकाश करना है, अस्मिन्ना का अर्थ अहङ्कार है, अन्यथ और अर्थशत्र्य पहले कहेगये । इन्द्रियोंकी इन पांच अवस्थाओं में पूर्ववत् क्रम से संयम करने से योगी को जिनेन्द्रियत्व प्राप्त होना है ॥ ४७ ॥

इन्द्रिय जय का फल कहने हैं—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

सू० का १०—(ततः) इन्द्रिय जय के अनन्तर (मनोजवित्वम्) उत्तम गति (विकरणभावः) इन्द्रियों के अनुकूल वृत्ति की प्रसिद्धि (प्रधानजयश्च) और प्रकृति के सब विकार वश में होते हैं ॥ ४८ ॥

सू० का भा०—तब इन्द्रियजय विकरणभाव और प्रधानजय होता है ॥ ४८ ॥

ध्या० दे० का भा०—कायस्यानुत्तमो गतिकामो मनो जवित्वम् विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रतदेशकालविषयापेक्षां वृत्तिः खामो विकरणभावः । सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इत्थेतास्तिसः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते एताश्च करणपञ्चकरूपजयादधिगम्यन्ते ॥ ४८ ॥

भा० का १०—शरीर की उत्तम गति को प्राप्त होना मनोजवित्व कहाता है देहरहित अर्थात् अन्तर्वृत्ति वाली इन्द्रियों का जो इष्टकूल समय और विषय की वृत्ति है उनकी प्राप्ति को विकरणभाव कहते हैं प्रकृति के विकारों के जीवने को प्रधानजय कहते हैं यह सीनों सिद्धियां मधुप्रतीक कहाती हैं यह तीनों सिद्धि पूर्वोक्त करण अर्थात् ग्रहण पञ्चक के जीवने से होती हैं ॥ ४८ ॥

भो० का भा० - काया की उच्चम गति मनोजवित्व कहाती है इन्द्रियों की दृष्टगतिप्राप्ति को विकरणभाव और प्रकृति विकारों के जीतने को प्रधान जय कहते हैं इन तीनों सिद्धियों का नाम मधुप्रतीका है यह पूर्वोक्त पांच करण के जय से प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

भा० वृ०—शरीरस्य मनोधदनुचमगनिलाभो मनोजवित्वम् । कायनिरपेक्षाण्यमिन्द्रियाणां दृत्तिलाभो विकरणभावः । सर्वचथित्वं प्रधानजयः ॥ एताः सिद्धयो जितेन्द्रियस्य प्रादुर्भवन्ति । ताश्चास्मिन् शाखे मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते । यथा मधुन पकदेशोऽपि स्वदत एवं प्रत्येकमेताः सिद्धयः स्वदत इति मधुप्रतीकाः ॥ ४८ ॥

इन्द्रियजयमभिधायान्तःकरणजयमाह-

भो० वृ० का भा० मन की गति के समान शरीर में भी उच्चम गति की प्राप्ति को मनोजवित्व कहते हैं शरीर के सम्बन्ध को त्याग कर जो इन्द्रियों की वृत्ति को पा ना है उसे विकरणभाव कहते हैं, सबके बाश करने वाले को प्रधानजय कहते हैं । इन्द्रियों को जीतने वाले योगी को यह सब सिद्धि प्राप्त होती है, इन सब सिद्धियों को योगदर्शन में मधुप्रतीक लिखा है जैसे मधु (शहद) स्वाद देता है पैसे ही इनमें से प्रत्येक सिद्धि स्वाद देती है इस ही कारण यह मधुप्रतीक कहानी है ॥ ४८ ॥

इन्द्रियों की जय का वर्णन करके अन्तःकरण की जय का वर्णन करते हैं-

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठा-
तृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

भू० का प० (सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य) सत्त्व जो बुद्धि वह जब निर्मल होकर केवल परमेश्वर के चिन्तन ही में लय होतो उस योगिको (सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्) जितने भाव धर्थात् गुण हैं वे सत्त्व प्राप्त होते हैं (सर्वज्ञातृत्वं च) और सब गुणों का यथार्थज्ञान प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

सू० का भा०—जब योगी की बुद्धि सब विषयों के त्याग से निर्मल होकर केवल ईश्वर चिन्तन में लय होती है तब उसे सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वविकास प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

ठ्या० दे० का भा०—निधूतरजस्तपोमलस्य बुद्धि-सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां चशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यतारुण्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठुस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् । सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं ज्ञात्रं प्रत्यशोपदेश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः । सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मना गुणानां शान्तोदिताच्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपाखं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः । इत्येषा विशेषका नाम सिद्धिः यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः ज्ञानक्लेशवंन्धनो वशी विहरति ॥ ४९ ॥

भा० का प०—धोये गये हैं रजोगुण और तमोगुण के मल जिस सत्त्वगुण विशिष्ट बुद्धि के परम विशारद वशीकार संज्ञा में वर्तमान योगीको सर्व भावों में स्वामीपन प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा के व्यवसाय और व्यवसेयात्मक जितने गुण हैं वे सब अपने स्वामी के वश को उत्पन्न से प्राप्त होते हैं सर्वशता का अर्थ यह है कि आत्मा के शान्त व्यापाररहित, उद्दित सचेष्ट और अव्यपदेश्य—अनिवार्यीय जितने गुण हैं उनका कमरहित विवेक से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान उसी का नाम सर्वज्ञता है । यह विशेषका नाम सिद्धि है जिसको पाकर योगी सर्वज्ञ बन्धनरहित जितेन्द्रिय होकर विचरता है ॥ ४९ ॥

भा० का भा०—जब बुद्धि निर्मल होती है और योगी केवल ईश्वर के चिन्तन में तत्पर रहता है तब योगी को सर्वभावाधिष्ठातृत्व अर्थात् आत्मा के समस्त गुणों में स्वामिभाव प्राप्त होता है और सर्वशता अर्थात् आत्मा के समस्त गुणों के द्वारा विवेक की उत्पत्ति और उस से सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है । इस सिद्धि का नाम विशेषका है और इस की प्राप्ति से योगी सर्वज्ञ और बन्धनरहित होकर विचरता है ॥ ५० ॥

भो० बू०—तस्मिन् शुद्धे सात्त्विके परिणामे कृतसंयमस्व या सत्त्वपुरुषयोरुत्पद्यते विवेकस्यातिर्गुणानां कर्तृत्वाभिमानशिथिली-

भावरक्षा तन्माहात्म्यात् तर्चेव दिथतस्य योगिनः सर्वभावान्
दिष्टातुत्त्वं सर्वशातुत्त्वं समाप्तेर्विति । सर्वेषां गुणपरिणामानां भावानां
स्वाभिवदाक्रमणं सर्वभावाधिष्ठातुत्त्वं तेषामेव च शान्तोदित्ताव्यपदे-
श्यधर्मित्येवावस्थिततानां यथावद्विवेकशानं सर्वशातुत्त्वमेषां चास्मि-
न् शारखरस्यां वशीकारसंदायां प्रापायते विशेषका नाम सिद्धि-
रित्युच्यते ॥ ४६ ॥

क्रमेण भूमिकान्तरमाह—

भौ० द्व० का भा०—उस विशानरूप सात्त्विक परिमाण में संयम
करने से जो सत्त्व और पुरुष का विवेक उत्पन्न होता है उसे अ-
न्यतात्त्वाति कहते हैं । अनाकरण के गुणों की जो कर्तृत्व अभिमान
की शियिलता है उसमें संयम करने से योगी को सर्वाधिष्ठातुत्त्व
सर्वशातुत्त्वरूप समाधि होती है । सर्वाधिष्ठातुत्त्व का अर्थ यह है
कि गुणों के ज्ञितने परिणाम हैं उनके स्वामीणन को प्राप्त कर लेना,
उन्हीं गुणों के जो शान्ति और अव्ययदेश्य धर्म हैं उस में जो
यथार्थ विवेक ज्ञान होता है उस को सर्वशातुत्त्व फहते हैं जब इनको
योगी प्राप्त करलेता है तब वह सिद्धि विशेषका कही जाती है ॥ ४६ ॥
आगे दूसरी भूमिका कहते हैं—

तदैराग्यादपि दोषवीजच्छये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

स० का प०—(तदैराग्यादपि) उक्त सिद्धियों के
वैराग्य से (दोषवीजच्छये) दोषों के धीज नाश हो
जाने से (कैवल्यम्) कैवल्य—मोक्ष होता है ॥ ५० ॥

स० का भा०—सिद्धियों के वैराग्य से जब दोषों का धीज नाश
हो जाता है तब योगी कैवल्य को प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

च४० भा०—यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मच्छये सत्यस्याय
विवेकप्रत्ययो धर्मः सत्त्वञ्च हेयपक्षे न्यस्तम्, पुरुषशापरिणामी
शुद्धोऽन्यःसत्त्वादिति । एवमस्यततो विरज्यमानस्य यानि वलेशश्ची-
जानि दृष्टशालिशीजकन्पान्यप्रसवसपर्यानि तानि सह यनसा
प्रत्यस्तं गच्छन्ति । तेषु प्रत्यनेषु पुरुषः पुनरिदं नापत्रयं न भुक्ते,
तदेतेषां गणानां, मनसि कर्मक्लेशविप्रकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां

चरितार्थानां प्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणाविद्योगः । कैथल्यं, तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥ ५० ॥

भा० का प०—जब योगी को ऐसा होता है क्लेश रूपी कर्मों के बाश होने से बुद्धि का विवेक छानल्पी धर्म सत्य को हेत्यक्ष में रंजकर पुरुष को अपरिणामी और शुद्ध तथा बुद्धि से भिन्न समझता है ऐसा मानकर योगी जब जगत् से उपरत होता है तब उस के सब क्लेशों के दीज ऐसे हो जाते हैं जैसे जले हुए धानों के दीज फिर उत्पन्न होनेके योग्य नहीं रहते । तब मनके अर्थात् संकल्प विकृप लहित अस्त होजाने से मनुष्य फिर आधिसौतिक आधिदैविक और आत्मातिमक दुखों में नहीं फँसता । उक्त गुण जो मन में क्लेश कर्म और कर्मफल के रूप से रहते हैं दृग्ध दीज हो जाने से पुरुष का गुणों से अत्यन्त वियोग होजाता है इस अवस्था को कैवल्य, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति कहते हैं ॥ ५० ॥

भा० का भा०—जब योगी को विद्येक्षप्तव्य अर्थात् विवेक छान होता है तब योगी को कैवल्य प्राप्त होता है अर्थात् जब योगी विवेक छान को लाभ करके जगत् से उपरत होता है तब उसको कैवल्य प्राप्त होता है तब योगी के जितने क्लेश कर्म और विपाक हैं वे सब ऐसे दृग्धदीज होजाते हैं जैसे जला हुआ आङ्ग उत्पन्न होने योग्य नहीं रहता तब इस के संकल्पादि सब विनष्ट हो जाते हैं और ताप-शब्द भी नहीं रहते ॥ ५० ॥

भो० घ०—एतस्यामपि विशेषायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते योगिनस्तदा तस्माहोपायां रागादीनां यद्वीजमविद्यादयस्तस्य क्षये निर्मलने कैवल्यमात्यन्तिकी दुर्लभनिवृत्तिः पुरुषस्य गुणानामधिकार परिसमाप्ती स्वरूपनिष्ठत्वम् ॥ ५० ॥

अस्मिन्देव समाधौ स्थित्युपावमाह-

भो० घ० का भा०—जब विशेषाका सिद्धि प्राप्त योगी को वैराग्य उत्पन्न होता है तब रागादि दोषों की दीजरूप जो अविद्या है, उसका नाश होजाने से जो कैवल्य अर्थात् दुखों की अत्यन्त निवृत्ति है वह प्राप्त होती है और पुरुष गुणों के अधिकारों की समाप्त करके स्वरूपनिष्ठ होजाता है ॥ ५० ॥

इस कैवल्य समाधि में स्थिर होने का उपाय कहते हैं—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-
प्रसंगात् ॥ ५१ ॥

सू० का ४०—(स्थान्युपनिमन्त्रणे) स्थानी अर्थात् योग की भूमिकाओं में स्थिर होने पर भी (संगस्मयाकरणम्) संग और अहंकार नहीं करना चाहिये (पुनरनिष्टप्रसंगात्) फिर भी अनिष्ट अर्थात् दुःखपद सासारिक विषय होते हैं ॥ ५१ ॥

सू० का ४०—योग भूमिकाओं में स्थिर होने पर भी संगादि दोष से योगी को अनिष्ट की प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

ठा० दे० कृ० भा०—वस्त्रारः खल्वर्मी योगिनः प्रथम कल्पको मधुभूमिकः प्रशाङ्गयोतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः । ऋतस्म्भरमङ्गो द्वितीयः । भूतेन्द्रियजयी तृतीयः । सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षावन्धः कर्तव्यसाधनादिमान् । चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीयस्तस्य चिह्नश्चित्सर्म एकोऽर्थः संपत्तिविधात्य प्रान्तभूमिप्रश्ना ।

तत्र मधुमर्तीभूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्यशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते भो इहास्यतामिह इम्यतां कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या रसायनमिदं जरामत्यु वाधते वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुषाः पुण्या पन्द्वाकिनीं सिद्धा महर्षीय उत्तमा अलुरूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुपी वज्रोपमः कायः स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरगमरस्थानंदेवानांग्रियमिति । एतमभिधीयमानः संगदोपान् भावयेत् । घोरेषु संसारांगारेषु षच्यमनेन मया जननमरणाधकारे चिपरिवर्तमानैन कथंचिदासादितः क्लेशनिमिरविनाशी योगप्रदीपस्तस्व चैते तृष्णायोनशो विषय-

बायथः प्रतिपक्षाः । स खल्व है लब्धालोकः कथमनया विषय-
मृगतुष्णायां वश्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीपस्य संसाराग्नेरात्मानभि-
न्धनीकुर्यामिति । स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीये-
भ्या विषये भ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधि भावयेत् ।

संगपकृत्वा स्पष्टमपि न कुर्यादेव वह है देवानामपि प्रार्थनीय
इति । स्मयादयं सुस्थितं पन्थयतया भृत्युना कैश्चोऽु गृहीनमिवात्पानं
न भावयिष्यति । तथा चास्य द्विद्वान्तरप्रेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः
प्रपादो लब्धविवरः वलेशानुचम्भयिष्यति ततः पुनरनिष्ट-
प्रसंगः । एवमस्य संगस्पयावकुर्वते आवितोऽर्थो इदो भवि-
ष्यति । भावनीयथार्थोऽभिमुखी भविष्यतीति ॥ ५१ ॥

आ० का प०—ये योगी ४ प्रकार के होते हैं । उन में से पहला
प्राथमकलिपक, दूसरा मधुभूमिक, तीसरा प्रकाञ्योति, चौथा
अतिक्रान्तभावनीय कहाता है उनमें से प्रथम वह है जो अभ्यास
करने में प्रवृत्त होता है, दूसरा भूतम्पर प्रक कहाता है तीसरा
प्रकाञ्योति वह है, जिसने अपने सब कर्तव्य साधनों में अर्थात्
भावित और भावनीय विषयों में रक्षाबन्ध किया है, इसीको
भूतेन्द्रियं जयी भी कहते हैं । चौथा अतिक्रान्तभावनीय वह है जिस
का विष्ट एक विषय में संलग्न रहता है इसकी सात प्रकारकी प्रान्त-
भूमि है उन भूमियों में से मधुमती भूमि में जब योगी प्राप्त होता है
देव लोग योगी के विच्च की शुद्धि को देखकर स्वगोदिं स्थानों का
लोभ दिखाकर उसको निमंत्रित करते हैं । आजी यहाँ आओ, यहाँ रमण
करो, यह भीग मनोहर है, यह मनोहर कन्या है, यह रसायन अर्थात्
औषधिकां जुरा (वृद्धावस्था) और मृत्युको नाश करती है यह आकाश-
गामी धान अर्थात् सधारी है और ये कल्पवृक्ष है, यह ऐविव गंगा
नदी है, ये सिद्ध ऋषिलोग हैं, उत्तम और प्रेम करनेवाली यह अप्स-
रायें हैं, यह दिव्य ओंच और नेत्र हैं, वंजरके संमान शरीर तुमने अपने
शुणों से सब को प्राप्त किया है इस आवश्य आजर अमर देवतों के प्रियं
स्थान को पाकर आनन्द भोगो । उनके ऐसे वज्रों से भोगित
न होकर उनमें संगदोष की भावना करो । संसार की अविनामें जलते
हुए मैंने कलेशों का नाश करने वाला योगरूपी दीपक पाया है
उसके ये लुप्तां है योनि जिनकी ऐसे यह विषय कृपी धार्यु शंखु हैं

सो में प्रकाश को प्राप्त होकर योगी कर इस विषय मूरातुष्णा में फंसकर फिर जलती हुई संसार अभिन में आपनी आत्मा को दून्हने वालाकै ॥ जो सिद्धि दिखाकर देवता उत्तम विषयों में फंसाने का प्रयत्न करते हों उनसे योगी कहै कि आप योगों का कर्त्तव्य हो ये सब सम के समान हैं दीन दरिद्र लोग ही इन को चाहते हैं इस मति में दृढ़ होकर समाधिकी चिन्ता करे विषय और विषयीजनों का संग त्याग कर उनका अनुमोदन भी न करे । मेरी देवता भी स्तुति करते हैं इस अभिमान से यदि योगी आपने को सुरित्यत मान कर ऐसा नहीं समझेगा कि मांते इसके केशों को भूत्युने पकड़ रखवा है तो इसका द्विद्वान्वयी प्रमाद दोषों को पाकर कलेशों को उठाने वाला होगा उनसे फिर अनिष्ट की आशंका है ॥ ५१ ॥

भा० चा०—योगी चार प्रकार के होते हैं १ प्राथमकलिक २ मधुभूमिक ३ प्रशार्थ्योति ४ अतिकान्तभावनीय । इनमें से प्राथम कलिक योगी वह है जो अभ्यास करते वाली ज्योतिमें प्रवृत्त ही हुआ है इसरा मधुभूमिक वह कहाता है जो पूर्वीक ऋतनभरप्रबा को प्राप्त हुआ है तो सरा प्रकार्योति उस योगी को कहते हैं जिसने प्रतिर्थों को जीत लिया हो और कर्तव्य में कृतकार्य हुआ हो जीवा अतिकान्तभावनीय कहाता है । अतिकान्तभावनीय योगी की वृद्धि को सात भूमिका है—उन भूमिकाओं में से जब मधुमती भूमिका प्राप्त होती है तब देवता अर्थात् द्विद्वान् लोग योगी की मानविक शुद्धि की परीक्षा करने को अनेक लोग दिखाते हैं अर्थात् कहते हैं कि यह उत्तम भोग मनोहर स्थान और मनोहर खी त्रुमको तुम्हारे तपोवल से प्राप्त हुई है इत्यादि को सुनकर योगी को उचित है कि उनका संग न करे और न यह अभिमान करे कि देवता मेरी स्तुति करते हैं इससे मैं बड़ा सिद्ध हु योगीक उक्त विषयों का संग करने से बा अभिमान से प्रमाद कलेशों की वृद्धि करेगा उनसे फिर उन्हीं भगवानों में पड़ना होगा जिनसे छूटने को योग किया था ॥ ५१ ॥

भ० च२०—चतुर्वारी योगिनो भवनित । तत्राभ्यासचार प्रवृत्तमा अज्योति प्रगमा । प्रत्यंभरप्रबो द्विनीय । भूतेन्द्रियजनी तनीय । अति कान्तभावनीयस्त्वतुर्थ । तस्य चतुर्थस्य समाधेः प्राप्तसंसविधभूमिप्रत्य यस्यान्त्यां मधुमती संहाँ भूमिका साक्षात्कुर्वनः स्वामिनो देवां उपनिमन्त्रयितार्यो भवनित । दिव्यस्त्रीवसननादिकमुपदौकप्रत्योति

तस्मिन्नुपनिमन्त्रणे नानेन संगः कर्त्तव्यः । नापि स्मयः । संगतिकरणे पुनर्विषयमोगे पतति । स्मयकरणे कृतकृत्यमात्मानं मन्यमानो न समाधी उत्सहते । अतः सङ्गस्मशबोस्तेन धर्जनं कर्त्तव्यम् ॥ ५१ ॥ ।
अस्यामेव फलभूतायां विवेकख्यातौ पूर्वोक्तसंयमध्यतिरिक्तमुपायान्तरमाह—

भो० व० का भा०—योगी भ प्रकार के होते हैं उनमें अभ्यास करने वाला प्रथम प्रवृत्तमात्र ज्योति कहाता है (क्योंकि वह योग की ज्योति में अभी प्रवृत्त हुआ है) उसरा भूतंभर प्रश्न कहा जाता है (क्योंकि उसकी बुद्धि योग में प्रविष्ट हो चुकी) तीसरा भूतेन्द्रियजयी कहलाता है (क्योंकि उसने समाधि के बलसे इन्द्रियों को जीत लिया है) और चौथा अतिक्रान्तभावनीय अभिहित होता है, इनमें से जो चौथा योगी है उसने समाधि की भूमिका प्राप्त करके मधुरी भूमिका को प्राप्त किया है इस कारण देवता उसको तुलाते हैं और उसके पास आते हैं, विव्य खी और दिव्य घब्ब उसे स्वयं प्राप्त होते हैं परन्तु यह योगी उन लिङ्गों को देख कर अपने को कृत-कृत्य नहीं समझता है क्योंकि कृतकृत्य समझने से समाधि में उत्साह नहीं रहता है इस कारण चतुर्थ योगी को संग और स्मय त्यागने चाहिये ॥ ५१ ॥

इस समाधि का फलकप विवेकख्याति में पूर्वोक्त संयम के अतिरिक्त और भी उपाय कहते हैं—

क्षणतत्क्रमयोः। संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥५२॥

स० का प०—(क्षणतत्क्रमयोः) जितने काल में एक परमाणु पछटा खाता है उतने काल को क्षण कहते हैं और उसके द्वितीय परमाणु से संयोग को क्रम कहते हैं । उन दोनों में (संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्) संयम करने से विवेक अर्थात् अनुभव लिङ्ग ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

स० का भा०—क्षण अर्थात् काल की सद्मावस्था और गति में संयम करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

ठ्या० दें० कृ० भा०—यथापकर्षपर्यंतं द्रवयं परमाणुं
रेवं परमापकर्षपर्यंतः कालः क्षणो यावता वा समयेन चक्षितः
परमाणुः पूर्वदेशं जन्मादूचरदेशसुपर्संपर्येत् स फालः क्षणः ।
तत्प्रवाहानिच्छेदस्तु क्रमः । क्षणतत्त्वमयोनीरिच घट्टुसमाहार
इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्तादेशात्रादियः । स खल्वयं कालो च स्तु-
शून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दानानुपाती लोकिकानां व्युत्थि-
तदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावधासते ।

क्षणस्तु वस्तुपत्तिः क्रमाचलंती । क्रमशः क्षणानन्तर्यात्पा-
तं कालविदः काल इत्याचित्तते योगिनः । न च द्वौ क्षणौ सह
भवनः । क्रमशः न द्वयोः स भूष्योरसम्भवात् । पूर्वस्मादुचर-
भाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः । तस्मादृत्यान एवैः
क्षणो न पूर्वत्तिरज्ञायाः सन्तीति । तस्मान्नास्ति तत्समाहारः ।
ये तु भूतभाविनः क्षणात्ते परिणापान्विता व्याख्येयाः । तेनैकेन
क्षणेन कुरुत्स्तो लोकाः परिणापमनुभवनि । तत्क्षणोपाख्याः
खल्वयी सर्वे धर्माः । तयोः क्षणतत्त्वमयोः संयमात्तयोः साक्षा-
त्करणम् । तत्तत्त्वं विवेकं शानं प्रादुर्भवति ॥ ५२ ॥

तत्प्रवाह विप्रविशेष उपचित्पत्ते-

भा० का प०—जैसे द्रव्य घट्टते २ अर्थात् सूक्ष्म देशो में परमाणु
क्षण रहजाता है ऐसे ही परम सूक्ष्मावस्था के काल को क्षणं कहते हैं
अथवा जितने काल में ज्ञान बुझा परमाणु पूर्वस्थान को त्यागता
और अगते स्थान की प्राप्त होता है उतने काल को क्षण कहते हैं
उसकी गति घा प्रवाह को क्रम कहते हैं क्षण और उसके क्रम का
समाहार वस्तुसमाहार नहीं है किन्तु क्षणादि व्यवहार घाली बुद्धि
की स्थिता से ही मुहूर्त और रात्रि दिन आदि का व्यवहार होता
है सो यह काल वस्तुशून्य अर्थात् अमूर्त द्रव्य है और केवल बुद्धि
का परिणाम मात्र है शब्दान द्वारा से जानने वो यह उन संसारी मनुष्यों
को वस्तु के जमान जान पड़ता है जिनका चित्त स्थिर नहीं है
फूलावलम्बी अर्थात् फूल के आश्रित होने से दण वस्तु मध्यपाती है
जाम क्षण से ही जाना जाता है उसको कालज्ञ योगी काल कहते हैं

और न को क्षणों का संयोग होता है और न को क्षणों के क्रमों का संयोग होता है क्योंकि उनका प्रकृति क्षण से होने वाले उच्चर क्षण को जो भेद है उसे ही क्रम कहते हैं इसलिये वर्तमान ही एक क्षण होता है पूर्व क्षण और उच्चर क्षण नहीं होते। इस कारण क्षणों में समाहार अर्थात् इकट्ठा होना नहीं है और जो भूत अर्थात् पूर्वक्षण, भावी-होने वाला अर्थात् उच्चरक्षण वर्तमान क्षण के हो परिणाम कहने योग्य है इस द्वेषु से खम्सत जगत् एक ही क्षण में परिणाम अर्थात् दूसरी अवस्था को प्राप्त होता है इससे सब धर्म क्षण के आधित हैं क्षण और उसके क्रम में संयम करने से क्षण और क्रम का साक्षात् क्षान और उससे विवेक अर्थात् निष्क्रियात्मक क्षान उत्पन्न होता है ॥ ५२ ॥

भा० का० भावा० जितने काल में परमाणु पलटा खाते हैं उतने काल को क्षण कहते हैं और जितने में दूसरे परमाणु से संयुक्त होता है उसे क्रम कहते हैं। यदि 'कहाजाय' कि क्षण के पश्चात् जो प्रवाहावच्छिन्नन काल है उसे उच्चरक्षण कह सकते हैं; परन्तु क्षण और क्रम का समाहार नहीं होता केवल युक्ति के समाहार से रात्रि दिन आदि काल संक्षा होती है। वस इस क्षण और क्रम में संयम करने से योगी को संत्य क्षान प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

भ० दू०—क्षणः सर्वान्त्यः कालावयवोऽप्यकलाः प्रसंवितु न शक्यन्ते । तथा विद्वात् कालक्षणात् यः क्रमः पौर्वपद्येण परिणाम-इत्यत् संयमात् प्राप्तुकं विवेकज्ञः क्षानमुत्पन्नद्यते । अयमर्थः—अयं कालक्षणाऽप्युप्यात् कालक्षणादुच्चरोऽप्यमस्मात् पूर्व इत्येवंविधे क्रमे क्षतसंयमस्यात्यत्तसद्यमेऽपि क्षणक्रमे यदा भवति साक्षात्कारस्तदाऽन्यदपि सूक्ष्मं महदादि साक्षात्कार इति विवेकद्वात्मोत्पत्तिः ॥ ५२ ॥

अस्यैव संयमस्य विषयविवेकोपयोगमाह-

भ० दू० का० का० भा०—काल के उस भाग को क्षण कहते हैं जिसका कोई आग न हो सके उस क्षण का जो क्रम अर्थात् पूर्वपरिणाम और उच्चरपरिणाम है उसे में संयम करने से विवेक काल उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि यह कालक्षण असुक कालक्षण से पहिले और असुक कालक्षण से पीछे है। इस क्रममें संयम करनेसे योगी को

जग्र क्रम का ज्ञान होजायगा तब वह महत्त्वादि स्थूल पदार्थ तथा स्फूर्तम् पदार्थों के भी क्रम को और भागों को जान जायगा ॥ ५२ ॥

उस विवेक ज्ञान का विषय विशेष कहते हैं—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

पदार्थः—(जातिलक्षणदेशैः, अन्यतावच्छेदात्) जाति, लक्षण और देशों से अनवच्छिन्न (तुल्ययोः) तुल्य दो पदार्थों की (ततः) तदनन्तर (प्रतिपत्तिः) प्रतिपत्ति होती है ॥ ५३ ॥

सू० का भा०—जाति लक्षण और देश की पक्ता वा मिन्नता से दो पदार्थोंका भेदाभेद जाना जाता है ॥ ५३ ॥

ठगा० दे० कु० भाष्य—तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जाति-भेदोऽन्यताया हेतुगौरियं बडवेयमिति । तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणपन्यत्वकरं कालान्ती गौरीः स्वस्तिमती गौरिति । द्वयोरामज्ज-कयोर्जानिलक्षणसारूप्यादेशभेदोऽन्यत्वत्वकर इदस्पूर्वमितद्वृत्तर-मिति । यदा तु पूर्वमामलकमन्यत्वग्रस्य हातुरुचरदेश उपाधत्यर्ते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुच्चरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः । असं-दिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकज्ञानादिति ।

कथं पूर्वामलकसहक्षणोः देश उत्तरामलकसहक्षणादेशाद्विक्षिणः । ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवमिन्ने अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति । एतेन दृष्टातेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तरस्य पुरमाणोस्तदेशानुपपत्तौ उत्तरस्य तदेशानुभवो भिन्नःसहक्षणभेदाक्षयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रस्त्ययो भवतीति ।

अपरेः तु वर्णयन्ति—येऽन्त्याविशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति ।
तत्रापि देशलक्षणमेंदौं मूर्तिव्यवधिजातिभेदशब्दान्यत्वे हेतुः ।
क्षणभेदस्तु गोगिंदुद्विगम्य एवेति अत उत्तं मूर्तिव्यवधिजाति-
भेदाभावान्नास्ति । मूलपृथक् त्वं प्रिति । वार्षिगण्यः ॥ ५३ ॥

मा०प०जब कि हीं दो वस्तुओंमें से एक वस्तुका विवेकज्ञान प्राप्त करना है तो उनका देश, लक्षण और जातिभेद जानना आवश्यक है यदि दोनों का देश और लक्षण, मिलता हो तो घटां उनका जातिभेद ही विवेकज्ञानका हेतु होगा । यह गौ है और यह धोड़ी है इस ज्ञानमें दोनोंका देश एक है और पशुत्व जाति एक ही है परन्तु, यहां पर दोनों के लक्षण ही विचेक क्षान के कारण हैं गौ के गले में मांस होता है उसे स्वस्ति कहते हैं तो यह लक्षण कि गौ स्वस्तिवाली है गौ के सत्य ज्ञान कर देने चाहा है । जहाँ दो आंखोंके पान से जाति और लक्षण समान हो वहां भेद से निश्चय होता है यह पूर्व वस्तु है और यह उत्तर वस्तु है अभिप्राय यह है कि सन्देहरहित तत्त्वज्ञान होना चाहिये इस प्रयोजन से उक पद कहा जाता है ॥ ५३ ॥

भो० वृ०—पदार्थानां भेदहेतवों जातिलक्षणदेश भवन्ति । वचनिः
ज्ञे देहेतु जातिः । यथा गौरियं महिपीयमिति । जात्या तुल्ययोर्लक्षणं
भेदहेतु, इयं कवृत्तैयमरुणेति । जात्या लक्षणेतामिन्नयोर्भेदहेतुक्षेत्रो
द्रष्टुः । यथा तुल्यप्रमाणयोरामलक्योर्भिन्नदेशस्थितयोर्यत्र पुनर्भेदोऽव-
धारयितुं न शक्यते । यथैकदेशस्थितयोः शुफलयोः पार्थिवयोः परमा-
रवोर्स्तथांविधे विषये भेदाद्य कृतसंयमस्य भेदेन ज्ञानमुपपदाते । तदा,
तदभ्यासात् सूक्ष्मरूपयोगि तत्वानि भेदेन प्रतिपदाते । पत्रहुत्तं
भवति—यत्र केनचिदुपायेन भेदो नावधारयितुं शक्यस्तत्र संयमाद्द-
व्यवेक भेदप्रतिपदिः ॥ ५३ ॥

भो० वृ० का भाव—पदार्थोंके भेदके हेतु जातिः लक्षण और देश
होते हैं अर्थात् इस तीनों से ही पदार्थोंमें भेद जाना जाता है, कहों
जानि से भेद, जान पड़ता है; जैसे यह गौ है और यह भैंस है इन
दोनोंमें पशुत्वरूप एक जाति रहने से भी गांत्व और महिपत्न
जाति का भेद है, जहाँ दो गौओंमें भेदज्ञान जाननां हो वहां लक्षण
भेदकारक होता है यह चित्तली गौ है और यह लाल गौ है; जिन
दो पदार्थोंमें जाति और लक्षण की एकता, पार्वती जाती हो उनमें

वेशकारक भेद होता है जैसे समान प्रमाण वाले दो आंचलों का भेद केवल स्थल विशेष से होता है परन्तु एक देश में जो दो परमाणु एक ही जानि और सद्वय पुक्त रहते हैं उन में भेदज्ञान नहीं हो सकता है किन्तु जो भेदज्ञान में संघर्ष करता है उस की भेदज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् तत्क्रोके सूक्ष्म भेदको भी योगी जान जाना है ॥५३॥

सूक्ष्म सत्त्वों में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस की विशेष संप्रा आगे कहते हैं —

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

स० का प०—(तारकम्) तारक अर्थात् विवेक-ज्ञान (सर्वविषयम्) जिस से किसी विषय का ज्ञान क्रिया नहीं रहता (सर्वथाविषयमक्रमं चेति) भूत, भविष्य और वर्तमान क्रम से रहित जो ज्ञान है (विवेकं ज्ञानम्) वह विवेकज्ञ ज्ञान कहलाता है ॥ ५४ ॥

स० का भा०—तारक वह विवेकज्ञ ज्ञान है जिस से सूक्ष्म विषय और सर्वकालीन ज्ञान होता है ॥ ५४ ॥

ध्या० दे० क० भा०—तारकमिनि स्वप्रतिभोत्थपनौपदेशिक्षणित्यर्थः । सर्वविषयं नास्य किञ्चिदविषयीभूतयित्यर्थः । सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं पर्यायो सर्वथा ज्ञानतीत्यर्थः । अक्रमप्रित्येकत्त्वाणापारुदं सर्वं सर्वथा वृह्यातीत्यर्थः । एनद्विवेकं ज्ञानं परिपूर्णम् । अस्य वाशो योगपदीपो मधुमतीं भूमिषुपादाय यावदस्य परिसपासिरिति ॥ ५४ ॥

शास्त्रविवेकं ज्ञानस्यापासिवेकं ज्ञानस्य वा—

भा० का प०—तारक उसे कहते हैं जो अपनौ प्रतिभा अर्थात् शुद्धि से उत्पन्न हो अर्थात् विषय के उपदेश किये जो ज्ञान

हो उसे तारक कहते हैं। सर्व विषय का अर्थ है कि कोई विषय इस ज्ञान से छुड़ा नहीं रहता है अक्रम का अर्थ है कि पूर्वोक पक दृष्टि में जितना पदार्थ वा कार्य जगत् में है उससव को पूर्वरीति से योगी जानता है यह पूर्ण विवेकज्ञान है इस ही का पक भाग योगप्रदीप है जो मधुमती भूमि से तारकज्ञान प्राप्तिपर्यन्त रहता है चाहे वह विवेक ज्ञान का प्रदीप हो वा अप्राप्त का हो ॥ ५१ ॥

भा० का भा०-तारक ज्ञान उसे कहते हैं जो बिना किसीके उपदेश किये योगीके हृदय में प्रकाशित हो। सर्वविषयक भी हो अर्थात् कोई पदार्थ इस ज्ञान से बाहर नहीं रहता इस ही ज्ञान का नाम विवेकज्ञान है ॥ ५४ ॥

भो० वृ०-उक्तसेयमबलादन्त्यायां भूमिकायामुत्पन्नं ज्ञानं तारण-
त्यगाधात् संसारसागरात् योगिनमित्यान्वर्थिक्या संशया तारकमि-
त्युच्यते । अस्य विषयमाह सर्वविषयमिति । सर्वाणि तत्त्वानि महदा-
दीनि विषयोऽस्येति सर्वविषयम् । स्वभावश्चास्य सर्वथा विषयत्वम् ।
सर्वाभिरवस्थाभिः स्थूलस्त्रूपादिभेदेन तैस्तैः परिणामैः सर्वेण
प्रकारेणावस्थितानि तत्त्वानि विषयोऽस्येति सर्वथाविषयम् । स्वभावा-
न्तरमाह-अक्रमज्ञवेति । निः शेषनानावस्थापरिणतङ्यात्मकमावश्रये
नास्य क्रमो विद्यत इति अक्रमम् । सर्व करतलामलकवत् युगपत् पश्य-
तीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अस्य विवेकज्ञात् तारकास्यात् ज्ञानात् किं भवतीत्याह—

भो०वृ० का भा०—उक्त संयम के बल से अन्त्यभूमिका में, जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे तारक ज्ञान कहते हैं क्योंकि वह योगी को इग्डा लंसार सागर से तारता है इस ही कारण उस ज्ञान का नाम तारक है । अब इस तारक ज्ञान का विषय कहते हैं, वह सर्वविषय है अर्थात् महत्त्व आदि सम्पूर्ण इस के विषय है, तत्वों के स्वभाव भी इसके ही विषय हैं, चाहे जो तत्व किसी अवस्था वा किसी परिणाम में हो तारकज्ञान युक्त योगी सब को यथार्थरूप से जानता है । अब दूसरा स्वभाव कहते हैं, सम्पूर्ण अवस्थाओं में परिणत होके जो तत्व अनेक रूप को धारण करता है उन सब को योगी कर्त्तमलकवत् जानता है ॥ ५४ ॥

इस तारक ज्ञान से बद्धा होता है इस को आगे कहते हैं—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥५५॥

ख० का ४०—(सत्त्वपुरुषयोः) शुद्धि और पुरुष दोनों की (शुद्धिसाम्ये) शुद्धि और समता होने पर (कैवल्यम्) मोक्ष होती है ॥ ५५ ॥

ख० का ४०—जब शुद्धि पुरुष के समान निर्मल अर्थात् पाप, खिन्तादि दोषरहित होती है तब उस अवस्था को कैवल्य कहते हैं ॥ ५५ ॥

४० ८० द० क० भा०—यदा निर्दूतरजस्तगोपलं शुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यतापत्ययपात्राधिकारं दग्धकलेशवीजं भवति तदा पुरुषस्योपचरितभोगामाचः शुद्धिः । एतस्यापवस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विकेकज्ञानभागिन इतरस्य वा नहि दग्धकलेशवीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजन्मैश्वर्यं ज्ञानं चोपकांतम् । परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निर्वर्तते तस्मिन्निवृत्ते नश्यन्तस्युच्चरे क्लेशाः । क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः । चरिताधिकारश्चैतस्यापवस्थायां गुणा न पुरुषस्य पुनर्दृश्यत्वेनोपतिष्ठतंते । तत्पुरुषस्य कैवल्यं तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरपलः केवली भवति ॥ ५५ ॥

भा० का ४०—जब धोये गये हैं इजोगुण और तमोगुण ऊपरी मल जिस के ऐसी निर्मल शुद्धि पुरुष से भिन्नतामात्र का जो अधिकार है उसका बीज दग्ध जब होजाता है तब योनी की शुद्धि पुरुष की जो शुद्धता है उसकी समानता को प्राप्त हो जाती है पुरुष को जो भोगोंका अभाव है उसे शुद्धि कहते हैं इस अवस्था में ईश्वर अनीश्वर वा किसी विवेक ज्ञान वालोंको कैवल्य होता है । दग्ध होये हैं क्लेश के बीज जिस के उसे किसी की सहाय लेने की अपेक्षा नहीं रहती शुद्धि की शुद्धता के द्वारा वह समाधिसे उत्पन्न ऐश्वर्य और क्षात्रको प्राप्त होता है । यथार्थ में तो ज्ञान से विषयों की निवृत्ति होती है विषयनिवृत्ति से भावी क्लेशों का नाश होजाता है क्लेश निवृत्ति होने से कर्म और कर्म फल की निवृत्ति होती है इस अवस्था में

काम करने वाले गुण-पुरुषभाव से ॥ पुरुष को दिखलाई नहीं देते पुरुष की हस व्ही दशा को कैवल्य कहते हैं तब पुरुष प्रकाश स्वरूप निर्मल केवली होता है ॥ ५५ ॥

भा० का भा०-जय बुद्धि से रजोगुण और तमोगुण के मल नष्ट हो जाते हैं तब वह निर्मल बुद्धि पुरुषस्थ निर्मलता के समान हो जाती है उस समय पुरुष को भोगों का अभाव हो जाता है और इस ही अवस्था में कैवल्य प्राप्त होता है । कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर पुरुष स्वतन्त्र हो जाता है क्यों कि ज्ञान से दर्शन अर्थात् विषय साधन निवृत्त हो जाता है साधन निवृत्ति से होते वाले कलेशों की निवृत्ति होती है और उस से कर्म विपाकों का अभाव और कर्म विपाक के अभाव से दुरुर्णाव नहीं होता इस ही अवस्थाको कैवल्य कहते हैं ॥ ५५ ॥

भी० ब०—सत्त्वपुरुषाद्वृक्लक्षणी तथोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यं सत्त्वस्थ सर्वकर्तृत्वाभिमाननिवृत्या स्वकारणेऽनुप्रवेशः शुद्धिः । पुरुषस्थ शुद्धिरूपचरितमोगामाच इति द्वयोः समानार्थां शुद्धौ पुरुषस्थ कैवल्यमुत्पद्यते भोगो भवतीत्यर्थः ।

तदैवमन्तररङ्गे योगाद्वयमभिधाय तस्यच संयमसंज्ञां कृत्वा संन्वय च विषयप्रदर्शनार्थं परिणामव्ययमुपपाद्य संयमव्ययोत्पद्यमानाः पूर्वान्तपरान्तमध्यभवाः सिद्धीरूपदर्शये स्वमाध्यम्यासोपपत्तये वाहा भुत्रनहानादिरूपा आभ्यन्तरात्मा कायव्यूहानादिरूपाः प्रदर्शय समाध्ययोगायेन्द्रियप्राणजयादिपूर्विकाः परमपुरुषार्थसिद्धये यथाक्रममवस्थासहितभूतजयोद्भवात्क्षयात्यय विवेकहानीपपत्तये तां स्तानुपायाद्वृपन्वस्यतारकस्य सबलमाध्यवस्थापर्यन्तमवस्थस्वरूपभभिधाय तत्समापत्तेः कृताधिकारस्यविच्छिन्नत्वस्य स्वकारणानुप्रवेशात् कैवल्यमुत्पद्यत इत्यमिहितमिति निर्णीतो विभूतिपादस्तुतीयः ।

भी० ब० का भा०—सत्त्व और पुरुष के लक्षण प्रथम कह जुके हैं उन दोनों में जब यचित्ता की समानता होती है अर्थात् सत्त्व में जो कर्तृत्व कर्त्ता मिथ्याभिमान है जब वह निवृत्त हो जाता है और पुरुष में सहचारी भोग का अभाव होता है यही दोनों की समान शुद्धि है, तब पुरुष को भोग प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

इति भोजदेवविरचिनार्थां राजमार्त्तेष्ठामिधायां

पातञ्जलवृत्तौ विभूतिपादस्तुतीयः ।

उपसंहार ।

इस पाद में योग के तीन अंग ध्यान, धासणा, समाधि का वर्णन करके उन तीनों की एक संयमसंज्ञा नियत करके, संयम के विषयों को दिखलाने के निमित्त वीन परिणामों का वर्णन किया, संयम के बल से उत्पन्न हुई पूर्णत, परसंत और मध्यभाग की सिद्धियों का वर्णन करके, समाधि के अभ्यास को इह करने के निमित्त वाहा शुभन अनादि रूप और आभ्यन्तर कायबूहङ्गानरूप सिद्धियों को कहके समाधि के उपकार निमित्त इन्द्रियजय और प्राणाजय आदि का वर्णन भी किया; परम पुरुषार्थ अर्थात् सुक्ति की प्राप्ति के निमित्त क्रम से अवस्था सहित भूतेन्द्रियजय और सत्त्वजय का वर्णन भी किया, चिकित्सान के निर्णय के उपाय कहे फिर सब समाधि और अवस्थाओं में उपकार करने वाले तारकज्ञान का भी वर्णन किया उस तारक ज्ञान में योगी के चित्त को अधिकार प्राप्त होता है तब उसको कैवल्य भी होता है यही वर्णन किया है ॥

इति पातञ्जले सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे विभूतिपादस्त्वतीयः ।

* ओ३म् *

अथ कैवल्यपादः

२५४१०८८८

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

सू० का प०—(जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः) सिद्धि जन्म से ओषधि से मंत्र से तप से और समाधि से उत्पन्न होती हैं ॥ १ ॥

सू० का भा०—सिद्धि जन्मादि से उत्पन्न होती हैं ।

ठ्या० दे० का भा०—देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः । ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्यैवमादिः । मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभः । तपसा संकल्पसिद्धिः, कांपरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादिसमाधिजाः सिद्धयो च्याख्याताः ॥ १ ॥

भा० का प०—जन्म से सिद्धि वह कहाती है जो पूर्वजन्म के शरीर द्वारा सम्पादित होकर इस जन्म में दिना श्रम के प्राप्त हो जाती है रसायन आदि से असुर लोगों के स्थानों में अनेक सिद्धियाँ होती हैं भन्तों से आकाशगमन और अणिमादि सिद्धि होती है तप से संकल्प सिद्धि होती है अर्थात् अपनी इच्छालुसार जहाँ चाहे तहाँ जा सकता है समाधि से जिन सिद्धियों की प्राप्ति होती है उनका विभूतिपाद में वर्णन करत्तु के हैं ॥ १ ॥

भा० का भा०—देहान्तर के साधन से जो सिद्धि प्राप्त होती है वे जन्मसिद्धि कहाती हैं जो रसायनादि से प्राप्त होती हैं वे ओषधिक सिद्धि । संकल्पसिद्धि को तपःसिद्धि कहते हैं और समाधिज सिद्धि का वर्णन विभूतिपाद में लिख चुके हैं ॥ १ ॥

इदानीं विप्रतिपक्षिसमुत्थधानिराकरणेन युक्त्या कैवल्य-स्वरूपक्षानाय कैवल्यपादोऽयमारम्यते—

तत्र या: पूर्वमुक्ताः सिद्धयस्तासां नन्मायिधजन्मादिकारणप्रतिपाद्-
नदारेणीवं घोषयति । यदि या या पत्ताः सिद्धयस्ताः सर्वाः पूर्वजन्मा-
भ्यस्तसमाधिवात् जन्मादिनिमित्तमात्रत्वेनाथित्य प्रवर्त्तन्ते । तत्त्वात्
नेकमध्यसाध्यस्य समाधेन स्तिरस्तीत्याश्वासोत्पादनाय समाधि-
सिद्धेष्य प्राधान्यस्यापनार्थं कैवल्योपयोगार्थं चाह—

ओ० छ०—काश्चन जन्मनिमित्ता एव सिद्धयः । यथा पूर्वादी-
नामाकाशगमनादयः । यथा वा कपिलमहर्षिप्रभूतीनां जन्मसमन्तर-
मेवोपज्ञायमानां शानादयः सांखिदिका गुणाः । शोषधिसिद्धयो
यथा—पारदादिरसायनाथुपयोगात् । मन्त्रसिद्धिर्यथा—मन्त्रजपात्
कैवल्यादिकाशगमनादिः । तपःसिद्धिर्यथा॥विश्वाभिनाम् । समाधि-
सिद्धिः प्राक् प्रतिपादिता । एताः सिद्धयः पूर्वजन्मक्षयितक्लेशनामेवो-
पजायन्ते । तस्मात् समाधिसिद्धाविवान्यासां सिद्धीनां समाधिरेव
जन्मान्तराभ्यस्तकारणम् । मन्त्रादीनि तु निमित्तमात्राणि ॥ १ ॥

मनु नन्दश्वरादिकार्ता जात्यादिपरिणामेऽस्मिन्नेव जन्मनि-
ष्टयते तत्कथं जन्मान्तराभ्यतस्तस्य समाधेः कारणत्वमुच्यते
इत्याशुक्षपाद—

ओ० छ० का भा०—अब संशय से उत्पन्न हुई भान्ति को खंडन
फरके युक्ति द्वारा कंघल्यप्राप्ति को दृढ़ करने के निमित्त फैवल्यपादको
आरम्भ करते हैं—

पूर्व जिन सिद्धियों का धर्णन किया था उनके जन्मादि अनेक
कारण हैं वे जय प्रकट होती हैं तथ ऐसा घोष करती हैं अर्थात्
उनको पाकर योगी को ऐसा शान्त होना है कि मेरी यह सिद्धि पूर्व
जन्म में सिद्ध समाधि के घल से उत्पन्न हुई है अहां जन्म लेते ही
प्रगट हो गई है, इस से यह सिद्ध होता है कि अगले जन्म से जो
योगाभ्यास करता हुआ योगो चला आता है उस योग की हानि
नहीं हुई है, समाधि के अभ्यास को सिद्धि ही प्रकाशित करती हैं
इस कारण संमाधि सिद्धियों की प्रधानता को वर्णन करते हैं ।

कोई सिद्धिं जन्म कारण से ही उत्पन्न होती है जैसे पक्षी आदिकों
का आकाशगमन आदि, अथवा महर्षि कपिल आदिके जन्म लेते ही
शान्दिक सांखिदिक गुण प्रकट हो गये थे, शोषधियों से जैसे पारे
आदि से जरा मृत्यु नाश कर जाने बनाये जाते हैं, मन्त्र से सिद्धि

जैसे विमान द्वारा आकाशगमनादि, तपसें सिद्धि जैसे विश्वामित्रादि को हुई थी और समाधि की सिद्धियों का पूर्व पाद में वर्णन कर सुके हैं। ये लब सिद्धि पूर्वक्लेशों की निवृत्ति के पश्चात् ही उत्पन्न होती हैं सिद्धियों के प्रादुर्भाव में समाधि ही कारण है और मन्त्रादि नाम सात्र के निमित्त हैं ॥ १ ॥

तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातीयपरिणामाभ्—

जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

सू० का प०(जात्यन्तरपरिणामः) जाति का परिवर्तन (प्रकृत्यापूरात्) प्रकृति के कारण से है ॥ २ ॥

सू० का भा०—जाति का परिणाम प्रकृति के विकार से होता है ॥ २ ॥

व्याठ० दे० का भा०—पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोप-
जनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाऽन्वति । कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं
स्वं विकारं मनुग्रहणात्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ॥ २ ॥

भा० का प०—पूर्व परिणाम के नाश होनेपर जो दूसरा परिणाम होता है उसे उपजन कहते हैं वह उक्त परिणामों के पूर्व अवयवों के संयोगसे होता है। शरीर, इन्द्रियां और प्रकृति अपने २ विकार को धारण करती हैं और अपने धर्मादि निमित्त की अपेक्षा रखती हैं ॥ २ ॥

भा० का भा०—जब पूर्व परिणाम बिनष्ट होता है तब उत्तर परिणाम की उत्पत्ति होती है इस प्रतिणाम को उपजन कहते हैं काया, इन्द्रिय और प्रवृत्ति अपने २ विकारों को ग्रहण करती हैं परन्तु जात्यन्तर परिणाम के हेतु धर्मादिक हैं ॥ २ ॥

भो० वृ०—योऽयमिहैव जन्मनि नन्दीश्वरादीनां जात्वाविपरिणामः
स प्रकृत्यापूरात् पाश्चात्या एव हि प्रकृतयोऽसुष्मिन् जन्मनि विकारे-
णापूरथन्ति जात्यन्तराकारेण परिणामन्ति ॥ २ ॥

ननु धर्मादिवस्तत्र क्रियमाणा उपलभ्यन्ते तत्कथं प्रकृतीना-
मापूरक्त्यस्मित्याह—

गो० शू० का भा०—मन्दीश्वर आदि का जो इस ही जन्म में
जाति परिणाम दुश्चाथा या घट स्य पूर्वजान्म की प्रहृति के परिणाम ने
ही दुश्चाथा ॥ २ ॥

अब मन्दैश्वर यह है कि धर्म और आधर्म दो कर्म जो यहाँ निये
जाते हैं वे बयोंकर प्रहृति के परिणाम दोस्तकर हैं इसका उत्तर
आगते सूत्र में कहते हैं—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणमेदस्तु ततः
क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

सू० का प०—(निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम्)
प्रकृतियों का निमित्त अप्रयोजक है (वरणमेदस्तु ततः:
क्षेत्रिकवत्) वरण का ऐद तो किसानों के समान है॥३॥

सू० का प०—निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक नहीं है क्योंकि
वरणमेद क्षेत्रिकवत् होना है ॥ ३ ॥

च्या०भा०—नहि पर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति ।
न कार्येण कारणं प्रवर्त्यत इति कथम् ? तहि वरणमेदस्तु ततः
क्षेत्रिकवत् यथा क्षेत्रिकः केदाशदपां पूर्णात्केदाशन्तरं पिण्डावः
यिषुःसमं निमनं निमनतरं वा नापः पाणिनाऽपकृपत्प्रावरणं त्वासां
भिनति तस्मिन् दिनं स्वयमेवापः केदारांनरवाप्जात्रं त तथा
धर्मः प्रकृतोनापावरणधर्मं भिनति तस्मिन् भिन्ने स्वयमेव
प्रकृतयः स्वं स्वं विनारमाप्जावयति । यथा वा स एव क्षेत्रिक-
स्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्पौदकान् भौमान्वा रसन्धान्यम्-
त्वान्यनुपवेशयितुं, किन्तु तहि मुद्रगगवेधुकशयामाकार्दीस्वतोऽपकृ-
पति । अपकृपेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुपविशन्ति तथा
धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य, शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्तविराधात्
नतु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति । अत्र नन्दीश्वरादय उदा-

हार्याः । विंपर्ययेणाप्यधर्मे धर्मं दाखते । ततश्चाशुद्धिपरिणामं
इति । सत्रापि लहुपाजगरादय उदाहार्याः ॥ ३ ॥

यदा तु योगी वहून् कायानिनिर्मिते तदा किमेकमनस्कास्ते
भवन्त्यथानेकमनस्का-इति-

भा० का ००—धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का उत्पादक नहीं है
क्योंकि कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होता वरण भेद “तो यहां पर
वरण का अर्थ आवरण है” किसान के समान होता है जैसे किसान
जल से भरी हुई क्यारी से दूसरी क्यारी में जल से जाने की इच्छा
जूध करता है तब ब्राह्मण की नीची वा अत्यन्त नीची क्यारी में
पानी को हाथ से नहीं खींचता है क्यारियों के आवरण अर्थात् मेंढ
वा डौल को काटता है मेंढ के काटने से जल स्वयं ही दूसरी क्यारि-
यों में चला जाता है ऐसे ही धर्म प्रकृतियों के आवरण रूप धर्म
को काट देता है उस के नाश होने से प्रकृति आप से आप अपने
चिकारों को अहं फरलेती है जैसे वह किसान उस खेत में औदक
और पार्थिव रसों को अन्न की जड़ों में अपने हाथ से प्रवेश नहीं
फगता, किन्तु उनकी जड़ें स्वयं ही उनको खींचकर अपने में प्रविष्ट
कर लेती हैं । ऐसे ही धर्म अधर्म की निवृत्ति मात्र का कारण है
क्योंकि शुद्धि और अशुद्धि का अत्यन्त विरोध है परन्तु प्रकृति की
प्रवृत्तियां धर्म हेतु होती हैं । इस प्रकरणमें नन्दीश्वर आदि उदाहरण
हैं व्यत्यय करने से भी अधर्म धर्म का बाधक होता है जब अधर्म
धर्म का बाधक होता है तब अशुद्धि प्राप्त होती है उस में भी नहुयं
और अजगर प्रभृति उदाहरण हैं ॥ ३ ॥

जब कि योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है उस समय
योगी अनेक चित्तवाला होता है वा एक चित्त वाला ?

भा० का भा०—धर्मादिक प्रकृति वा वरणभेद के कारण नहीं है
क्यों कि कार्य से कारण उत्पन्न नहीं होता परन्तु वरणभेद होने का
क्रम है कि जैसे किसान जब किसी जल से भरी क्यारी से जल
दूसरी क्यारी में लेजाना चाहता है तब केवल क्यारियों की मेंढ
काटने से जल स्वयं ही दूसरी क्यारी में चला जाता है । इस ही
रीति से धर्म के द्वारा अधर्मकपी मेंढ कांटने से प्रकृतिभेद स्वयं हो

जाता है । जैसे एक ही जल धानेक आनंदोंका कारण होता है पेसे ही प्रकृति के परिणाम भी समझने चाहिये । प्रथमोक्त क्रम में नन्दी-श्वर का उदाहरण है अर्थात् नन्दीश्वर नामक एक मनुष्य देवत्व को धर्म से प्राप्त होगया और नहुए अधर्माचरण से देव दशा से अजगर हो गया था यह सब कथा ब्राह्मण प्रन्थोंमें लिखी है ॥ ३ ॥

भ० छ०-निसित्तं धर्मादि तत्प्रकृतीताना नथन्तिरपरिणामे न प्रयोजकम् । नाइ फार्येण कारणं प्रवर्चते । कुत्र तर्हि तस्य धर्मा-देवर्यापार इत्याह—धरणमेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । ततस्तस्माद्बुधी-यमानादर्मात् चरणमावरणमधर्मादि तस्यैव विरोधितात् भेदः क्षयः क्षित्यते । तमिन् प्रतिवन्धके क्षीणे प्रहृतयः स्त्रयमभिमतकार्यादि प्रभवन्ति । दण्डान्तगाह-क्षेत्रिकवत् । यथा क्षेत्रिकः शुपीवलः केदारात् केदारानन्दं जलं निनोपुर्जलप्रतिवन्धकवरणमेदमात्रं कराति । तस्मिन् भित्रे जलं स्वयमेव प्रसरद्रुपं परिणामं गृहाति न तु जलप्रसरणे तस्य कपिक्वत् प्रयत्न एवं धर्मादिवौद्धव्यम् ॥ ३ ॥

यदा साक्षात्कृततत्त्वस्य योगिनो युगपत्कर्मफलमोगायात्मी-यनिरतिशयविभूत्यनुभवात् युगपदनेकशरीरनिर्मित्सा जायते तदा कुतस्तानि विज्ञाने प्रभवन्तीत्याह—

भ० छ० का भा०—पूर्वोक्त जाति परिणाम का हेतु धर्मादिकृ प्रकृति के अर्थान्तर परिणाम का कारण नहीं हो सकते हैं क्योंकि कार्यसे कारण की कभी उत्पत्ति नहीं होती है, तब यह सन्देह होगा कि यदि धर्मादि प्रकृति के परिणाम के कारण नहीं हैं तो वे निष्फल होंगे ? इस का उत्तर यह है कि इन से चरण अर्थात् आवरण का क्षय होता है उन धर्मादि से आवरण करने वाले अधर्मादि का क्षय होता है और आवरण रूप अधर्म के क्षय होने से प्रकृति आप ही अपनी रूचि के कार्य को करलेती है इस में दण्डान्त देते हैं । जैसे किसान अर्थात् किसान एक क्षारी से जब दूसरी क्षारी में जल को हो जाना चाहता है तब जल को रोकने वाली मेड़ को ही केवल काटता है मेड़ के कटने से जल स्वयम् बहने लगता है किसान को जल बहानेके उत्तरे कोई उद्योग करना नहीं पड़ता है पेसे ही धर्मादि को समझना चाहिये ॥ ३ ॥

जब योगी को तत्वों का साक्षात् ज्ञान हो जाता है तथ कई कर्मों का पक्ष ही समय फल भोगने के बास्ते अपनी सिद्धियों के प्रताप से एक समय में चार्दि अनेक शरीर धारण करने की इच्छा हो तथ अनेक चित्त क्यों कर होंगे ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

सूत्र का प०—(निर्माणचित्तानि) चित्त को उत्पन्न करने वाली (अस्मितामात्रा) केवल अस्मिता है ॥ ४ ॥

सू० का भा०—चित्त को बनाने वाली अस्मिता है ॥ ४ ॥

व्या० दे० का भा०—अस्मितामात्र 'चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवनि ॥ ४ ॥

भा० का प०—केवल अस्मिता चित्त के कारण को ग्रहण करके चित्तको उत्पन्न करनी है तब प्राणी चित्त के सहित होते हैं ॥ ४ ॥

भा० का भा०—अस्मिता से चित्त की उत्पत्ति होती है ॥ ४ ॥

भो० वृ०—योगिनः स्वर्थं निर्मितेषु विषेषु यानि चित्तानि तानि सूख्यारणाद्यस्मितामात्रादेव तदिच्छुया प्रसरन्ति अग्नेर्भिस्फुलिङ्गाद्य युगप्त् परिणमन्ति ॥ ४ ॥

ननु वहुनां चित्तानां भिन्नाभिप्रायत्वान्तैककार्यकर्तृत्वं स्यादित्यशाह—

भा० वृ० का भा०—योगी ने जो अपने आप शरीरों की रचना की है वह चित्त की मूलभूत अस्मि । मात्र से चित्तयुक्त होते हैं अर्थात् योगी एक अनिमा से ही सब शरीरों को सचित्त करता है जैसे एक अनित से अनेक विनाशियाँ निकलती हैं ॥ ४ ॥

अब यह शब्दा होती है कि चार्दि अनेक चित्त होंगे तो वह सब एक कार्य के कर्ता क्योंकर होसकते हैं ? इस का उत्तर आगे देते हैं—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

सू० का प०—(प्रवृत्तिभेद) प्रवृत्ति के भेद से

(एकजिचत्तमनेकेषास्प्रयोजकम्) एक ही चित्त अनेक चित्तों का प्रयोजक होता है ॥ ५ ॥

सू० का भा०—प्रवृत्तिभेद से एक ही चित्त अनेक चित्तों का उत्पन्न वरने वाला होता है ॥ ५ ॥

ध्या० भा०—वहुनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिपायपुरः सरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मितीते ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

भा० का प०—एक ही चित्त अनेक चित्तों का कैसे प्रवर्तक होसका है । प्रवृत्तिभेद सब चित्तों के प्रेरक एक ही चित्तको निर्मित करता है ॥ ५ ॥

भा० का भा०—प्रथम एक ही चित्त अनेक चित्तों का प्रेरक निर्मित होता है पश्चात् प्रवृत्तिभेद हो जाता है ॥ ५ ॥

भो० वृ०—तेषामनेकेयां चेतसों प्रवृत्तिभेदे व्यापारानानात्ये एकं योगिनशिचत्तं प्रयोजकं प्रेरकमधिष्ठात्त्वेन न तेन मिन्नमतत्त्वम् । कथमर्थः—यथात्मीयशरीरे मनस्त्वं पार्यादीनि यथेच्छं प्रेरयति । अधिष्ठात्त्वेन तथा कार्यान्तरेभ्यष्टीति ॥ ५ ॥

जन्मादिप्रभवत्वात् सिद्धीनां चित्तमपि तत् प्रभवं पदचविघ्सेव । अतो जन्मादिप्रभवाडिचत्तात् समाधिप्रभवस्य चित्तस्य वैलक्षण्यमाह-

भो० वृ० का भा०—अनेक चित्तों के जो अनेक व्यापार और खृति हैं उन सब का प्रेरक योगी का एक ही चित्त होता है फ्योर्कि सब का अधिष्ठाता वही एक चित्त है इस से योगी के कलिष्ठ अनेक चित्तों में परस्पर मतभेद नहीं होसकता है, अभिप्राय यह है कि योगी शरीर और इन्द्रियों को प्रेरित करसकता है पेसे ही चित्त से अनेक कार्य भी करसकता है ॥ ५ ॥

सिद्धियों से जन्मादिक हो सकते हैं और सिद्धियों के ५ भेद जो ऊपर कहे हैं उनसे उत्पन्न होनेवाला चित्त भी पांच प्रकार का हुआ उन पांचप्रकार के चित्तों में से समाधि से उत्पन्न हुए चित्त की विलक्षणताको कहते हैं—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६ ॥

सू० का प०—(तत्र) उनमें (ध्यानजमनाशयम्) जो चित्त ध्यान से उत्पन्न होता है वह राग, द्वेष-रहित होता है ॥ ६ ॥

सू० का भा०—जो चित्त ध्यान से प्राप्त होता है, वह राग द्वेष-रहित होता है ॥ ६ ॥

व्या० भा०—पञ्चविधं निर्णाणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयं इति । तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिर्नातः शुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वाद्योगिनः इति इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥ ६ ॥

भा० का प०—चित्त की ५ प्रकार की रीति है जन्म से, ओषधि से, भंत्रसे तपसे और समाधिसे जो सिद्धि होती है उनमें से जो ध्यान से चित्त उत्पन्न होता है वहो आशय रहित है अर्थात् उस चित्तकी रागादि में प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि उस के क्लेश क्षीण होजाते हैं इस से उस में पुण्य और पाप का सम्बन्ध नहीं रहता है और चित्तों का कर्माशय होता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—पूर्व जो ५ प्रकार की सिद्धि कही थीं उन में ध्यानज चित्त राग द्वेष-रहित है और अन्य चित्तों में रागादि का सञ्चार रहता है, ध्यानजचित्त में क्लेश क्षीण हो जाने से पुण्य पाप का सम्बन्ध भी नहीं रहता है ॥ ६ ॥

भो० चृ०—ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत् पञ्चसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः ॥ ६ ॥

यथेतरचित्ते भ्यो योगिनश्चित्तं विलंक्षणं क्लेशादिरहितं तथा कर्मापि विलक्षणमित्याह—

भो० चृ० का भा०—ध्यान अर्थात् समाधिजन्य सिद्धि से उत्पन्न हुआ चित्त उक्त पांच प्रकार के चित्तों में से कर्मों की वासना से रहित होता है ॥ ६ ॥

जैसे योगी का चित्त औरौं के चित्त से विलंक्षण होना है वैसे ही कर्म भी विलक्षण होते हैं यही अगले सूत्र में कहते हैं—

कर्मशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेपाम् ॥ ७ ॥

भू० का ए०—(कर्मशुक्लाकृष्णम्) शुक्ल और कृष्ण के भेद से रहित कर्म (योगिनः) योगी के होते हैं (इतरेषाम्) अन्यों के (त्रिविधम्) इ प्रकार के हैं । ७ ॥

भू० का भा०—अन्य लोगों के कर्म, शुक्ल, कृष्ण और मिथित तीन प्रकार के होते हैं पर योगियों का कर्म चिल्कण है ॥ ७ ॥

व्या० दे० क० भा०—चतुष्पदी खण्डियं कर्मजातिः कृष्णाशुक्लकृष्णाशुक्लाशुक्लाकृष्णाचेति । तत्र कृष्णा दुरात्म-ना॑ शुक्लकृष्णा॒ वहिःसाधनसाध्या॑ तथ परपीडानुग्रहदारेण॑ कर्मशयप्रचयः । शुक्ला॑ तपः॒ स्थाध्यायवतास॑ । सा हि केवले मन-स्यायतत्त्वादनहिःसाधनाधीना॑ न परान् पीडयित्वा॑ भवति । अशु-क्ला॑ कृष्णा॒ संन्यासिना॑ तीणवलेशाना॑ चरमदेहानामिति । तत्राशुक्लां योगिन एष फलसंन्यासःदकृष्णं॑ चानुपादानात् । इतरेषान्तु॑ भूतानां पूर्वमेव विविधमिति ॥ ७ ॥

भा० का प०—यह कर्मजाति चारपाद धाली अर्थात् चार प्रकार की है—एक कृष्णा, दूसरी शुक्लकृष्णा, तीसरी शुक्ला, और अशुक्लाकृष्णा । उन में से दुरात्माओं की कर्मजाति कृष्णा है । जो बाहु साधनों से कर्मजाति सिद्ध होती है, वह शुक्लकृष्णा कहाती है । उस में परपीडा एवं अनुग्रह दोनों से ही कर्मशय की वृद्धि होती है । शुक्ला कर्मजाति तपस्ची वेदपाठी और ध्यान धालों की होती है । वह शुक्ल जाति केवल मन के आधीन होनेसे बाहु साधनों को अपेक्षा नहीं रखती । अन्य जीवों को दुख भी नहीं देती, अशुक्लाकृष्णा—तीण दोगये हैं क्लेश जिन के उन संन्यासियों की होती है अन्यों की पूर्ववर्थित इ जातियाँ होती हैं ॥ ७ ॥

भा० कर भा०—कर्मजाति चार प्रकार की हैं उन में से दुरात्माओं की कर्मगति पापमय होने से कृष्णा अर्थात् फाली होती है दूसरी अन्य जीवों को पीड़ा देना वा अनुग्रह करने से जो कर्मसमूह सञ्चित होता है वह शुक्लकृष्णा तीसरी जो गति

अन्तःसाधनों के आधीन है वह शुक्ला कर्मगति स्वाध्याय और तप करने वाले लोगों की होती है और जो शुक्ला भी नहीं और न कृष्णा है वह संन्यासियों की कर्म जाति है ॥ ७ ॥

भो० छ०—शुभफलदं कर्म यागादि शुक्लम् । अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि कृष्णम् । उभयसङ्क्लीयं शुक्लकृष्णम् । तत्र शुक्लं कर्म विचक्षणां दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणाम् । कृष्णं कर्म दानवानाम् । शुक्लकृष्णं मनुष्याणाम् । योगिनान्तु संन्यासवतां त्रिविधकर्मविपरीतं विलक्षणं यत्फलत्यागद्वासन्धाने नैवानुष्टानाभ किञ्चित् फलमारभते ॥ ७ ॥

अस्यैव कर्मणः फलमाद—

भो० छ० का भा०—उत्तम फल को देने वाले यज्ञादि शुक्ल कर्म कहाते हैं, वे फल को देनेवाले ब्रह्महत्यादि कर्म कृष्ण कहे जाते हैं और दोनों मिले हुए शुक्ल व कृष्ण कर्म हैं, इनमें से शुक्ल कर्म उत्तम जनों के होते हैं, जो दान तप और वेदपाठ करते हैं। दानवों (राक्षसों) के कर्म कृष्ण है और भिन्नित अर्थात् शुक्ल कृष्ण कर्म मनुष्यों के हैं परन्तु योगियों के कर्म इन तीनों से विपरीत वा विलक्षण हैं जो फलत्याग की इच्छा से किये जाते हैं और किसी फल का आरम्भ-नहीं करते हैं ॥ ७ ॥

इस ही कर्म का फल कहते हैं ।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥

सू० का प०—(ततस्तद्विपाकानुगुणानाम्) इसके अनन्तर कर्मों के फल के अनुसार (अभिव्यक्तिर्वासनानाम्) वासनाओं का प्रकाश होता है ॥ ८ ॥

सू० का भा०—कर्म फल के अनुसार ही वासना प्रकट होती है ॥ ८ ॥

व्या० दे० कृ० भा०—तत इति त्रिविधात्कर्मणः तद्विपाका नुगुणानामेवेति यज्ञातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासना कर्म विपाकयनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः । नहि द्वैं कर्मविपर्यमानं नारकतिर्यूपनुज्य वासनाभिव्यक्तिजिप्रित्तं

संभवति किन्तु दैत्यानुगुणा एवासय वासना व्यज्यन्ते । नारक
तिर्यग्भूष्येषु चैवं समानश्वर्चः ॥ ८ ॥

भा० का प०—तीनप्रकार के कर्मों के फल के अछुकूल अर्थात् जिस प्रकार के कर्म का जो फल उसके अनुकूल जो वासनाये कर्मफलके आश्रय से सोई पड़ी है उन्हीं का प्रादुर्भाव होता है । पर्योकि दिव्य-कर्म पुष्ट हुए । नरक सम्बन्धी, योनि तिर्यग्कृ पशु वा सर्पादि वा मनुष्य वासना को प्रकट करने का कारण होता है किन्तु दैवकर्म से दिव्य वासना ही प्रकट होती है इस ही रीति से नारक तिर्यग्के और मनुष्य कर्म और वासनाओं का विचार है ॥ ८ ॥

भा० का भा०—पूर्व सूत्र में जो तीन प्रकार के कर्म कहे उनके अनुसार ही फल और फलानुसार वासना उत्पन्न होती है अर्थात् जिस प्रकार का कर्म होता है उससे वैसी ही वासना होती है जैसे दैवकर्म से दिव्य वासना होती है उनसे न नरकवासना और न तिर्यग्गदि वासना प्रकट होती है और ऐसे ही तिर्यगादि कर्मों से दिव्यवासना नहीं होती ॥ ८ ॥

भो० च०—इह, हि! दिविधाः कर्मवासनाः स्मृतिमात्रफला जात्या-
युभींगफलाक्ष । तत्र जात्यायुभींगफला एकानेकजन्मभवा इत्यनेन
पूर्वमेव कृनिर्णयाः । यास्तु स्मृतिमात्रफलास्तास्ततः कर्मणो येन
कर्मणा याद्यकृशरीरमारध्यं देवमनुपतिर्यगादि सेवैन तस्य विपा-
कस्य वा अनुगुणा अनुरूपा वा वासनास्तासःमेशभिव्यक्तिर्भवति ।
अथमर्थः—येन कर्मणा पूर्व देवतादिशरीरमारध्यं जात्यन्तरशनव्यव-
धाने पुनस्तथाविधस्यैव शरीरस्थारम्भे तश्तुरूपा एव स्मृतिफला-
वासनाः प्रकटीमध्यन्ति । लोकान्तरेष्वेवार्थं तु तस्य स्मृत्याद्यो जाय-
न्ते । इतरास्तु सत्योऽपि अव्यक्तसंशानं सिद्धन्ति न तस्यां दशा यां न
नारकादिशरीरोद्धवा वासना व्यक्तिमात्रा न्ति ॥ ९ ॥

आसामेव वासनानां कार्यं कारणमावानुगपत्तिमात्रं क्य समर्थ-
यितुमाद्य-

भो० च० का भा०—कर्मवासना ही प्रकार की है एक स्मृति
मात्रफला और दूसरी जात्यायुभींगफला, एक ही कर्म अनेक जन्म
देता है यह प्रथम ही निर्णय करकुके हैं जो कर्मवासना स्मृतिमात्र

फला है उनसे यह होता है कि जिस कर्म से जैसा शरीर प्राप्त होता है वह शरीर चाहे देवयोनि का हो वा मनुष्ययोनि का हो वा कीट प्रतंगादि योनिका हो जैसा कर्म का फल होगा वैसी ही वासना भी होगी । अभिप्राय यह है कि जिस कर्म से देवशरीर प्राप्त हुआ था उसके पश्चात् वह सौ जन्म का भी अन्तर पड़ाय परन्तु फिर वैसा जन्म प्राप्त होने से योगी को वही देवजन्म की स्मृतिजन्म वासना प्रकाशित होजाती है अर्थात् नरक भोगादि की वासना प्रकाशित नहीं होती ॥ ८ ॥

जातिदेश कालव्यवहितानामप्यानन्तर्य रमृ-
तिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

सू० का प०—(जातिदेशकालव्यवहितानामपि) जो कर्म वासना, जन्म, देश और काल से व्यवहित हैं उनका भी (आनन्तर्यम्) कर्मपूर्वक उदय होता है (स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्) वयोंकि स्मृति और संस्कार दोनों का अभेद है ॥ ९ ॥

सू० का भा०—जिन कर्मवासनाओं में जन्म, देश और काल का व्यवधान भी है तौ भी वह किसी समय उदय होजाती है ॥ १० ॥

व्या० भा०—वृपदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाङ्गनाभिन्यक्तः । स. यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा करूपशतेन वा व्य, वहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाङ्गन एवोदियाद्वागित्येवं पूर्वानुभूतवृपदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उणदाय व्यउदयेत कस्पात् । यतो व्यवहितानामप्यासा सद्वेशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्यमेव कुतश्च ॥ स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वाद्यथानुभव-स्तथासंस्काराः । ते च कर्मवासनानुरूपाः । यथा च वासनास्तथास्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारभ्यः स्मृतिः । स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येते स्वव्यञ्जिसंस्काराः कर्माशयवृत्ति-

लाभवराद्वृप्तयन्ते । अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्ति-
कभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति ॥ ६ ॥

भा० का प०—कर्मफल आपने साधनों को पाकर प्रकाशित होता है यदि वह सौ जन्मों से दूरदेश से अथवा सौ कल्प से व्यवहित भी हो फिर आपने साधनों को पाकर उदय होता है इस रीति से पूर्वकाल में अनुभव किया है, जिन कर्मफलों को उनसे उत्पन्न हुई जो घासना आपने साधनों को पाकर प्रकाशित होती है पर्याक्रियदि यह घासना व्यवहित भी हो तो भी इनके कर्म को प्रकाश करने वाला एक ही निमित्त है इससे अभिव्यक्तकर्ता भग्न से ही हो सकती है क्योंकि स्मृति और संस्कार एक ही हैं जैसा अनुभव होता है उसके अनुसार ही संस्कार होता है वे अनुभव और संस्कार भी कर्म तथा घासना के अनुकूल ही होते हैं जैसी घासना वैसी ही स्मृति होती है इस रीति से जन्म, देश और काल से व्यवहित संस्कारों से स्मृति होती है और स्मृति से फिर संस्कार उत्पन्न होते हैं इस रीति से स्मृति और संस्कार कर्मफल की वृत्तिलाभ के समान प्रकाशित होते हैं इसलिये व्यवधान सहित घासनाओं का निमित्त और नैमित्तिक भाव के अनुच्छेद से आनन्दर्थ ही सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

भा० का भा०—कर्मफल “आपने साधनों के द्वारा प्रकाशित होता है व्यञ्जक अर्थात् उदित होने में सहायक के पाने से प्रकट होता है ऐसे ही कर्म की घासना भी उदित होती है वह यदि सौ जन्म से अथवा अधिक दूरदेश से सौ कल्प से व्यवहित होती है तो भी आपने आधय को पाकर उदित होता है पर्याक्रिया के इन स्मृति और घासनाओं का प्रकाशित करने वाला निमित्त एक ही है क्योंकि इन स्मृति और संस्कार एक ही रूप हैं जैसा अनुभव होता है वैसा ही संस्कार होता है वे कर्म और घासना के अनुकूल ही होते हैं जैसी घासना होती है वैसी ही स्मृति है इस रीति से जन्म, देश और काल से जो व्यवहित संस्कार है उनसे स्मृति उत्पन्न होती है स्मृति से फिर संस्कार होते हैं यह स्मृति और संस्कार कर्मफल में समान उदित होते हैं ॥ ६ ॥

भो० वृ० — इह नाना योनि धुमतां संसारिणां काञ्जियोनि मनुभूयं यदा योन्यन्तर सहस्रव्यवधानेन पुनरस्तामेव। योनिं प्रतिपद्यते तदा तस्यां पूर्वानुभूतायां योनौ तथा विधशरीरादिव्यञ्जकापेक्षया वासना या: प्रकटीभूता आसंस्ताम्तश्चात्रिव्यवञ्जकाभावातिरोहिताः पुनरस्तथाविधव्यञ्जकशरीरादिलाभे प्रकटीभवन्ति। जातिदेशकालव्यवधानेऽपि तासां स्वातु भूतस्मृत्यादिफलसाधनं आनन्दर्थ्यम्, नैरातर्थ्यम्, कुरुतः? स्मृतिसंस्कारयोरेकस्पत्यात्। तथा ह्यनुष्ठोयमानात् कर्मणश्चित्तसत्त्वे वासनारूपः संस्कारः समुत्पद्यते। स च स्वर्गनरकादीनां फलानामंकुरीभावः कर्मणां वा यागादीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थानम्। कर्त्तुर्वाँ तथा विधभोग्यभोक्त्वरूपं सामर्थ्यम्। संस्कारात् स्मृतिः स्मृतेश्च सुखदुःखोपभोगश्च तु भूमध्यं। ह्य पुनरपि संस्कारस्मत्यादयः। एवं च यस्य स्मृतिसंस्कारादयो भिन्नास्तस्यानन्तर्थ्याभावे दुर्लभः कार्यकारणभावः। अस्माकं तु यदाऽनुभव एवं संस्कारी भवति संस्कारश्च स्मृतिरूपतया परिणमते तदैकस्यैव चित्तस्यानुसन्धात्वत्वेन स्थिततत्वात् कार्यकारणभावो न दुर्बिटः ॥ ६ ॥

भवत्वानन्तर्थ्यं कार्यकारणभावश्च वासनानां यदा तु प्रथममेवा तु भवः प्रवर्त्तते तदा किं वासनानिमित्तं उत्तिः निर्निमित्तं इति शङ्खां व्यपनेतुमाह—

भो० वृ० का भा०—संसार में अनेक योनियों में ध्रुमण करने वाले जीव जब एक योनि को भोग कर दूसरी सहस्रों योनियों में ध्रुम कर फिर उस ही योनि में प्राप्त होते हैं तब जिस योनि को पहिले भोगा था उस ही योनि के शरीर के अभाव से उस योनि की वासना कारण के अभाव से छिपी हुई थी फिर जब उसी योनि का शरीर प्राप्त हुआ तो वही वासना फिर प्रकट हो जाती है। जाति, देश और काल का व्यवधान अर्थात् अन्तर होने पर भी अपने अनुभव किये फलसाधन से व्यवधान नष्ट हो जाते हैं क्योंकि स्मृति और संस्कार एक ही रूप होते हैं उन के अनुष्ठान से कर्मों के चित्त में वासना रूप संस्कार बत्पन्न होते हैं वह वासना स्वर्ग और नरक आदि फलों का अंकुर रूप है उस अंकुर में यशादि कर्म शक्तिरूप से रहते हैं अथवा कर्त्ता की भोग्य और भोक्तृ रूप शक्ति भी उस ही वासना में रहती है वासना से स्मृति उत्पन्न होती है स्मृति से मुख

और हुख का भोग होता है और उनसे फिर संस्कार जिनके मत में स्मृति और संस्कार भिन्न हैं उन के मत में प्रधाह के अभाव से स्मृत्यादि में कार्य नाराय भाव का होना कठिन है । हमारे मत में तो अनुभव ही संस्कार है और संस्कार ही स्मृतिरूप में परिणत होता है एक ही चित्र का सब में सम्बन्ध रहता है इस से कार्यकारण भाव कठिन नहीं है ॥ ६ ॥

अब यह शंका होती है कि धासना दे का कार्यकारण भाव तो डोक हुआ परन्तु जो प्रथम ही अनुभव (भोग) होता है वह धासना के लिभित्त से होता है वा विना लिभित ? इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

तासामनादित्वं.चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

सू० का ४०—(तासामनादित्वम्) धासना अनादि हैं (आशिषो नित्यत्वात्) क्योंकि आशीर्वाद अर्थात् अपनी कल्याणेन्द्रिया नित्य है ॥ १० ॥

सू० का ४०—आशीर्वाद के नित्य होने से धासना अनादि है ॥ १० ॥

च्या० दे० क० भा०—तासां धासनानामाशिषो नित्य-
त्वादनादित्वम् येयमात्माशीर्या न भूतं भूयासप्ति सर्वस्य
दृश्यते सा न स्वाभाविकी । कस्मात् ? जातमात्रस्य जन्तो-
रननुभूतपरणधर्मकस्य द्रेष्टुःखानुस्मृतिनिमित्तां मरणात्रासः
कथं भवेत् । न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते तस्मादना-
दिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काशिच्छेव वासनाः
प्रतिलभ्य तुष्पस्य भोगायोपादत्ते इति । घटप्रासादप्रदीपकल्पं
सङ्कोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः ।
तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति । वृत्तिरेवास्य विश्वनः
सङ्कोचविकासिनीत्याचार्यः । तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम्
निमित्तं च द्विविधम् चाहमपाद्यात्मिकं च । शरीरादिसाधना-

पेत्रं वाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादिचित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकं
तथा चोक्तम्—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विद्वारास्ते वाच्य-
साधननिरुप्रशत्यानः प्रकृष्टं धर्मपमिनिर्वत् यन्ति । तथोर्मानसं
प्रलीयः । कथं, ज्ञानवैराग्ये के नातिशययेते, दण्डकारण्यं च
चित्तवल्लव्यतिरेकेण कः शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुं पुत्स-
हेत सषुद्रमगस्त्यवद्वा पिवेत् ॥ १० ॥

भा० का प०—आशीर्वाद के नित्य होने से वासना अनादि है
—मैं सर्वदा रहूँ मेरा नाश कभी न हो यह जो आपने आत्मा का आशीर्वाद है सबमें दीखता है क्या वह स्वाभाविक नहीं है ? अर्थात् अवश्य ही स्वाभाविक है क्योंकि तत्त्वण ही के उत्पन्न हुये जन्मनु को जिसने मैरने के दुख को नहीं भोगा है स्वृति के बिना मरने का भय कहां से होगा ? स्वाभाविक घट्टु निमित्त का आशय नहीं एखती, इससे अनादि वासना से युक्त जो विच त्र है, वह कारणवश से किसी र वासना को पाकर पुरुष को भोग देनेवाला होता है इस रीति से घट्ट और अटारी के दीपक के समान अर्थात् दीपक को यदि घट में रख दो तो वह घट से बाहर प्रकाश प्रदान नहीं कर सकता और जो दीपक को अटारी के ऊपर रख दो तो वह स्थान भर के प्रकाशित करदेता है पेसे ही, चिन्त सङ्कोच और विकास करता है शरीर के परिणाम के समान ही वह प्रकाश करता है यह भी किसी का मत है तैसे ही विच्छेद रहित संसार चिन्त से ब्यास है । इससे सिद्ध हुआ कि चित्त विभु अर्थात् व्यापक है और उसकी शक्ति सङ्कोचविकास को प्राप्त होती है यह पतञ्जलि आचार्य का मत है । चित्त के सङ्कोच और विकास धर्मादि निमित्तों के अंगीन हैं । निमित्त दो प्रकार का है वाह्यनिमित्त और आध्यात्मिक निमित्त । जिसमें शरीरादि वाह्य साधनों की अपेक्षा हो वह वाह्यनिमित्त कहाता है, जैसे स्तुति, दान, और वरदन करना अर्थात् प्रणाम करना आदि और जो केवल विच के ही आधित हो जैसे श्रद्धा आदि आध्यात्मिक निमित्त कहाते हैं ॥ १० ॥

भा० भा०—वासना अनादि है क्योंकि मैं सदा रहूँ मेरा विनाए कभी न हो पेसे अपने कल्पण की इच्छा प्राप्तिमात्र को होनी है

सो यह इच्छा स्वाभाविक है, पर्योकि इस ही क्षण में उत्तम शुआ जो अन्तु है उसको भी मरने का भय होता है, यदि उसने मरने का दुःख भोगा नहीं तो उसे भय पर्यो शुआ ? उसके भय होने से सिद्ध होता है कि धासना अनादि है, उन अनादि धासनाओं से भरे हुये चित्त में किसी निमित्त को पाकर घटी धासना पुरुषों के भोग की कारण होती है । चित्त दीपक के समान, है उसे प्रकाश फरने को जितना अवकाश मिलेगा उतना ही घट प्रकाशित होगा, इससे कोई भागते हैं कि चित्त शरीर के अनुसार ही प्रकाश करता है परन्तु उसकी शक्तियों का संकोच और विकास होता है । चित्त के संकोच और विकास वा निमित्त धर्मादि है । निमित्त धा कारण द्वे प्रकार के होते हैं—एक धार्य और दूसरा धार्यादित्यक । जिसमें धार्य शरीरादि साधनों की आवश्यकता न हो वे दान और शिष्ठव्यदनादि धार्य हैं और दूसरा घट है जिसमें केवल चित्तवृत्तियों की ही अपेक्षा हो, जैसे शशादि इन दोनों में से मानसिक धत्तवान् हैं पर्योकि धान और धैराय द्वारा ये अधिक कोई नहीं है । शारीरिक धर्म से फौन दण्डकारण्य को उजाड़ सकता है और अगस्त्य के समान लम्बुद को फौन मुखा सकता है अभिप्राय यह है कि धान और धैराय से छुज प्राप्त होता है भोग से नहीं ॥ १० ॥

भो० च०—तासां धासनानोमनादित्यं न विद्यत आदिर्यस्य तस्य
भावस्तत्त्वं तासामादिनस्तीत्यर्थः । कुत इति-आशियो नित्यत्वात्
येगमाश्रीमेहामोहरूपा सदैव शुजसाधनानि मे भूसाद्युः, मा कदाचन
सैमेवियोगो ऽभूदिति । यः सहूलपविशेषो धासनानां कारणं तस्य
नित्यत्वादनादित्वादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति-कारणस्य सन्मिहित-
त्वादनुभवसंकारादीनां कार्याणां प्रतुदिः केन धार्यते, अनुभव-
संस्काराद्युक्तं सङ्कोचविकासधर्मि चित्तं तच्चदभिव्यजकलाभात्
तत्त्वं फलरूपतया परिणमत इत्यर्थः ॥ १० ॥

तासामानन्त्यात् हानं कर्तुं भवतीत्याशंक्य क्षानोपायमाह—

भो० च० का भा०—धासनाहीनों के अनादि होने से ऊपर लिखी शंका नहीं हो सकती है । अनादि का अर्थ यह है कि—नहीं है आदि, जिस की । धासना अनादि पर्यो है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा सम्बन्धी आशीर्वाद अर्थात् शुभाकांक्षा नित्य है इस कारण धासना

भी नित्य है, यह जो महामोह रूप आशीर्वाद है अर्थात् मुझे सदैव सुख के साधन रहें उनसे मेरा वियोग कभी न हो, यही संकल्प वासना का कारण है अनिप्राय यह हुआ कि कारण के समीप रहने से अनुभव और संस्कार ऊपरी कार्य नहीं रुक सकते हैं, अनुभव और संस्कार से युक्त विच्छिन्नसंस्कारादि के प्रकाशक को पाकर परिणाम को धारण करता है ॥ १० ॥

संकल्प और वासनादि के अनादि और नित्य होने से उनका नाश कर्त्तृकर होता है। इस शब्द का समाधान अगले सत्र में करते हैं—

**हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे
तदभावः ॥ ११ ॥**

सू० का प०—(हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वात्) कर्मादि के हेतु, फल और आश्रय के आलम्बन द्वारा संगृहीत होने से (एषामभावे) हन हेतवादि के अभ्याव भैं (तदभावः) उसका भी अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

सू० का भा०—हेतु, फल और आश्रय के आलम्बन से वासनादि रहती हैं, और इनके अभाव से उनका भी अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

व्या० दे० क० भा०—हेतुर्धर्मात् सुखमधर्मात् दुःखं, सुखादागो दुःखाद्वेष्टतश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्वन्दमानः परपनुगृहणात्युपहन्ति वा ततः पुनर्धर्माधर्मां सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तविदं प्रदर्शनसंसारचक्रम् । अस्य च प्रतिक्षयामार्तमानस्याविद्या नेत्री भूलं सर्वक्लेशानामित्येत्र हेतुः । फलन्तु यथाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादिः, न च्यपूर्वोपजनः । मनस्तु साधिकारपाश्रयो वासनानाम् । नशवसिताधिकारे भजति निराश्रयो वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते । यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां च्यनक्ति तस्यास्तदावलम्बनम् । एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरत्नैः संगृहीताः सर्वा वासनाः । एषामभावे तत्संशयाणामपि वासनानामभावः ॥ १२ ॥

नास्त्यसतः सम्पदो, न चास्ति सतो विनाशं इति द्रव्य-
त्वेन सम्पदवन्त्यः कर्थं निवर्तिष्यन्ते वासना इति—

भा० का भा०—हेतु का धर्मन करते हैं—धर्म से सुख और अधर्म
से दुःख होता है, सुख से राग होता है और दुःख से द्वेष होता है ।
राग द्वेष से प्रयत्न मन से वृच्छन से वा शारीर से चैष्टा करता है
इस रीति से इन सबके हेतु धर्म और अधर्म हुए उस अनुग्रह और
निघट से फिर भी धर्म और अधर्म तथा राग द्वेष होते हैं । इस रीति
से छः आरे धाला यह संसारचक्र प्रवर्तित है यह जो प्रतिक्रिया
संसार चक्र जलता रहता है इसका अविद्या ही मूल है सर्व फलेशों
का हेतु अविद्या है । फल उसे कहते हैं जिसका आश्रय पाकर जिस
धर्मादि की तात्कालिक उत्पत्ति होती है । धूपूर्व उत्पत्ति महीं होती
और मन वासनाओं का अधिकार अर्थात् संस्कारसंहित आधार है
जिस मनमें वासना का अधिकार अर्थात् संस्कार नहीं होता उसमें
आश्रय संहित वासना भी नहीं रह सकती । जिस गुण धाली वस्तु
जिस वासना को प्रकट करती है उस वासना का वही आश्रय वा
आधार है इस रीति से हेतु, फल और आश्रय के आलम्बन से सब
वासनायें संगृहीत हैं, हेत्वादिकों के अभाव में उनके आश्रय में रहने
धाली वासनाओं का भी अभाव होता है ॥ ११ ॥

असत् की विद्यमानता कभी नहीं होती और इन सत् का कभी
आभाव होता है इस से द्रव्यत्व के कपमें उत्पन्न होने धाली धारयनायें
कैसे दूर होगी—

भा० का भा०—सूत्र में लिखे हुये हेतु का धर्थ यह है कि धर्म
से सुख, अधर्म से दुःख, सुख से राग, दुःख से द्वेष इन दोनों से
प्रयत्न उत्पन्न होता है उस प्रयत्नसे मानसिक वा धार्मादिक
क्रिया होती है जिस से अन्य प्राणियों पर कृपा वा प्रहार किया
जाता है उस अनुग्रह वा निघटसे पुनरापि धर्म वा अधर्म का प्रादुर्भाव
होता है उन से फिर सुख, दुःख और राग, द्वेष उत्पन्न होते हैं इस
रीति से यह संसारचक्र जिस के धर्मादिक छः आरे हैं धूमता रहता
है परन्तु इस संसारचक्र का मुख्य हेतु अविद्या है । फल उसे कहते
हैं जिसके आश्रय से वासना उत्पन्न हो, यदि कोई शंका करें कि
वासना मन के आश्रय से उत्पन्न होती है तो क्या फल शब्द धार्य

मन है ? इस का उत्तर यह है कि जिस मन में जिस प्रकार का घस्तु संस्कार होगा वैसी ही वासना को उत्पन्न करेगा इसलिये हेतु और फल के आश्रय से वासना का प्रादुर्भाव होता है और इन के अभाव से वासनाओं का भी अभाव होता है क्योंकि अस्त् का होना और सत् का विचार कभी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

भौ० छ०-वासनानाम् नन्तराऽनुभवो हेतु स्तरयाप्यनुभवस्य रागाद्यस्तेपामविद्येति साक्षात् पाठम्पर्येण हेतुः फलं शरीरादि स्मृत्यादि च । आश्रयो बुद्धिसत्त्वम् । आलश्यनं अदेवानुभवस्य तदेव वासनानामतर्त्वैतेहेतुफलाशयालश्यनैरनन्तरानामपि वासनानां स गृहीतत्त्वात्त्वेषां हेत्वादीनामभावे ज्ञानयोगाभ्यां दग्धधीज्जकल्पत्वे विहिते निर्मूलत्वाभ्य वासना : प्ररोहति न कार्यमारभन्त इति तात्त्वामभावः ॥ ११ ॥

नन्तु प्रतिक्षणं चित्तस्य नश्वरत्वोपलब्धेवासनानां तत्प्रलापात्ता कार्यकारणभावेन युगपांडुभावित्वाद्देवे कथमेकत्वमित्याशुक्य पक्त्वसमर्थनायाह-

भौ० छ० का भा०—वासनाओं को हेतु अनुभव है और अनुभव का हेतु रायादिक हैं और रागादि की हेतुभूत अविद्या है और इन के फल, शरीरादि वा स्मृति आदि हैं और बुद्धि इनका अधिष्ठान है । जो अनुभव के अधिष्ठान हैं वही वासनाओं के भी हैं इस कारण वासना अनादि और अनन्त होने पर भी हेतु के अभाव से और योग तथा ज्ञान से उसके हेत्वादि का जब थीज दग्धवत् हो जाता है तब वासना उद्य होकर अपने कार्य को नहीं करसकती है इस से वासनाओं का अभाव कहा जाता है ॥ १२ ॥

अब सन्देश यह होता है कि चित्त प्रतिक्षण विनष्ट होता है वासना और वासना के फल जो कार्यकारण भाव से पक्त समय में होने वाले हैं और भिन्न भिन्न हैं तब उनको पक्त करकर कहा जाता है इस का उत्तर अगले संक्ष में कहते हैं-

अतीतानांगतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् १२

सू० का प०—(अतीतानांगतम्) सूत और भविष्य (स्वरूपतोऽस्ति) स्वभाव से है (अध्वभेदाद्धर्माणाम्) युणोंके मार्ग विभिन्न होने से ॥ १२ ॥

सू० का भा०—तीनों काल गुणों से भिन्न २ हैं ॥ १२ ॥

ब्या० दे० कृ० भा०—भविष्यद्वृच्छक्तिकरमनागतम्,
अनुभूतव्यक्तिकरमतीतम्, स्वच्यापारोपारुदं वर्तमानम्, व्रयं चै-
तद्वस्तुशानस्य झेयम् । यदि चेतत् स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विष्य-
पयं ज्ञानमृदपत्स्यत । रास्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति । किंच
भोगभागीयस्य वापवर्नभागीयस्य वा कर्मणः फलमृतिपत्सु
यदि निरुपाख्यमिति तद्वैशेन तेन निर्मित्तेन कुशलानुष्ठानं
न युज्येन । सतश फलस्य निर्मित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वो-
पजनने । सिद्धं निर्मित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहणं कुरुते
नापूर्वसुतपादयतीति । धर्मी चानेकर्थर्मस्वभावस्तस्य चाध्यभेदेन
धर्माः प्रत्यपस्थिताः । न यथा वर्तमानम् व्यक्तिविशेषापन्नं
द्रव्यतोऽस्त्वे वर्तमानीतमनागतं च । कथं तहि स्वेनैव व्यं येन
स्वरूपेणानागतमस्ति । स्वेन धानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीत-
मिति वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति न सा भवत्यती-
तानागतयोरधन्नोः । एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वनी धर्मि-
समन्वागतौ भवत एवेति नाभूत्वा भावस्त्रयाणामध्वनामिति १२

भा० का ए०—भविष्यकाल अनागत कहता है, जिस काल
का अनुभव किया गया है उसे अतीतकाल कहते हैं । जो अपनी किया
कर रहा है उसे वर्तमान काल कहते हैं । ये तीनों धर्मगुणों के हान
में प्रथम क्षेय हैं अर्थात् विना कालाकान के किसी वस्तु का हान
नहीं होता । यदि यथार्थ में यह कुछ न हो तो निर्विष्यपय ज्ञानही उत्पन्न
न हो और भी भोग भागवाले कर्म अथवा मोक्ष भागवाले कर्म का
उत्पन्न होने वाला फल यदि उपाधि रहित है तो उस के छहदेश्य से
वा उसकी प्रयोजकता दो उत्तम कर्मों का करना भी नहीं हो सकेगा ।
होने वाले फल का निर्मित उसे वर्तमान करने में समर्थ हो सकता
है । इससे सिद्ध हुया निर्मित नैमित्तिकपर विशेष अनुग्रह करता है ।
न कि पहले उसे उत्पन्न करता है । धर्मी अर्थात् गुणी अनेक गुण
वाला होता है भाग्यभेद से गुण स्थिर होते हैं, न कि जैसे द्रव्ये रूप

से व्यक्तित्व को प्राप्त हुवा है, ऐसे ही भूत और भविष्य भी होते हैं, तब किस रीति से भूत और भविष्य का व्यक्तित्व जाना जाता है अपने व्यञ्ज रूप से भविष्यत् और अनुभूत रूप से भूत काल है वर्तमान मार्ग के ही स्वरूपकी व्यक्ति होती है इनागत और भूतकी नहीं। वह प्रकाश एक काल के मार्ग में दो अन्य मार्गों का नहीं हो सका है परन्तु शुणी के सम्बन्ध से तो हो सका है किंतु तीनों कर्मों का अभाव नहीं हो सका ॥ १२ ॥

भा० का भा०—भविष्यत्, भूत और वर्तमान ये तीनों काल घास्तव में मिन्न २ हैं और हन्तादि में बड़े सहायक हैं यदि ये न हो तो किसी वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान न हो। परं भोगभागीय अथवा मोक्षभागीय कर्म का फल संशयरहित जो उत्पन्न होने वाला है उस के उद्देश्य से अथवा उस के निमित्त से कोई भी शुभ कर्म का प्रारम्भ न करे अतएव शुणी एक काल होने पर भी उस के शुणों के मार्ग मिन्न २ हैं ॥ १२ ॥

भो० चृ०—इहात्यन्तमसतां भ्राघानं मुत्पत्तिर्न् युक्तिमती तेषां सत्त्वसम्बन्धायोगात् । न हि शशविपरणादीनां क्वचिद्विषय सत्त्वसम्बन्धो दृष्टः । निरुपाख्ये च कार्ये किमुद्दिश्य कारणानि प्रवर्त्तेन्तः । नहि विषयमनालोक्य कृशिच्चत् प्रवर्त्तते । सतांमपि विरोधान्त्वाभावसम्बन्धोऽस्ति । यत्स्वरूपेणलक्ष्यसता तत्कथं विरुपादेवतामभावरूपनां त्रा भजते न विरुद्धं रूपं स्वीकरोतीत्यर्थः । तस्मात्सतांनाशासनमवादसतां चोत्पत्यसम्भवातै स्तैर्विषयपरिणामानां धर्मो सदैवैकरूपतया विनिष्ठते । धर्मास्तु अधिकत्वेन त्रैकालिकत्वेन व्यवस्थिताः स्वस्मिन् स्वस्मिन्नध्वनि व्यवस्थिताः न स्वरूपं त्यजन्ति । वर्त्तमानेऽध्वनि व्यवस्थिताः केवलं भोग्यतां भजन्ते । तस्माद्धर्माणामतीतानागतादि-भेदात्तेनैवरूपेण कार्यकारणभावोऽस्मिन् वर्त्तमाने प्रतिपादयते । तस्मादपर्वर्यन्तमेकमेव चित्तं धर्मित्यात्मवर्तमानं न निन्द्येतुं प्रायते ॥ १३ ॥

त एते धर्मधर्मिणः किं रूपाऽत्याह—

भो० चृ० का भा०—संसार में अत्यन्त असत् भावों की उत्पत्ति युक्त नहीं है पर्योकि असत् धस्तुओं का द्रुक्षि के साथ सम्बन्ध नहीं होता यह हेके सींगोंका सम्बन्ध कहीं भी नहीं होता, जो असत् कार्य है उनमें कारण की प्रवृत्ति ही नहीं होती है कोई भी द्रुक्षिमान् असत् के विचार में प्रवृत्त नहीं होता और जो सत् पदार्थ है उनका अभाव

के साथ सम्बन्ध नहीं होता । जिस रूपका भाव है, उद्ध अभाव को क्योंकर प्राप्त होसकता है अर्थात् यिह धर्म को क्यों धारण नहीं कर सकता है । इस कारण सत् के अभाव न होने से और अलत् की उत्पत्ति न होने से धर्मी अनेक अवस्थाओं में परिणत होने से भी सत् स्वरूप रहता है । उस सतरूप धर्मी में धर्म तीन काल के मार्ग से रहता है । वे काल भी अपने रूपको त्यागन नहीं करते हैं जैसे वर्तमान मार्ग में स्थित वासना और कर्मादि के बल भोग्यभाव में स्थित रहते हैं इस कारण भूत और भविष्य आदि ऐद से कार्य-कारण भाव के धारण करता है । अब यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष पर्यन्त भी धर्मी रूप से विनष्ट पक्ष ही रहता है वद्वलता नहीं ॥ १२ ॥

आगे धर्म और धर्मी के स्वरूप को कहते हैं—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

खुश का प०—(ते) वे तीनों मार्ग (व्यक्तसूक्ष्मा) चयत्क और सूक्ष्म (गुणात्मानः) गुणवाले हैं ॥ १३ ॥

स० का भा०—उक्त तीनों मार्ग प्रकट और सूक्ष्म गुण वाले हैं ॥ १२
ड्या० दे० क० भा०—ते खबरमी ड्यध्वानो धर्मी वर्त-
मानो व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः पद् विशेषरूपाः।
सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषपात्रमिति परमार्थतो गुणात्मा-
नः । तथाच शास्त्रानुशासनम्—

गुणानां परमं रूपं न हृषिपथमृच्छति ।

यज्ञु हृषिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुरुच्छकमिति ॥ १३॥

यदा तु सर्वं गुणाः कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति—

भा० का प०—पूर्वसूक्ष्म में कहे तीनों मार्ग वाले धर्मी में वर्तमान प्रकट रूपवाले होते हैं भूत और भविष्यत् सूक्ष्मरूप वाले होते हैं यह छहों के रूपमें समानता है यह सब गुणों के सञ्जाव से ही भिन्नता है यथार्थ में तो गुण रूप ही है ऐसी ही अन्य शास्त्रों की भी

आशा है, गुणोंका व्यथार्थ रूप नेत्रों से नहीं दीखता है और जो नेत्रों से दीखता है वह सब माया है ॥ १३ ॥

यदि वे सब गुण ही हैं तो किस प्रकार से यह कहाजाता है कि एक ही शब्द है और एक ही इन्द्रिय है—

भा० का भा०—पूर्वसूत्र में कहे जो गुणों के तीन मार्ग उन में से चर्तमान मार्ग तो प्रकट रहता है और भूत तथा भविष्यत् मार्ग सूक्ष्म रूप से रहते हैं अन्य शास्त्रों में भी कहा है कि गुणों का व्यथार्थ रूप दृष्टिगत नहीं होता और जो इन्द्रियों से देखा जाता है वह सब माया है ॥ १३ ॥

भो० चू०—एते धर्मधर्मिणः ग्रोकात्ते व्यक्तसूक्ष्मभेदेन व्यवस्थिता गुणः सत्त्वरजस्त्वमोक्षपास्तदात्मानस्तत् स्वभावास्तपरिणामकृपा इत्यर्थः । यतः सत्त्वरजस्त्वमोभिः सुखदुःखमोहरूपैः सर्वासां वाह्याभ्यन्तरभेदधिक्षानां भाववशकीनामन्वयानुगमा वृश्यते । यद्यदन्वयि तत्त्वपरिणामिरूपं दृष्टं यथा घटादयो मृदन्विता मृत्परिणामरूपाः ॥ १३ ॥

यद्येते त्रयो गुणः सर्वत्र मूलकारणं कथमेको धर्माति व्यपदेशः इत्याश्रययाह—

भो० च० का भा०—यह जो धर्म धर्मी पूर्व कहे वे प्रत्यक्ष और सूक्ष्म रूप से सत्त्व, रज और तमोगुण रूप से उनके ही परिणाम और उनके ही स्वभाव वाले होते हैं क्याकिसूत्त्व, रज और तमोगुणसे ही वे सब भाव जो कि वाह्य और अभ्यन्तर ऐदों से प्रकट होते हैं भाव रूप दिखाई देते हैं जो २.जिसका अनुगमी वा सम्बन्धी होता है वह उसका ही परिणाम होता है जैसे घट मट्ठी का अन्वित वा सम्बन्धी होता है इस कारण मट्ठी का ही परिणाम है ॥ १३ ॥

अथ शङ्का यही होती है कि यदि यह तीनों गुण सर्वत्र कारण हैं तो धर्मी एक क्योंकर होसकता है इसका उत्तर अगले सूच्च में देते हैं-

परिणामैकत्वादस्तुतत्वम् ॥ १४ ॥

चू० का प०—(प्रारिणामैकत्वात्) पारिणाम की एकता से (चत्तुरतत्वम्) चत्तुओं का तत्त्व जाना जाता है ॥ १४ ॥

सू० का भा०—परिणाम के अनुसार वस्तुओं का तत्त्व विदित होता है ॥ १४ ॥

व्या० भा०—प्रख्याक्रियास्थितिशीलाना॑ गुणाना॑ ग्रहणा॑
त्पक्षाना॑ करण्यभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं, ग्राहात्मकाना॑
शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति शब्दादीना॑ मूर्तिसमा-
नजातीयानामेकः परिणामः पृथक्कारणाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां
चैकः परिणामः पृथिवी गौर्जूकः पर्वत इत्येवं प्रादिर्भूतान्त्रेष्वपि
स्नेहौषण्यप्रणामित्वानक्षिदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारा-
रम्भः समाधेयः । नास्त्यर्थो विज्ञानविसद्वरोऽस्ति तु ज्ञानमर्थ
विसद्वरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमप-
न्हुदते ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नमिषयोपमं न परमार्थतो
डेस्तीति य आहुस्ते तर्थेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु
कथमप्रमाणात्मकं विकल्पप्रज्ञानवक्त्रेन वस्तुस्वरूपमुत्सुज्य तदे-
वापलपन्तः अद्वेयवचनाः स्युः ॥ १४ ॥

कुतश्चैतदन्याश्यपम् ॥

भा०का०प०—प्रख्या अर्थात् प्रकाशशोक क्रियाशील और स्थितिशील
अहण्यात्मक गुणोंका कारण भावसे एक ही परिणाम श्रोत्र इन्द्रिय है,
और जो अंगण किये जाने वाले विषय हैं, उनका भी तन्मात्र भाव से
एक ही शब्द परिणाम है । शब्दादिकों का भी एक ही परिणाम
परमाणु रूप है और उन परमाणुओं का परिणाम पृथिवी, गौ, चूक
और पर्वत आदि हैं । स्नेह और उषणाता आदि अन्य भूतों के परिणाम
भी अवकाश पाकर एक विकार को आरम्भ करते हैं । कोई भी अर्थ
विज्ञानके विना चरितार्थ होने वाला नहीं है । किन्तु ज्ञान अर्थ के
विना होता है । जो स्वप्नादि में ज्ञानके विना अर्थ होता है वह केवल
कल्पनामात्र है वास्तव में कुछ नहीं । इस रीति से जो लोग वस्तु के
स्वरूप का अपेलाप करते हैं और कहते हैं कि ज्ञान कल्पनामात्र है
वस्तु स्वप्न के समान होती है यथार्थ में कुछ नहीं है उनका कथन
कोक नहीं ॥ १४ ॥

भौ० का भा०—प्रख्या, क्रिया और स्थितिशील जो ग्रहणात्मक गुण हैं, उनका कारण रूप एक परिणाम, ग्राह्यात्मक दूसरा परिणाम, इन्द्रिय विषयरूप तीसरा परिणाम पृथ्वी, परमाणु, तत्त्वात्रा और अवयव रूप चौथा परिणाम, और पृथ्वी, गौ, वृक्षादि अन्य तत्त्वों के संयोगसे पंचम परिणाम होता है। इन सब परिणामों से एक विकार आरम्भ होता है ॥ १४ ॥

भौ० छ०—यद्यपि व्ययोगुणस्तथापि तेषामङ्गाङ्गिभावशमनलक्षणो चः परिणामः क्वचित् सत्त्वमङ्गि क्वचिद्गजः क्वचिद्यत् तम इत्येवं रूपस्तस्यैकत्वाद्वास्तुतत्वमेकत्वमुच्यते । यथेष्व पृथ्वी आयं वायु-रित्येवमादि ॥ १५ ॥

ननु च ज्ञानव्यतिरिक्ते सत्त्वर्थे वस्त्वेकमनेकं वा चक्षु गुज्यते । यदा विज्ञानमेव वासनावशात् कार्यकारणभावेनावधिस्थितं तथा तथा प्रतिभाति तदा कथमेतच्छ्रुत्यते वक्तुमित्याशंकयाह—

भौ० छ० ० भा०—यद्यपि गुण तीन हैं तब भी वह अङ्गागि भ्राव जौ एक परिणाम को धारण करने अर्थात् कभी सत्त्वगुण अङ्गी और दूसरे गुण उसके अङ्ग बोलते हैं । कहीं रजोगुण और कहीं तमो-गुण अङ्गी हो जाता है इस प्रकार से 'अङ्गी' गुण की एकता को समझ के धर्मी भी एक कहाजाता है जैसे पृथ्वी में और तत्त्वों के भी परमाणु मिलते हैं तौ भी वह एक पृथ्वी कहाती है ऐसेही वायु आदि में भी एकता का व्यवहार होता है ॥ १५ ॥

यह प्रन्देह हो जाता है कि ज्ञान से भिन्न जो वस्तु हो उसमें एकता व अनेकता कहीं जासकती है परन्तु जब विज्ञान ही वासना के द्वारा कार्यकारण भाव से प्रतीन होता है तब एकता वा अनेकता क्योंकर कहीं जासकती है ? इसका उत्तर अगले सूत्र में कहते हैं—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥१५॥

सू० का प०—(वस्तुसाम्ये) वस्तु की एकता में (चित्तभेदात्) चित्त के भेद से (तयोर्विभक्तः पन्थाः) धर्म और धर्म का मार्ग भिन्न है ॥ १५ ॥

सू० का भा०—वस्तु की एकता होने पर भी चित्तभेद से उनका मार्ग भिज है ॥ १५ ॥

व्याठ भा०—वहुचित्तावलम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणं, तत्रखलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाम्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम् कथं, वस्तुमाम्ये चित्तधेदात् । धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुमाम्येऽपि मुखज्ञानं भवत्यधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानम्-विद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं सम्यगदर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्य-ज्ञानमिति । कस्य तद्विवेतेन परिकल्पितम् । न चान्यचित्तपरि-कल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः । तस्माद्वस्तुज्ञानयोग्रात्म-ग्रंथाभेदप्रिमिन्योविभक्तः पन्थाः । नानयोः संकरगन्धोऽप्यस्तीति सांख्यक्तं पुनर्वस्तु त्रिगुणं चलं च गुणावृत्तमिति । धर्मादिनि-पित्तापेक्षं चित्तैरभिसंवधयते । निमित्ताजुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्प-ध्यानस्य तेन तेनात्पना हेतुर्भवति । केचिदाहुः—ज्ञानसहभूरे-वार्थो भोग्यस्त्वात् लुखादिवदिति त एतवा द्वारा साधारणत्वं वाधमानः पूर्वोत्तरेषु ज्ञाणेषु वस्तुस्पमेवापन्हुवते ॥ १५ ॥

भा० का प०—अनेक चित्तों से आलम्बनीभूत एक वस्तु साधारण अर्थात् सामान्य है । वह वस्तु एक चित्त के द्वारा कल्पितं नहीं हुई है न अनेक चित्तों के कल्पना करने के योग्य है किन्तु वह वस्तु स्वप्रतिष्ठ अर्थात् अपरिशासी वा कल्पनारहिता है क्योंकि द्वयवस्तु की एकता होने पर भी चित्त भेदसे । उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे धर्म के वारण से वस्तु की एकता में भी चित्त वो मुख ज्ञान होता है अधर्म से उसहा चित्त को मूढज्ञान होता है और सम्यगदर्शन से उसही चित्तको मध्यस्थ ज्ञान होता है । यह सब ज्ञान कितको होते हैं ? उसही एक चित्त से परिकल्पित हैं क्योंकि दूसरे चित्त के कल्पित अर्थों से दूसरा चित्त उपरक्त नहीं हो सकता । इन हेतु से वस्तु अर्थात् दोष पदार्थ और ज्ञानका मार्ग भिन्न २ है इन दोनों में मिलावट का दोष भी नहीं है । पिर सांख्य के पक्ष में वस्तु त्रिगुण है और युण चंचलत्वतिवाले हैं इसलिये धर्मादि-निमित्त से चित्त के संग सम्बन्ध रखते हैं धर्मादि निमित्त के अनुकूल ही उत्पन्न हुआ जो ज्ञान वह जिस आत्मा को पुआ है उस

ही आत्मा के ज्ञान का होतु है । कोई २ कहते हैं कि वस्तु का इन्द्रियार्थ भी ज्ञान के संग ही उत्पन्न होता है क्योंकि इन्द्रिय के विना ज्ञान का होना असम्भव है जैसे सुख अर्थात् जब सुखकी सामग्री वा सुख ही न होगा तो सुखज्ञान कैसे होगा ॥ १५ ॥

भा ३०—बहुत लोग कहा करते हैं कि वाच वस्तु कुछ नहीं है किन्तु अन्तःकरणस्थ विज्ञान ही सब कुछ है क्योंकि अदि वाच वस्तु भी कुछ हो तो दोनों में अभेद हो जायगा । इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु अनेक चित्तों के द्वारा कलिपत नहीं है किन्तु इन्द्रियवत् धर्मजुक साधारण वस्तु है क्योंकि एक चित्त में निमित्तानुसार अनेक ज्ञान होते हैं जैसे धर्म से सुख ज्ञान, अधर्म से दुःख ज्ञान, अविद्या से भूङ्ग ज्ञान और सम्यग्दर्शन से मध्यस्थ ज्ञान एक ही चित्त में होता है । यदि ज्ञानभेद होता तो एक विचारमें अनेक ज्ञान न होते और एक महापूज्य के ज्ञान का दूसरे के चित्त में आरोप होना भी असम्भव है । इसलिये वस्तु अर्थात् इनेक और ज्ञान का अल्यन्त भेद है इन दोनों में एकता की गन्ध भी नहीं है । सांख्य के मत में वस्तु विगुणात्मक है और युग्म चंचल वृत्तिवाले हैं । वे धर्मादि ऋषिसे ज्ञान के हेतु होकर चित्त से सम्बन्ध रखते हैं एवं जैसा निमित्त होता है वैसा ही ज्ञान उत्पन्न होकर आत्मा से संशुक्ल होता है । किन्तु २ लोगों का यह भी मत है कि ज्ञान के संग ही इन्द्रियों के विषय भी उत्पन्न होते हैं क्योंकि विना विषयों के ज्ञान किसी रीति से नहीं हो सकता है, जैसे—सुख वा दुःख विना ज्ञानके नहीं होलकर और विना सुख दुःख के ज्ञान किस का होगा ॥ १५ ॥

भ० ३१—तयोर्बानार्थयोर्विविक्तः पन्था विविक्तो भार्ग इति यावत् । कर्त्य वस्तुसाम्ये चित्तमेवात् । समाने वस्तुनि स्यादाबुपलभ्यमाने लावण्यादौ नानाप्रमातणां विचास्य मेदः सुखदुःखमोहरूपतया समुपलभ्यते । तथाहि—एकस्यां रूपसाचरणवत्यां योषिति उपलभ्यमानान्मां सरागास्यं सुखमुत्पयते सप्तन्यास्तु द्वेषः परिज्ञाजकादेवृण्णेत्यकस्मिन् वस्तुनि नानाविधविचित्तोदयात् कथं चित्तकार्यत्वं वस्तुनि एकविचित्तकार्यत्वे वस्त्रवेकरूपतयैवावभासेत । किञ्च विचित्तकार्यत्वे वस्तु नो यदीयस्य चित्तस्य तद्वस्तु कार्यं तस्मिन्नर्थान्तर्ब्यासके उत्पन्नस्तु न किञ्चित्स्यात् । भवत्विति चेत्र तदेव कथमन्यैर्हुभिस्य-हेत्येत, उपलभ्यते च । तस्मान्मन चित्तकार्यम् । अथ युगपदवहुभिः

सोऽर्थः किन्तते । तदा यहुनिर्मितस्यार्थस्यैकनिर्मिताद्वैलक्षण्यं स्यात् । तदा तु वैलक्षण्यं नेष्ठते तदा कारणमेदे सति कार्यमेदस्याभावे निहेंतुकमेकरूपं वा जगत् स्यात् । पतदुक्तं भवति-लत्यपि चिन्ते कारणे यदि कार्यस्वाभेदस्तदा समग्रं जगत् नानाविधकारणजन्यमेकरूपं स्यात् । कारणमेवाननुगमात् स्वातंत्र्येण निहेंतुकं वा स्यात् । यद्येवं कथं तेन चिगुणात्मना चित्तेनैकस्यैव प्रमातुः सुखदुःखमोहमयानि ज्ञानानि न जन्यन्ते । मैवम् । यथार्थलिङ्गुणस्तथा चित्तमाप्तचिगुणं स्वार्थप्रतिभासोत्पत्ती धर्मदिव्यः सहकारिकारणं तदुद्भवाभिभवशात् कवाचिच्छित्तस्य तेन तेषु रूपेणाभिव्यक्तिः । तथा च कामुकस्य सन्निहितायां योगिति धर्मसहकृतं चित्तं सत्त्वस्पाङ्गितया परिणममानं सुखमयं भवति । तदेवाधर्मसहकृति रजसोऽङ्गितया दुःखरूपं सपत्नीमात्रस्य भवति । तीव्राधर्मसहकृतिया परिणममानं त्रमसोऽङ्गित्वेन कोपनायाः सपत्न्या मोहमयं भवति । तस्माद्विश्वानध्यतिरेकेणास्ति वाह्योऽर्थः । तदेवं न विज्ञानार्थयोस्तादात्मयं विरोधान्त कार्यकारणभावः । कारणमेदे सत्त्वपि कार्यस्य भेदेऽपि प्रसंकादिति ज्ञानार्थतिरिक्तत्वमर्थस्य व्यवस्थापितम् ॥ ५५ ॥

यद्येवं ज्ञानव्यवेत् प्रकाशकत्वाद्युप्रहणस्वभावमर्थस्थ प्रकाशयत्वाद्युप्राह्यस्वभावस्तत्कथं युगपत् सर्वानन्यज्ञिगृह्णाति न स्मरति चेत्याशंक्य परिहत्तुः माह—

भो० चू० का भा—उन 'दोनों धर्म और धर्मों के ज्ञानों का मार्ग' भिन्न० २ है क्योंकि वस्तुमें एकता होनेपर भी चित्तमेद होनेसे वह भेदभानहोता है जैसे एक ही खी आदि वस्तु में प्रमाता अर्थात् देखनेवालों के विच्छमेद से सुख वा दुःख रूप फल भी जुदे जुदे होते हैं कि रूप और लाभरथयुक्त खी तो एक ही होती है परन्तु जो पुरुष उस से प्रीति रखता है उस को वही रूपादि सुखदायक होते हैं वही खी सौत को दुःख देने वाली और संन्यासी को धृणा उत्पन्न करनेघाली होती है । समझना चाहिये कि एक ही खी में प्रमाताओं के विच्छमेद से इतने भेद होजाते हैं इस ही प्रकार से समझना चाहिये कि उस एक वस्तु में नानात्र कार्यमेद से प्रतीत होता है ऐसे ही जगत् में विलक्षणता है । यदि कार्यमेद न माना जाये तो जगत् में विलक्षणा भी न हो । यदि विच्छमेद न माना जायगा तो जगत् हेतुरहित होगा । यदि यही वात हो तो सत्य, रजस् और तमोगुण प्रक

ही विच्च के आधार से सुख दुःख और मोह को ध्येयकर उत्पन्न करें? ऐसा न कहना चाहिये, क्योंकि जैसे विषय त्रिगुणात्मक हैं ऐसे ही विच्च भी त्रिगुणात्मक हैं उस को जो पंद्रायीं का ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान के धर्मादिक सहायकारी कारण हैं उस धर्मके प्रादुर्भाव (प्रकाशित होना) और तिरोभाव (जुसहोना) में विच्च भी उस ही धर्म के रूप में भान होने लगता है। जैसे कामी पुरुष के समीप जब खी घर्तमान रहती है तब कामधर्म में परिणत हुआ उस का विच्च सुखरूप प्रतीत होता है वही विच्च अधर्म का जब सहकारी होता है तब तमोगुण अज्ञी अर्थात् प्रथान होता है। जब कोधवती सौतिन को मोह उत्पन्न होता है। इस से सिद्ध हुआ कि विज्ञान के अंतिरिक वाह्य पश्चार्थ का रूप है इस दोनों ले विज्ञान और विषय में भेद रहने से कार्यकारण भाव नहीं है कारण से भेद रहने पर अवध्यस्था दोप होगा। इसलिये विषय ज्ञान से भिन्न है यह सिद्ध हुआ॥ १५॥

अब सन्देह यह होता है कि यदि ज्ञान प्रकाशक होने से ग्रहण-स्वभाव है और विषय आह्य स्वभाव है तो पक्षी समय सब विषयों को क्यों नहीं ग्रहण करता है अर्थात् सब विषयों का सरण्य क्यों नहीं होता है ?

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् १६

पदार्थ—(न च, एकचित्ततन्त्रं, वस्तु) एक चित्त के अधीन वस्तु नहीं है (न इति प्रमाणकं तदा, किं स्यात्) वह प्रमाण न हो तब क्या हो ? || १६ ||

सू० का भा०—यथार्थ ज्ञान एक चित्त के आधीन नहीं है। यदि ऐसा हो तो विच्च की अस्थस्थतामें फिर क्या हो ? || १६ ||

ब्या० भा०—एकचित्ततन्त्रं चेद्रस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निस्त्रे वाऽ सरूपमेव तेनापरामृष्टपन्यस्या विषयीभूतमप्यमाणकमगृहीतस्वभावकं केनचित्तदानीं किं तत्स्यात् ।

संवर्ध्यमानं च पुनरिच्चतेन कुत उत्पद्येत । ये चास्यानुपस्थिता भागोस्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत ।

तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुण्यसाधारणः स्वतन्त्राणि च चिच्छनि प्रति पुरुषं प्रवर्तन्ते । क्योः संवन्धादुपलिङ्गः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

भा० भा०—यदि घस्तु (यथार्थज्ञान) एक चित्त के अभीन तो तो चित्त के व्यष्टि या विरुद्ध होने पर उसके स्वरूप का निष्ठाय कैसे हो ? और किर चित्त से सम्बन्ध होने पर उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी । तथा जो उसके भाग अनुशक्तित होंगे, उनके न होने से उपस्थितीं का भी स्थाय करना पड़ेगा अर्थात् पृष्ठ नहीं है तो उद्दर का भी ग्रहण न होगा । इसलिये स्वतन्त्र ही प्रत्येक अर्थ है और स्वतन्त्र ही प्रत्येक पुरुष के चित्त हैं, उनके परस्पर सम्बन्ध से ही भोग की उपलब्धि होती है ॥ १६ ॥

इस सत्र पर भोजवृत्ति नहीं है, इसलिये केवल भाष्य ही दिया गया है ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्याच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

स०का प०— (तदुपरागापेक्षित्वात्) ज्ञेय वस्तुके प्रतिविम्बित होने से (चित्तस्य) चित्त को (वस्तु-ज्ञाताज्ञातम्) वस्तु को ज्ञान और अज्ञान रहता है ॥ १७

स०का भा०—ज्ञेय वस्तु का ज्ञव चित्त में प्रतिविम्बित होता है उस समय चित्त को उसका ज्ञान होता है और ज्ञव प्रतिविम्बित नहीं पड़ता तब चित्त को उस वस्तु का अज्ञान रहता है ॥ १७ ॥

ध्या० दे० का भा०—अयस्कान्तमणिकल्पाचिपयां अयः सधर्मकं चित्तमपिसंत्रयोपरज्ञयन्ति । येन च विपयेणोपरक्तं चित्तं सविपश्चो ज्ञातस्तोऽन्यः सुनश्चातः । वस्तुनो ज्ञाताज्ञात स्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

यस्य तु तदेवचित्तं विपयस्तस्य-

भा० का प०—विपय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ त्रुम्बक पत्थर के समान होते हैं और लोहे के समान चित्त हैं संयुक्त होकर विषय

चित्त पर प्रतिविम्ब ढालते हैं उस प्रतिविम्बसे चित्रित होकर चित्त जिस विषय में अनुरक्त होता है उस विषय को जानता है उस से मिथ्य विषय अहोत् रहते हैं जो व वस्तुके ज्ञात और अज्ञात कंप होने से चित्त परिणामी अर्थात् अस्थिर घृति वाला सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

जिसका वही चित्त विषय है उसका तो—

भा० का भा०—विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ चुम्बक पत्थर के समान और चित्त लोहे के समान है उन दोनों का जहाँ संयोग होता है वहाँ विषय चित्तको अपनी ओर आकर्षित करलेता है । यद्याजित्त विषय से चित्तका संयोग होता है उसही का फोटो चित्त पर खिचता है और जिसका फोटो चित्त पर खिचता है उसही का चित्त को हानि होता है और अन्य विषय असात रहते हैं इस से यह सिद्ध हुआ कि चित्त का स्वभाव अस्थिर है ॥ १७ ॥

भो० छ०—तस्यार्थस्योपरागादाकारसमर्पणात् चित्ते थाण् धस्तु ज्ञातमज्ञातश्च भवति । अयमर्थः— सर्वः पदार्थ आत्मलाभे सामग्रीम् पैक्षते । नीलादिकानज्ञोपजायमानमिद्यप्रणालिकया समागतमर्थे परागं सहकारिकारणत्वेनापेक्षते । व्यतिरिक्तस्यार्थस्य सम्बन्धाभाधाद् शृहीतुमशक्यत्वात् । ततश्च येनैवार्थेनास्य सरूपोपरागः कृतस्त्रभेदार्थं तज्ज्ञानं व्यवहारयोग्यतां जनयति । ततः सोऽर्थो ज्ञात इत्युपत्ते । येन चाकारो न सपरितः स न ज्ञातत्वेन व्यवहित्यते । यस्मिन्द्युभूतेऽयं सादृश्यादिर्थः संस्कारमुद्वोधयन् सहकारितां प्रतिपथते तस्मिन्नेवार्थे स्मृतिरुपंजायत इति न सर्वत्र ज्ञानं नापि सर्वत्र स्मृतिरिति न कथिद्विरोधः ॥ १७ ॥

वद्येवं प्रमातापि पुरुषो यस्मिन् काले नीलं वेदयते तस्मिन् काले पीतादिमंतश्चित्तसच्चस्यापि कदा चित्त शृहीतरूपत्वादाकारग्रहणे परिणामित्वं प्राप्तियाशङ्का परिहत्तु माह—

भो० छ० का भा०—उस विषय के उपराग अर्थात् रंग का चित्त में जो फोटो या आकार खिचता है उस विषय का ज्ञान वा अज्ञान होता है अभिप्राय यह है कि सब पदार्थों को ग्रहण करने में चित्त सामग्री की अपेक्षा रखता है । इन्द्रियों के द्वारा जो नील आदि रंगों को ज्ञान होता है वह पदार्थ की संहकारिता को अपेक्षा रखता है अर्थात् रंगों का ज्ञान अपेक्षा नहीं होता योंकि यिना साथी पदार्थ

के जाने किसी रंगका धान नहीं हो सकता है तब जिस पदार्थ के रूप को रंग ने क्रिपाभा है उस पदार्थ का यथार्थान ही उस रङ्गके धान का कारण होता है जब पदार्थ के सम्पूर्ण विषयों का धान हो जाता है तब कहाजाता है कि यह पदार्थ धात हुआ । जो पदार्थ विलकूल अपने अवश्यों को धान द्वारा धाता को अर्पित नहीं करता है वह पदार्थ धात नहीं कहा जाता है, जिस अनुभव किये पदार्थ में साहश्य आदि विषय अनुभवके संस्कार फो प्रकाशित करने में सहायक ही उस ही विषय को स्मृति उत्पन्न होती है इस कारण सब पदार्थों में मनुष्य का धान भी नहीं हो सकता है और न सब पदार्थों की एक काल में स्मृति होती है ॥ १७ ॥

अब शका यह होती है कि प्रमाता पुरुष जिस समय में नील रूप को जानता है उस ही काल में पीत रंग की छाया वाले चित्त में शृंगीत रूप होने से आकारग्रहण में परिणामित्व दोष आवेगा ? इस शंका का समाधान अगले सूत्र में कहेंगे—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

सू० का ४०—(सदा) सब कालमें (ज्ञाताश्चित्त-वृत्तयः) चित्तकी वृत्तियाँ ज्ञात रहती हैं (तत्प्रभोः) पुरुषस्यापरिणामित्वात्) वृत्तियों के स्वामी पुरुष के परिणामरहित होने से ॥ १८ ॥

सू० का ४०—वृत्ति का स्वामी पुरुष अर्थात् जोध अपरिणामी है अतएव उसे वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं ॥ १८ ॥

व्या० भा०—यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणामेचतस्तद्विषयाशिच्चत्तवृत्तयः शब्दादित्रिपयचज्ञाताज्ञाताः स्युः । सदा-ज्ञातत्वं तु ममस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुग्रापयति १८

स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासङ्क्व वैशेषिकानां चित्तात्मवादिनां च भविष्यत्यग्निवत्—

या०का प०—यदि चित्तके समान चित्तका स्वामी पुरुष भी परिणाम फो प्राप्त हो तो उसकी हेतु घृति भी ज्ञात और अज्ञात होंगी जो मन सदा वृत्तियों को जानता है। इससे जीवका परिणाम रहितपन सिद्ध होता है ॥ १८ ॥

आशङ्का होसकती है कि चित्त ही खग्रकाशरूप है और विषय का आभास वही है। वैशेषिक और योग वाले जो चित्त को आत्मा मानते हैं उनके मत में चित्त ही स्वाभास रूप होसका है—

भा० का भा०—जो जीव भी परिणामी हो तो उसकी घृति ज्ञाताज्ञात हो सकती है जब कि मन सब वृत्तियों को जानता है इस ही से सिद्ध होता है कि आत्मा परिणामरहित है परन्तु इसमें यह शङ्का हो सकती है कि चित्त ही स्वाभास रूप है ॥ १८ ॥

भो० वृ०—या० पत्राश्चित्तस्य प्रमाणविपर्ययादिरूपा० वृत्तयस्ता० स्तन्त्रभो०शिच्चित्तस्य गृहीतुः पुरुषस्य सदा सर्वं लमेव जेयाः, तस्य चिद्रूपतायाऽपरिणामात् परिणामित्वाभावादित्यर्थः। यद्यसौ परिणामी स्यात्तदा परिणामस्य कादाचित्कर्त्त्वात् प्रसातुत्तासार्ता चित्तवृत्तीनां सदा ज्ञातत्वं नोपपद्यते । अथर्वः—पुरुषस्य चिद्रूपस्य सदैवाधिष्ठान॑ व्येन व्यवस्थितस्य यदन्तरङ्गं निर्मिलं सत्त्वं तस्यापि सदैवाधिस्थित-त्वाद्येन येनार्थेनोपरस्तं भवति तथाविधस्यार्थस्य सदैव चिन्हाया-संकान्तिसद्वावस्तस्या॒ सत्त्वां सिद्धं ज्ञात्वमिति न कदाचित् क्वचित् परिणामित्वाशङ्का ॥ १८ ॥

ननु चित्तसेव यदि सत्त्वोन्त्कर्षात् प्रकाशकं तदास्परप्रकाशरूप-त्वादाभानमर्थञ्च प्रकाशयतीति तावतैव ध्यवहारसमाप्तिः कि अही-अन्तरेण्याशङ्कामपनेतुमाह-

भो० वृ० का भा०—चित्त की जो ये प्रमाण और विपर्यय आदि वृत्तियां हैं वे सब चित्तके प्रभु अर्थात् स्वामी जीवको हर समय ज्ञात रहती हैं क्योंकि आत्मा परिणामी नहीं है यदि आत्मा एक ऐसे अपरिणामी न हो तो परिणाम के अनित्य होने से सब वृत्तियों का ज्ञान भी उसको नहीं होसकता। अभिप्राय यह है कि चैतन्यस्वरूप जो पुरुष है उस के नित्य अधिष्ठान से जो अन्तरङ्ग निर्मल सत्त्व है वह भी सदैव रहता है क्योंकि नित्य वस्तु के गुण भी नित्य होते हैं।

यत् उस निर्मल सत्त्व में जिन विषयों का उपराग होना है उससे से उस के लाने का परिणाम नहीं होता ॥ १८ ॥

अब यह शंका हो सकती है कि यदि चित्त ही को स्वप्रकाश रूप मान कर उसके द्वारा ही आत्मा का और विषयों का प्रकाश होना है और चित्त ही के प्रकाश तक सब व्यवहारों की समाप्ति हो जाती है ऐसा माना जाय तो फिर दूसरे ग्रहीता को शंका क्यों करनी ? इस का उत्तर अगले सूचन में देते हैं-

न तत्स्वाभासं दश्यत्वात् ॥ १६ ॥

सू० का प०—(न तत् स्वाभासं दश्यत्वात्) चित्त स्वाभास अर्थात् आप ही विषयों का ग्राहक नहीं है व्ययोंकि वह भी दश्य है अर्थात् ज्ञेय है ॥ १६ ॥

सू० का भा०—चित्त स्वप्रकाश रूप नहीं है व्ययोंकि वह दश्य है ॥ १६ ॥

न्यो, दे० कु० भा०—यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादपश्च दश्यत्वान्तं स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम् । न चाजिनरज्जं दृष्टान्तः । न शाजिनरात्मस्वरूपप्रकाशं प्रकाशयनि प्राप्नाशशार्यं प्रकाश्यप्रकाशकसयोगे दृष्टः । न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः किंच स्वाभासचित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः । तत्त्वादा स्वात्मप्रतिष्ठापाकाशं न परप्रतिष्ठमित्यर्थः । स्वबुद्धिप्रचारप्रनिसंवेदनात्सत्वानां प्रवृचिर्दश्यते क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽप्युत्र मे क्रोध इति । एतत् स्वबुद्धेर्ग्रहणे न युक्तमिति ॥ १६ ॥

भा० का प०—जैसे और हन्दियां तथा शब्द स्पर्शादि द्वेय होने से स्वप्रकाश रूप नहीं हैं तैसे ही मनका भी समझना चाहिये । चित्त के स्वाभास हाने में अर्जित का दृष्टान्त भी नहीं घटसक्ता, व्ययोंकि अर्जित प्रकाशरहित अपने स्वरूप को प्रकाश नहीं कर सकती है । प्रकाश्य और प्रकाशक के संयोग में ही प्रकाश देखा जाता है और स्वरूप मात्र में प्रकाश नहीं देखा जाता है, प्रकाश्य और प्रकाशक का संयोग तो है किन्तु चित्त की स्व-काश न सर्वथा अज्ञात्य है चित्त किसी का

दृश्य है यह सूत्र का शब्दार्थ हुआ । जैसे आकाश अपने आधार से स्थित है दूसरे के आधार से नहीं अपनी वृद्धि के प्रचार के ज्ञान से जीवों की प्रवृत्ति देखी जानी है कि मैं क्रोधी वा भययुक्त हूँ इस घस्तु में मेरी प्रीति और इस में मेरा द्वेष है यह सब जब वृद्धि ज्ञान का साधन न होगी तो रागःदि का होना भी असम्भव होगा ॥ १६ ॥

भौ० का भा०—जैसे अन्य इन्द्रियाँ वा शब्दादि विषय प्रेय हैं पेसे ही चित्त भी जीव का होय है अनन्यन् स्वप्रकाशरूप नहीं हैं इससे प्रहीता की कल्पना करना नितान्त आवश्यक है ॥ १६ ॥

भौ० चू०—तच्चित्तं स्वामासं स्वप्रकाशकं न भवति पुरुषवेद्यं भवतीति यावत् । कुतः दृश्यत्वात् । यत् किल दृश्यं तदृष्टपृवेद्यं हृष्टं यथा धटादि । दृश्यञ्च चित्तं तस्मान्त स्वाभासम् ॥ १६ ॥

ननु साक्षात्विशिष्टोऽयं हेतुः दृश्यत्वमेव चित्तस्यासिद्धम् । किञ्च स्ववृद्धिसंवेदनद्वारारेण हिनाहिनप्राप्तिपरिहारकपा चृत्यो दृश्यन्ते । तथाहि क्रुद्धोऽहं भीतोऽहमत्र मे रागः इत्येवमाद्या संविद्वृद्धेरसंवेदने नोपपद्येतेत्याशङ्कामपनेतुम् ॥ १६ ॥

भौ० धू० का भा०—चित्त स्वयम् प्रकाश नहीं है क्योंकि चित्त आ मवेद्य अर्थात् जानने योग्य है जो जो दृश्य पदार्थ होते हैं वह स्वयम् प्रकाश नहीं होते और द्रष्टाद्वारा होय होते हैं जैसे धट, चित्त दृश्य है इस कारण स्वयम् प्रकाश नहीं है ॥ १६ ॥

अब सन्देह यह होता है कि उपर्युक्त अनुमान साक्ष्य से रहित है इस कारण वह माननीय नहीं है क्योंकि हेत्वाभास से युक्त है, चित्त का दृश्यत्व यदि सिद्ध हो तब ऊपर लिखा हेतु ठीक हो सकता है अपनी वृद्धि के संवेदन से हित और अहित को नाश करने वाली चित्त की चृत्ति ही दृश्य है जैसे मैं क्रोधी हूँ मैं डरता हूँ, मुझे असुख विषय में प्रीति है इत्यादि ज्ञान वृद्धि की असंवेदना से नहीं हो सकते हैं इस से चित्त दृश्य नहीं है किन्तु चृत्ति ही दृश्य है इस शंका को दूर करने के बास्ते अगला सूत्र कहा है-

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

सू० का प०—(एकसमये) एक काल में (उभयानवधारणम्) दोनों का ज्ञान नहीं होता ॥ २० ॥

सू० का भा०—याद चित्त स्वप्रकाश नहीं है तो उसका प्रकाशक दूसरा चित्त मानना चाहिये। परन्तु पिर उसका प्रकाशक कौन होगा, क्योंकि एक काल में वह अपने स्वरूप और दूसरेके स्वरूप का ज्ञान नहीं करसकता है ॥ २० ॥

च्या० भा०—नचैकस्मिन् ज्ञणे स्वपरखपावधारणं युक्तं
ज्ञाणिकवादिनो यद्ग्रन्थं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्यु-
पगमः ॥ २० ॥

**स्यान्मतिः स्वरसनिगुद्धं चित्तं चिच्चान्तरेण समनन्तरेण
गृह्णत इति—**

भा० का प०—एक ही ज्ञण में अपने और पराये रूप का ज्ञान होना अयुक्त है। ज्ञानिक विद्वानवादी के मत में तो जो उत्पत्ति है वही किया है और वही कारक है यही सिद्धान्त है ॥ २० ॥

एक चित्त दूसरे चित्त से ग्रहीत होगा और वह किसी और से ग्रहीत होगा—

भा० का भा०—एक ही ज्ञण में चित्त में दो ज्ञान वा घोषकता होना युक्त नहीं है अर्थात् यदि एक चित्त का दूसरा चित्त प्रकाशक माना जायगा तो वह दूसरा चित्त एक ही काल में अपने और प्रथम चित्त के रूप को प्रकाश करने में कठोरि समर्थ न होगा यदि उसका भी प्रकाशक तृतीय चित्त को मानियेगा तो अनवस्था दोप आवेगा इससे एक चित्त का दूसरा चित्त प्रकाशक नहीं है ॥ २० ॥

भो० दृ०—अर्थस्य संवित्तिरिद्वन्त्या व्यवहारयोग्यमापादनम् ।
अयमर्थः—सुख्येसुदुःख्येत्वेति । बुद्धेष्य संविद्वमित्येवमाकारेण
सुखदुःखरूपतया व्यवहारक्षमतापादनम् । एवं विधश्च व्यापारद्वय-
मर्थं प्रत्यक्षकाले न युगपत् कर्त्तृशक्यं विरोधात् । न हि विरुद्धयो-
व्यापारयोर्युगपत् सम्भवोऽस्ति अत एकस्मिन् काले उभयस्य
स्वरूपस्यार्थस्य चावधारयितुमशक्यत्वात् न चित्तं स्वप्रकाशमि-
स्युलं भवति । किञ्चैवं विधव्यापारद्वयगिप्याद्यस्य फलद्यस्यासंबेद-
नादूवहिमुखस्तयैव स्वनिप्रुत्येन चित्तस्य स्वयंवेदनावर्थमिष्टमेव
फलं न स्वनिष्टमित्यर्थः ॥ २० ॥

ननु माभूद्वुद्धेः स्वयं ग्रहणं बुद्ध्यन्तरेण भविष्यतीत्याशङ् क्याह-
भा० वृ० भा०—बुद्धि का ज्ञान सुख का हेतु है वा कुःख का हेतु है, मैं इस सुख वा दुःख का सहने चाला हूँ, इस व्यवहार की करने वाली बुद्धि ज्ञान नहीं हो सकता व्यौकि सुख और दुःख पर स्पर अत्यन्त विरोधी हैं और वे एक कालमें हो भी नहीं सकते हैं। परन्तु चित्त की वृत्तियों में सुख और दुःख की प्रतीक्षा एक काल में होती है। इस कारण चित्त एक काल में वी विरुद्ध धर्म वालों की परीक्षा नहीं कर सकता। इसकारण चित्त स्वयं प्रकाश नहीं है किन्तु उपर्युक्त दो व्यापारों को उत्पन्न करके उस के फल ज्ञान में चित्त वहिर्मुख हो जाता है। इस कारण वृत्तियों का फल भी चित्तनिष्ठ नहीं है ॥ २०॥

अब यह शंका होती है कि एक बुद्धि के द्वारा सुख दुःख का ग्रहण में हो किन्तु दूसरी बुद्धि के द्वारा उन का ग्रहण होगा? इस का उत्तर आगे लिखा है—

**चित्तान्तरहश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृति-
सङ्करश्च ॥ २१ ॥**

सू० का प०—(चित्तान्तरहश्ये) अन्यचित्त दर्शन-
नेता मैं (बुद्धिबुद्धेः) बुद्धि की बुद्धि का (अतिप्रसंगः)
अतिप्रसंगदोष (च) और (स्मृतिसंकरः) स्मरण संकर
दोष भी होगा ॥ २१ ॥

सू० का भा०—जब चित्त अनेक मानेंगे तो बुद्धि में इष्टनि प्रसङ्ग-
दोष होगा और स्मरणशक्ति में रसंकरदोष हो जायगा ॥ २१ ॥

व्या० भा०—अथ चित्तं चेद्विचक्षान्तरेण शृणेत बुद्धिबुद्धिः
केन गृह्णते, साप्यन्यया साप्यन्ययेत्यतिप्रसंगः, स्मृतिसंकरश्च
यत्वन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावत्यः, स्मृतयः प्राप्नुवन्ति ।
तत्संकराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादित्येवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं

१ अतिप्रसंग—जो प्रसंगको अतिक्रम करे अर्थात् अनवस्था दोष
२ संकरदोष—अन्य मिल जाने के दोष को कहते हैं।

मुरुषमपत्तपञ्चिवेनाशिकैः सर्वमेवकुलोकुत्तम् । ते तु भोक्तुस्त्रूपं
यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन संगच इन्ते केवित्तु सत्त्वपात्र-
मपि परिकल्प्यास्ति स सत्त्वो य एतान् पञ्च स्कन्धानिनिष्पा-
न्यांश्च प्रतिसन्दधातीत्युक्त्वा तत् एव पुनस्त्यस्यन्ति तथा
स्कन्धानां महन्निवेदाय विरागायामुत्पादाय प्रशान्तये गुरो-
रन्तिके ब्रह्मचर्ये चरिष्याणीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवाप-
न्हुवते सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्थापिनः
चिन्तस्य भोक्तारमुपयन्तीति ॥ २१ ॥

भा० का प०—अब यदि चित्त का दूसरे चित्तसे अहण करेंगे तो
बुद्धि की बुद्धि को किस से अहण करेंगे उसको दूसरी से और फिर
उसको दूसरी से इस ही को अतिप्रसंग कहते हैं और स्मृतिसंकर
भी होगा । जितने बुद्धियों के अनुभव हैं उतनी ही स्मृति भी
प्राप्त होंगी संकर होने पर एक स्मरण को धारण करना असम्भव
होगा इस प्रकार से बुद्धि संबोदी पुरुष को कहने वाले वैनाशिकों ने
सब में ही गड्डबड मचाई है वे भोक्ता के स्वरूप को जहाँ कहीं कल-
पना करते हुए न्याय पर नहीं चलते । कोई केवल सत्त्व को भी
प्रकल्पना कर के वही सत्त्व है जो इन पांचों स्कन्धों को निषेप करके
औरों को अहण करता है ऐसा कहकर उसी से फिर भयभीत होते
हैं तैसे ही स्कन्धों का विराग के लिये अनुत्पादन करने को शान्ति के
लिये शुरु के घर में ब्रह्मचर्य करूँगा ऐसा कह कर सत्त्व के फिर
सत्त्वभाव को नष्ट करेंगे । सांख्य यागादिक के प्रवाद तो स्वशब्द से
पुरुष को ही स्वामी और चित्तको भोक्ता अहण करते हैं ॥ २१ ॥

भा० का भा०—तब चित्त को दूसरे चित्त से बुद्धि को दूसरी
बुद्धि से अहण करने से अतिप्रसंगदोष और स्मृतिदोष होगा
क्योंकि जितनी बुद्धि उतने ही अनुभव । तब स्मृति नष्ट होनेसे स्मरण
नष्ट होगा इस प्रकार पुरुष को बुद्धि संबोदी मान कर वैनाशिक लोग
गड्डबड मचाते हैं कहीं २ भोक्ता का स्वरूप कल्पना करके अन्याय
करते हैं । कोई केवल सत्त्व की कल्पना करके वही सत्त्व हैं जो इन
पांच स्कन्धों को छोड़ कर औरों का धारण करता है यह कह कर
बुन्हीसे फिर भयभीत होते हैं और स्कन्धों की अनुत्पत्ति और विराग

के लिये गुरु के घर में व्रत्यन्नर्य करें ऐसा ठानकर पुनः एक बुद्धि और एक स्मृति न हाने से उस भाव को त्याग देंगे और कहेंगे कि सांख्य और योग तो चाद मात्र हैं ये स्वशब्द से चित्त के भोक्ता पुरुष को ग्रहण करते हैं ॥ २१ ॥

भो० वृ०—यदि हि बुद्धिर्द्वयन्तरेण वेदाते तदा सापि बुद्धिः स्वयमेव स्वीयभावरूपमशात्वांयुच्वा बुद्ध्यन्तरं प्रकाशयितुम् समर्थेति तस्याग्राहकं बुद्ध्यन्तरं कल्पनीयं तस्याप्यन्यदित्यनवस्थानात् पुरुषायुपेणाप्यर्थेति तस्यात् । न हि प्रतीतावप्रतीतायामर्थः प्रतीतो भवति स्मृतिसंकरश्च प्राप्तोति रूपे रसे वा समुत्पन्नायां बुद्धौ तद्वादिकाणामनन्तानां बुद्धीनां समुत्पत्तेर्वृद्धजनितैः संस्कारैर्यदा युगपद्म वहयः स्मृतयः कियन्ते तदा बुद्धरूपर्यवसानात् बुद्धिस्मृतीनां च वहीनां युगपदुत्पत्तेः कल्पितार्थं स्मृतिरियस्मृतपन्नेति शातुर्मशक्यत्वात् स्मृतीनां सङ्करः स्यात् । इयं रूपस्मृतिरियं रसस्मृतिरिति न शायेत ॥ २१ ॥

ननु बुद्धेः स्वपकाशत्वाभावे बुद्ध्यन्तरेण चासंवेदने कथमर्थं विषयसं वेदनरूपो व्यवहार इत्याशङ्क्य स्वसिद्धान्तमाह-

भा० वृ० का भा०—यदि एक बुद्धि दूसरी बुद्धिको जानेगी तो वह अपने स्वरूप और भावों को विना जाने उस बुद्धि के ज्ञान में प्रवृत्त हुई है, यदि अपने रूप और भावों को विना जाने ही प्रवृत्त हुई है तो उस के जानने को और बुद्धियों की आवश्यकता होगी, और वह विना अपने जाने प्रथम बुद्धि को प्रकाशित भी नहीं करसकती है और इस कल्पना में स्मृतिसंकरदोष भी आवेगा, उस बुद्धि का भी दूसरा विषय प्राण्य न होगा क्योंकि बुद्धि ज्ञान में चरितार्थं हो चुकी, दूसरे पुरुष की भी प्रतीति न होगी और अप्रतीति में किसी विषय की प्रतीति नहीं होसकती है । स्मृतिसंकरदोष यों आवेगा कि रूप और रसादिकों के उत्पन्न हुए ज्ञान वाली बुद्धि को ग्रहण करने वाली बुद्धि अनन्त होंगी और बुद्धियों के अनन्त होने से स्मृति भी अनन्त होंगी, जब कि अनेक बुद्धि और अनेक स्मृति एक काल में उत्पन्न होंगी सब यह परिद्वान होना असम्भव है कि यह स्मृति रस सम्बन्धिनी है वा रूप सम्बन्धिनी है ॥ २१ ॥

अब सन्देह यह है कि यदि बुद्धि स्वपकाश नहीं है और दूसरी

बुद्धि को कल्पना हो नहीं सकती तो विषयप्रसंबोधन पर्योक्तर होना है ?
इतका उत्तर अगले सूच में देंगे-

चितेभ्रतिसंकमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंबोधनम् २२

सू० का प०—(चितेः) चिति अर्थात् पुरुष के
(अप्रतिसंक्रमायाः) इधर उधर गमन रहित होने से
(तदाकारापत्तौ) तदाकार अवस्था में प्राप्त होने से
(स्वबुद्धिसंबोधनम्) अपनी बुद्धि का ज्ञान होता है २२

सू० का भा०—जब स्थिर पुरुष के सभीप सुद्धि भी तदाकार को
प्राप्त होती है तब बुद्धि को अपने रूप का ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

व्या० दे० का भा०—अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरपति-
संकमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपत्ति ।
तस्याथ प्राप्तचेतन्योपग्रहस्तरुपाया बुद्धिवृत्तं लुकारिमात्रतया
बुद्धिवृत्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते ॥ २२ ॥

तथाचोक्तम् —

“नपातालं न च विद्यरं गिरीणां नैवान्पकारं कुञ्जयो नोदधीनाम् ।
एहा यस्यां निदितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥”
इति ॥ २२ ॥ अतथैतदभ्युपगम्यते—

भा० का प०—भोक्ता अर्थात् पुरुषकी शक्ति परिणामरहित है
और गमनागमनरहित है परिणामी विषय में पुरुष की बृत्ति चञ्चल
रहती है और उस बृत्ति से संयोग प्राप्त बुद्धिवृत्ति के अनु-
करण मात्र से बुद्धिवृत्ति से ज्ञानबृत्ति भिन्न प्रतीत होती है ऐसा
ही अन्यत्र भी लिखा है अर्थात् न पाताल, न पर्वतों के विवर, न अंध-
कार, न समुद्र की खाड़ी ऐसी हैं जहाँ ब्रह्म बैठा हो । वह गुफा जिसमें
ब्रह्म रहता है कवि अर्थात् विद्वान् लोग उसको बुद्धि कहते हैं ॥ २२ ॥

भा० का भा०—भोक्ता की शक्ति परिणाम और गमनागमन से
रहित है जो विषय परिणामी और गमनशील हैं उन के साथ विज्ञ
की बृत्ति भी गमन करती है परन्तु जब बुद्धि चैतन्य-पुरुष के सभीप

होती हैं तब उसको ब्रूति भी स्थिर हो जाती है तब उस बुद्धि में ईश्वर का अथार्थक्षान होता है पेसाही अन्यत्र भी लिखा है कि ब्रह्म पातालादि में नहीं रहता है वरन् बुद्धि रसी गुफा में रहता है ॥ २२ ॥

भौ० चृ०—पुरुषश्चिद् पत्वाच्चितिः सरऽप्रतिसंक्रमा, न विद्यते प्रतिसंक्रमोऽन्यत्र गमनं यस्याः सा तथोक्ता, अन्येनासङ्कीर्णे यावत् यथा गुणा अंगादिमाघलक्षणे परिणामेऽङ्गिनं गुणं संक्रमन्ति तद्रूपं पतामिवापद्यन्ते, यथा चालोके परमाणुवः प्रसरन्तो विषयमारोपयन्ति नैव चितिशक्तिस्तस्याः सर्वदैकरूपतया स्वप्रतिष्ठितत्वेन व्यवहित्यत्वात् अतस्तत्सन्निधाने यदा बुद्धिरतदाकारतामापद्यते चेतनेवोपजायते, बुद्धिवृत्तिप्रतिसंक्रान्ता च यदा चिच्छुक्तिः बुद्धिवृत्तिचिशिष्टतया संवेद्यते तदा बुझे: स्वस्यात्मनो वेदनं संवेदनं भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

इत्थं स्वमविदितं चित्तं सर्वानुश्वरणसामर्थ्येन सकलव्यवहार-निर्धारित्वमें भवतीत्याह-

भौ० चृ० का भा०—पुरुष चैतन्य रूप है और उसकी चैतन्य शक्ति अप्रतिसंक्रमा है, अप्रतिसंक्रमा का अर्थ यह है कि नहीं है संक्रम अर्थात् अन्यत्रगमन जिसका, अभिप्राय यह है कि वह चिति शक्ति और भावों से संकीर्ण नहीं होती, जैसे गुण जब अङ्गादि भाव में परिणत होते हैं अर्थात् तस्मोगुणादि जब दूसरे प्रधान गुण के अंग होते हैं तब अंगों को संक्रमण कर जाते हैं अर्थात् अंग के रूप को धारण कर लेते हैं अर्थवा जैसे जगत् में परमाणु प्रसार पाकर विषय के रूप में परिणत हो जाते हैं पेसे चिति शक्ति परिणत नहीं होती क्योंकि वह सदा एक रूप में स्थिर रहती है, उस चितिशक्ति के समीप में आकंर बुद्धि जब उसके रूप में परिणत होती है तब चितिशक्ति उस के विषयों को जानती है इस प्रकार से संवेदन होता है ॥ २२ ॥

ऐसे चित्त जब संविदित होता है तब सब के ऊपर अनुग्रह करने में समर्थ होता है यही अगले सूत्र में वर्णन करते—

हृष्ट हश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

सू० का. प०—(हृष्टहश्योपरक्तम्) देखने वाले और

देवतने घोर्घ पदार्थ में उपरक्त (चित्तम्) चित्त (सर्वा र्थम्) चेतन व अचेतन सब कुछ है ॥ २३ ॥

४० का भा०—विषय और धिग्यी (विषयवान्) में उपरक्त चेतन और अचेतन का चित्त है ॥ २३ ॥

४० भा०—मनो हि पन्तज्येनार्थेनोपरक्तं तत्सुखं च विषयत्वाद्विषयिणा पुष्टेणात्मीयया वृत्त्याभिसम्बद्धं, तदेतच्च- त्तमेव दृष्टृदशोपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतन- स्वरूपापनं विषयात्मकमप्यविषयात्मकमित्राचेतनं चेतनमित्र स्फटिकमणिकन्पं सर्वार्थमित्युच्यते तदनेन चित्तसारूप्येण धून्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खल्वयं गतादिर्घादिश्च सकारणो लोक इति । अनुकम्पनीया- स्ते कसात् १ अस्ति हि तेषां भ्रान्तिवीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति । समाधिष्ठायां प्रझेयोऽर्थः प्रतिविम्बी भूतस्तस्यात्मान्व नीभूतत्वादन्यः स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्कथं प्रज्ञायैव प्रज्ञारूपमवधा- र्येत तस्मात् प्रतिविम्बीभूतोऽर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति । परं गृहीतग्रहणाद्यस्वरूपचित्तभेदात् त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभ- जन्ते ते सम्पग्दर्थिनस्तैरधिगतः पुरुषः ॥ २३ ॥

४० का प०—मन्तदृष्ट अर्थ में लगा हुआ मन आप और विषय होने से विषयी पुरुष से आत्मसम्बन्धी धृति से संबद्ध है सो यह चित्त ही द्रष्टा और दृश्य में लगा हुआ अर्थात् विषय और विषय धाले को भासित करने याता चेतन और अचेतन स्वरूप को प्राप्त विषयात्मक भी अविषयात्मक के समान और अचेतन भी चेतन के समान है । स्फटिकमणि के तुल्य सर्वार्थ कहलाता है । इस चित्त की स्वरूपता से भूले हुये कोई वह चेतन है ऐसा कहते हैं दूसरे चित्त मात्र ही यह सब कुछ है । गवादि और मदादि चराचर लोक निश्चय ये नहीं है, कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं । वे दयापात्र हैं क्योंकि उनके मत में आस्ति का बीज यही है कि वे चित्त को सर्वरूपाकार मानते हैं । समाधि की दृष्टि में शेष अर्थ आध्य द्वाने से प्रतिविम्ब

से भिन्न है यदि वही अर्थ चित्तमात्र हो कैसे बुद्धि से बुद्धि के रूपको जानें ? इस घास्ते प्रतिविम्ब भूत अर्थ बुद्धि में जिस से जानाजाय वह ही पुरुष है । इस प्रकार जिन से अहीता, अहण और आह ये तीनों स्वरूप और चित्त के भेद से जाति से विभाग किये जाते हैं वे तत्त्वदर्शी हैं उनसे ही पुरुष जाना जाता है ॥ २३ ॥

भा० का भा०—मन्तव्य अर्थ में लगा हुवा मन आप ही विषय होने से विषयवान् (पुरुष से) अपनी वृत्ति से सम्बन्ध रखता है, देखने वाले और देखने योग्य दोनों में अर्थात् विषय और विषयवान् को भासितः करने वाला चेतना को प्राप्त विषयात्मक होने पर भी विषयात्मक है वैसे स्फटिक लाल नहीं होता परन्तु लाल के पास रहने से लाल भान होता है । अतएव चित्त को सर्वार्थ कहते हैं सो इस चित्त के रूप से भूले हुये कहते हैं कि यही पुरुष है दूसरे कहते हैं कि चित्त ही सब कुछ है और कुछ नहीं है ये सब दयापात्र हैं । तत्त्वदर्शी वही है जो अहीता, अहण और आह इनमें जातिगत भेद करते हैं ॥ २३ ॥

भो० छ०—द्रष्टा पुरुषस्तेनोपरकं तत्सन्निधानेन तद् पताभिष्ठ प्राप्तं दृश्योपरकं विषयोपरकं गृहीतविषयाकारपरिणामं यदा भवति तदा तदेव चित्तं सर्वार्थग्रहणसमर्थं भवति । यथा निर्मलं स्फटिक-दर्पणाद्येव प्रतिविम्बप्रग्रहणसमर्थमेवं । रजस्तमोऽथामनभिभूतं सत्त्वं शुद्धत्वात् चिच्छायाग्रहणसमर्थं भवति, न पुनरशुद्धत्वाद्वज्रस्तमसी । तन्मध्यभूतरजस्तमोरुपमङ्गितया सत्त्वं निश्चलप्रदीपशिखाकारं सदेक-रूपतया परिणमानं चिच्छायाग्रहणसमर्थदामोद्रप्राप्तेरवतिष्ठते । यथाऽऽस्यस्कान्तसन्निधाने लोहस्य चलनमांविर्भवति । एवं चिद्-पुरुषसन्निधाने सत्त्वस्याभिव्यंग्यमभिव्यज्यते चैतन्यम् । अतएव अस्मिन् दर्शने इति चित्तवृत्ती नित्येदिताभिव्यंग्या धानित्योदिता चिच्छुक्तिः पुरुषे तत्सक्षिधानादभिव्यंग्यचैतन्यं सत्त्वमभिव्यंग्या चिच्छुक्तिः । तदत्यन्तसन्निहितत्वादन्तरं पुरुषस्य भोग्यतां प्रतिपद्यते । तदेव शान्तद्रहणवा दिभि: सांख्यैः पुरुषस्य परमात्मनोऽधिष्ठेयं कर्मानुरूपं सुखदुःखभोक्तुयाव्यपदिश्यते । यस्त्वनुद्दिक्तत्वादेकस्य । पि शुणस्य कदाचित् कस्यचिद्गित्वात् चिगुणं प्रतिक्षणं परिणममानं सुखदुःख-मोहात्मकमनिर्मलं तत्त्वस्मिन् कर्मानुरूपे शुद्धे सत्त्वे स्वाकारसमर्पं ।

णद्वारेण संवेदनातापादयति । तत् सत्त्वमाद्यम् चित्तसत्त्वमेव प्रतिसं-
क्षात्त्वचित्तच्छ्रुत्यमन्तरोगृहीतिपित्याकारेण चित्ते नौपदौकितस्वाकारं
चित्तसंक्रान्तिवत्तात् चेतनायमानं घटस्तवचैतन्याभावेऽपि सुखदुःख-
स्वरूपं भोगमनुभवति । स एव भोगोऽस्त्वन्तसन्निधानेन विवेकग्रहण-
णात् अभोक्तुरपि पुरुषस्य भोग इति इयपदिष्यते । अनेनैवाभिप्राये-
ण विश्वध्यासिनोक्तम्—“सत्त्वसंप्रत्यक्षमेव पुरुषपतञ्जल्यमिति” अत्यवादि-
चित्ते प्रतिविम्बमात्रच्छ्रुत्यासदृशचिदिभिर्यक्तिः प्रतिसंकान्तिश-
द्वार्थं इति । ननु प्रतिविम्बनं नाम निर्मलस्य नियतपरिणामस्य निर्मले-
ष्टं, यथा मुण्डस्य दर्पणे । अत्यन्तनिर्मलस्य व्यापकस्यागरिण्यामिनः
पुरुषस्य तस्माद्यत्तन्तनिर्मलात्पुरुषादनिर्मले सत्त्वे कथं प्रतिविम्बन-
मुपपद्यते । उच्यते—प्रतिविम्बनस्य स्वरूपमनवगच्छ्रुता भवते दमभ्यधा-
गि । यैव सद्यगताया अभियंग्यायाश्रित्यक्ते: पुरुषस्य सांतिष्ठाद-
भित्यक्तिः सैव प्रतिविम्बनमुपपद्यते । यादृशी पुरुषगता चित्तच्छ्रुकिस्त-
च्छ्रुता तथाविर्भवति । यदप्युक्तकमत्यन्तनिर्मलः पुरुषः कथं निर्मले सत्त्वे:
प्रतिसंक्रामतीति तद्ब्युक्तेकान्तिकं, नैर्मलयादपष्टुएऽपि जलादावादि-
त्याद्यः प्रतिसंक्रान्तः समुपलभ्यन्ते । यदप्युक्तमनवगच्छ्रुनस्य
नास्ति प्रतिसंक्रान्तिरिति । तद्ब्युक्तुलः, व्यापकस्याग्याकांशस्य दर्पणा-
दी प्रतिसंक्रान्तिदर्शनात् । एवं सति न काचिद्वनुपपत्तिः प्रतिविम्बद-
र्शनस्य । ननु साहित्यकपरिणामरूपे वृद्धिसत्त्वे पुरुषसन्निधानादभि-
यंग्यायाश्रित्यच्छ्रुक्तेर्वाह्यार्थकारसंकान्तौ पुरुषस्य सुखदुःखरूपे भोगं
इत्युक्तं, तदनुपपन्नम् । तदेव चित्तसत्त्वं प्रकृतावपरिणतायां कथं
सम्भवति किमर्थश्च तस्याः परिणामः । अथोच्येत पुरुषस्यार्थोपभो-
गसम्पादनं तया कर्त्तव्यम् । अतः पुरुषार्थकर्त्तव्यतया तस्या युक्त-
एव परिणामः न च चानुपपन्नम् । पुरुषार्थकर्त्तव्यतया एवानुपत्तेः ।
पुरुषार्थो मया कर्त्तव्य एवंविधोऽव्यवत्तायः पुरुषार्थकर्त्तव्यतोऽव्यते ।
जडायास्च प्रकृतेः कथं प्रथममेवविधोऽव्यवसायः । अस्तित्वेदव्यव-
सायः कथं जडत्वम् ? अत्रोच्यते—अनुलोमप्रतिलोमलक्षणपरिणामद्वये
सद्वजं शक्तिद्वयमस्ति तदेव पुरुषार्थकर्त्तव्यतोऽव्यते । सा च शक्तिर-
चेतनाया अपि प्रकृतेः सहजैव । तत्र महद्विमहाभूतपर्यन्तोऽस्त्वा
वहिमुख्यतयाऽनुलोमः परिणामः पुनः स्वकांरणानुप्रवेशद्वारेणास्मिता-
न्तः परिणामः प्रतिलोमः । इत्थं पुरुषः स्वस्याऽमोगपरिसमाप्तेः सहज-
शक्तिद्वयतयात् कृतार्थो प्रकृतिर्न पुनः परिणाममारभते । एवंविधाय-

अथ पुरुषार्थकर्त्तव्यतायां जडाया अपि प्रकृतेन काचिद्वनुपपत्तिः । न तु यदीदृशी शक्तिः सहजैव प्रधानस्यास्ति तत्किमर्थं मोक्षार्थिभिर्मोक्षाय यत्नः कियते मोक्षस्य चानर्थनीयत्वे तदुपदेशकशाळास्याऽनर्थकर्त्तव्यत् । उच्यते-योऽर्थं प्रकृतिपुरुषयोरनादिभौग्यभोक्तृत्वलक्षणं सम्बन्धस्तस्मिन् सति व्यक्तचेतनायाः प्रकृतेः कर्तृत्वाभिमानाङ्गुड़ुखानुभवे सति कथमियं दुर्जननिवृत्तिरात्यन्तिकी भम स्थादिति भवत्येवाध्यवसायः । अतो दुःखनिवृत्युपायोपदेशकशाळोपदेशापेक्षाऽस्त्वयेव प्रधानस्य । तथाभूतमेव च कर्मानुरूपं दुद्दिसत्त्वं शाळोपदेशकर्त्तव्यविषयः । दर्शनान्तरेष्वप्येवं विध प्रकाविद्यास्वभाव शाळे इधिकियते । सत्त्वमोक्षाय प्रयतमान एवं विधमेवशाळोपदेशं सद्वकारिण्यमपेष्वय मोक्षाख्यं फलमासादयति । सर्वार्थेव कार्याणि प्राप्तायां सामग्र्यामात्मानं लभन्ते । अस्य च प्रतिलोमद्वारेणैवोपत्पाद्यस्य मोक्षाख्यस्य कार्यस्येदश्येव सामग्री प्रमाणेन निश्चिता प्रकारान्तरेणानुपपत्तेः । अंतस्तांविना कर्थं भवितुमर्हति । अतः स्थितमेतत् संक्रान्तविषयोपमेव रागमभिव्यक्तचिच्छायां दुद्दिसत्त्वं विषयनिवृत्यद्वारेण समग्रालोकयात्रां निवाहियतीति । एवं विधमेव चित्तं पश्यन्तो ग्रान्ताः स्वसंवेदनचित्तमात्रं जगदित्येवं चृष्टाणाः प्रतिवोधिता भवन्ति ॥ २३ ॥

भौ० द्व० का भा०—जैसे स्फटिक धा वर्षण जो निर्मल होते हैं वही प्रतिविम्ब को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं ऐसे ही रजो और तमोगुण से रहित सत्त्व शुद्ध होने के कारण चित्त के प्रतिविम्ब को ग्रहण करता है किन्तु रज और तम अशुद्ध होने के कारण चिच्छाया को ग्रहण नहीं कर सकते हैं, सत्त्व अंगी अर्थात् प्रधान गुण होकर निश्चल दीपशिखा के समान निश्चल और सदा एक रूप में चिच्छाया को ग्रहण करके और परिणाम को धारण करके भी मुक्ति पर्यन्त रहता है । जैसे चुम्बक पत्थर के समीप लोहे की चलनरूपी क्रिया का प्रकाश होता है ऐसे ही चित्त पुरुष के समीप सत्त्वगुण की व्यंजन के रूप शक्ति अर्थात् चैतन्यता प्रकट होती है । इस से अनुमान होता है कि चित्त की दो इति हैं एक नियोदिता और दूसरी अभिव्यंश्या । नित्योदिता चित्त शक्ति पुरुष में रहती है और उसकी समीपता के कारण सत्त्वगुण में अभिव्यंश्या चित्त शक्ति होती है और अभिव्यंश्या के अत्यन्त समीप होने से पुरुष में भोग्यपन सिद्ध होता है इस ही को ब्रह्मादी शान्ति साख्यवालों ने पुरुष का कर्मानुसार सुख दुःख का

भोग कहा है जो गुण विस्ती समय अंगी होता है वही फिर परिणाम को प्राप्त होकर अंग घनजरता है ऐसे ही तीनों गुण परिणत होते रहते हैं और इनसे मुख, दुख, मोह और निर्वलता को प्रदान करते हैं चित्त स्वरूप ही है जब सत्त्व चित्त के प्रतिविम्ब को अद्वय करता है तब चैतन्यवत् प्रतीत होता है वास्तव में चैतन्य के द्विना भी सुख और दुःख रूप भोग का अनुभव करता है घटी भोग जब अत्यन्त समीप होता है तब विवेक के प्रभाव से अभोक्ता पुरुष को भोक्ता कहा जाता है इसही अभिप्राय से विन्द्यवासी ने कहा है सत्त्वगुण का जो भोगादि तप है घटी पुरुष का तप है अर्थात् सत्त्व का भोग पुरुष में अध्यारोपित होता है अतः यह खिल दुआ कि सत्त्वगुण में जो चित्त का प्रतिविम्ब होता है उस ही से सत्त्व में चैतन्यता जान पड़ती है ॥२३॥

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि । परार्थसंहत्य-
कारित्वात् ॥ २४ ॥

सू० का प०—(तत्) सो (असंख्येयवासनाभिः) असंख्य धासनाओं से (चित्रम्) विचित्र चित्त (अपि) भी (परार्थम्) दूसरे के निमित्त है (संहत्य-कारित्वात्) संग्रहकारी होने से ॥ २४ ॥

सू० का भा०—सो विच्छ असंख्य पर्वं विचित्र वासनायुक्त होने पर भी दूसरे ही के निमित्त है क्योंकि घर संग्रह करने वाला है २४

व्या० भा०—तदेतच्चत्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्री-कृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्यकारित्वादगृहवत् संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यं न सुख-चित्तं सुखार्थं न ज्ञानार्थं मुभयमप्येतत्परार्थम् । यथा भोगेनापवर्गेण वार्थेनार्थवान् पुरुषः स एवं परो न परः सामान्यमात्रम् । यच्च किञ्चित्तपरं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद्वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात् यत्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥ २४ ॥

भा० का प०—सो वह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित हुआ भी परार्थ अर्थात् दूसरे के भोग और मोक्ष के बास्ते हैं अपने लिये नहीं क्यों कि वह संग्रह करने वाला है घर के समान । संग्रहकारी चित्त से स्वार्थ से कार्य नहीं होसकता है । सुख चित्त सुख के अर्थ नहीं, न ज्ञान ज्ञानके लिये है । ये दोनों दूसरे के अर्थ हैं । जो भोग और मोक्ष के प्रयोजनों का अर्थवान् है वह पुरुष है वही पर है सो पर सामान्य नहीं है जो कुछ सामान्य मात्र पर का खलप से वैनाशिक उदाहरण देवे वह सब संहतकारी होने से परार्थ ही है जो ये विशेष पर है सो संहतकारी नहीं है ॥ २८ ॥

भा० का भा०—वह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी जो करता है सो सब सेवक के समान पर (पुरुष) के अर्थ करता है, उसका सुख और ज्ञान दोनों अपने अर्थ नहीं हैं जो भोग और मोक्ष के अर्थों का अर्थी हैं सां पर पुरुष है सो सामान्य नहीं किंतु विशेष है क्योंकि जो पर भी खलप से नाश होने वाला है सो सब प्ररार्थ है और ये पुरुष विशेष है अतएव समुदाय के साथ कर्ता नहीं है ॥ २९ ॥

भौ० वृ० नदेव चित्तं संख्यातुमशक्याभिर्वासनाभिक्षित्रमपि ना गरुप-
मपि परार्थं प्ररस्य खः मिनो भोक्तुर्भीगापं वर्गलक्षणमर्थं साध्यतीति ।
कुतः संहत्यकारित्वात्, संहत्य संभूय मिलित्वाऽर्थं क्रियाकारित्वात्,
यच्च संहत्यार्थक्रियाकारि तत्प्रार्थं दृष्टं, यथाशयनासनादि सत्वर-
जस्तमांसि च चित्तलक्षणपरिणामभाविज्ञ संहत्यकारीणि चातः परा-
र्थानि । यः परः स पुरुषः । ननु यादृशेन शयनासनादीनां परेण
शरीरवता पारार्थमुपलब्धं तद्वृष्टान्तवलेन तादृश एव परः लिङ्ग-
ति । यादृशं भवता परेऽसंहतरूपोऽभिग्रेतस्तद्विपरीतस्य सिद्धेन-
यमिष्ठविद्वात्तद्वृद्धेतुः । उच्यते—यद्यपि सामान्येन परार्थमात्रे व्याप्ति-
र्गं हीता तथापि सत्त्वादि विलक्षणधर्मिपर्यालोचनया तद्विलक्षण एव
भोक्ता परः सिद्धति यथा ऋन्दनवनावृते शिवरिणि विलक्षणाद्वृ-
माद्विन्द्रजुमीयमान इतरवद्विलक्षणश्वन्दनप्रभव एव ग्रहीयते,
एवमिहापि विलक्षणस्य सत्त्वाल्यस्य भोग्यस्य परार्थत्वेऽनुमीयमाने
तथाविध एव भोक्ता धिष्ठाता परश्चिन्मात्ररूपोऽसंहतः सिद्धति ।
यदि च तस्य एतत्वं सर्वोल्कृष्टत्वमेव प्रतीयते तथापि तामसेभ्यो
विषयेभ्यः प्रकृष्टते शरीरं प्रकाशरूपेऽद्वियाद्यत्वात्, तस्मादपि प्रकृ-

परन्त इन्द्रियाणि, ततोऽपि प्रदृष्टं सत्यं प्रकाशफणं तस्यापि यः प्रका-
शकः प्रकाशयविनक्षणः स चिद्रूपं एव भवतीति कुतस्तस्य
संहतत्वम् ॥ २४ ॥

इदानीं शास्रफलं कैवल्यं निर्णेतुं दशभिः सूत्रे रूपक्रमते-

भो० वृ० या भा०-इस प्रकाशसे चित्त असंख्य धासनाओंसे युक्त होने के कारण आनेक रूप धाला हैं तो भी शत्रुमा के भोग को सिद्ध करता है यद्योंकि वह औरों से मिल कर काम करता है जो जो भित्र के काम करने वाले हैं वे परार्थ दी काम करते दीखते हैं, जैसे शूल्या वा आसन आदि । ऐसे ही सत्य, रज, तम आदि भिल झटक काम करते हैं इस कारण वे सब परार्थ काम्य करने वाले हैं, यहाँ पर (दूसरा) पुरुष ही है इस कारण तिक्त हुआ कि चित्त पुरुष के भोग का साधक है । अब सन्देह यह होता है कि जैसे शूल्या और आसनादि से शरीरस्थारों का अर्थ सिद्ध होता है इस ही प्रष्टान्त से चैता ही पर (दूसरा) असंहतकारी अर्थात् अकेला ही कार्य करने वाला चित्त होसकता है इसकारण आपका कहा हेतु केवल हेतुभाल है ? इस का उत्तर यह है कि यद्यपि सामान्य रूप से जो व्यापि (यत्र यत्र संहत्यकारित्वं तत्र तत्र परार्थत्वम्) कही थी उस से उक्त शंका होसकती है पर स्तूपगुणादि के विशेष विचार करने से आप के कहे पर से भोक्ता रूप पर विलक्षण है जैसे काष्ठ चन्दन से पूरित पर्वत के धूपं को देख कर जो अग्नि का अङ्गमान किया जाना है वह धूप और वह अग्नि अन्य धूम और अग्नियों से विलक्षण होते हैं यहाँ भी विलक्षण जो स्तूपरूप भोग्य है उस की परार्थता के अङ्गमान से विलक्षण भोग्यता अधिष्ठाता और चिन्मात्र असंहतकारी पर सिद्ध होता है यद्यपि उसका प्रत्य सब से उत्तम धू विलक्षण है तो भी तमोऽुणी विषयों से शरीर उत्तम है क्यों कि प्रकाश रूपी इन्द्रियों का आश्रय है । शरीर से इन्द्रियां उत्पन्न हैं उन से भी चित्त (सत्य) उत्पन्न है और उस से भी पर अर्थात् पुरुष उत्पन्न है तब वह संहत्यकारी अर्थात् सब के साथ मिल कर कार्य करने वाला क्यों कर रहा ॥ २४ ॥

आगे योगशास्त्र का फल जो कैवल्य अर्थात् मुक्ति है, उसका निर्णय १० सूत्रों से करेये-

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः ॥ २५ ॥

मू० का प०—(विशेषदर्शिनः) विशेषदर्शी के
(आत्मभावभावनानिवृत्तिः) शरीर के भाव की
भावना की निवृत्ति होजाती है ॥ २५ ॥

मू० का भा०—विशेषदर्शी योगी को शारीरिक भावों को भावना
नहीं रहती है ॥ २५ ॥

व्या० भा०—यथा प्राणिपि तुरांकुरस्योद्भेदेन तद्बीन-
सत्तानुभीयते तथां मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षयुपाती दृश्ये-
ते सत्राप्यस्ति विशेषदर्शनवीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्तित-
मित्यनुभीयते । तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते ।
यस्याभावादिदमुक्तं स्वभावं मुवत्वा दोपाधोर्पा पूर्वपक्ते रुचिर्भ-
वत्प्यरुचित्वं निर्णये भवति । तत्रात्मभावभावना कोऽहमासं
कथमहमासं किंस्विदिदं कथंस्विदिदं के भविष्यामः कथं भविष्य-
ष्याम इति सा तु विशेषदर्शनो निवर्तते कुतः; चित्तस्यैष विचित्रः
परिणामः; पुरुषस्त्वसत्यामविद्यायां शुद्धवित्तधर्मरपरामृष्ट इति
ततोऽस्यात्मभावभावना कुशलस्य निवर्तत इति ॥ २५ ॥

भा० का प०—जैसे वर्षान्ननु में घास के उत्पन्न होने से उनकी
सत्ता जानी जाती है तैसे ही मोक्षमार्गके सुननेसे जिसका रोमहर्ष और
आंख गिरना दीखता है उसमें भी विशेषहान का बीज है जो कि
मोक्षमार्गीय पूर्वजन्म के कर्मों से सिद्ध हुआ है उसको आत्मभाव
भावना स्वसाव से ही होती है । जिस के अभाव से यह कहा जाता
है कि स्वभाव को त्याग कर विद्यमान दोष से जिनको पूर्वपक्षमें रुचि
होनी है और निर्णय में अरुचि होती है, वहां आत्मभाव भावना का
अर्थ यह है—मैं कौन था, किस प्रकार था, यह जन्म क्या है, क्योंकर
है, कौन होगे, कैसे होंगे? यह आत्मभाव भावना विशेषदर्शी की
निवृत्त हो जाती है । क्यों? यह चित्त ही का विचित्र परिणाम है
पुरुष तो अविद्या के न होने पर शुद्ध चित्तधर्मों से रहित है । यह
आत्मभावना कुशल पुरुष की निवृत्त होती है ॥ २५ ॥

भा० का भा०—जैसे वर्षा में घास के उत्पन्न होने से उसकी सत्ताका अनुमान होता है क्यैसे ही भोक्तुरथा होने में जिनके दोष खड़े होजाय या आंख गिरें उनमें भी मुकिसमन्धी ज्ञान विशेष का बीज है ऐसा अनुमान करते हैं क्योंकि वैष्णवस्त समाच चाले को पूर्व पक्ष में रांच होनी है और सिद्धान्त में अरुचि होती है, उसको “मैं पहिले कौन था ये वर्तमान जन्म क्वा है, मविष्पत् कैसे होंगे” ऐसे विशेषदर्शिता के संग तर्क होते हैं क्योंकि ये सब चित्त के अन्द्र त कार्य हैं जब अधिदा से मुक्त धर्मों से शुद्ध प्रवेशदर्शन में दत्तविच्छ होता है तब ये सब निवृत्त होते हैं ॥२५॥

भो० दू०—एवं सत्पुरुषयोरन्वत्वे साधिते यस्त्वोर्धिशेवं पश्यति अहमसादन्यं पवं कुणं, तस्य विद्वात्विच्छक्षपसत्वस्य चित्ते यात्मभाव-भावना सा निवृत्तिं चित्तमेव कर्तुं प्रात्मोक्तृत्यमिमानो निवृत्तेऽते ॥२५
तस्मिन् सति किं भवतीत्याह—

भो० दू० का भा०—पूर्वोक्त रीति से सत्य और पुरुष की भिन्नता को प्रतिपादन करके कहते हैं कि जो इन दोनों में भेदभावना करता है उसको जो चित्त में आत्मभावना थी वह निवृत्त होजाती है अर्थात् वह चित्त जो कर्ता भोक्ता नहीं समझता किन्तु पुरुष को कर्ता समझता है ॥ २५ ॥

फिर क्या होता है सो आगे कहते हैं—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राप्त्यारं चित्तम् ॥२६ ॥

सू० का प०—(तदा) तद (विवेकनिम्नम्) ज्ञान से नभ (कैवल्यप्राप्त्यारं चित्तम्) वृद्धमाण कैवल्य के भार से युक्त चित्त ॥२६॥

सू० का भा०—तद चित्त कैवल्यभागी होता है ॥२६॥

व्या० भा०—तदानीं यदस्य चित्तं विष्यप्राप्त्यारमज्ञन-निम्नमासीत् तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राप्त्यारं विवेकज्ञान-निगनमिति ॥२६॥

भा० का प०—तबैं योगी को चिन्त जो पैदले विषयों के प्रकृष्ट भारे से भरा था वह दूसरे प्रकार का होजाता है मीठे के भारे से नते अर्थात् विधेंक से दृष्टिपक्ष हुए ज्ञान से भरजाता है ॥८६॥

भा० का भा०—जो चिन्त पूर्वकाल में विषयों से भरा था सो अब ज्ञान से गम्भीर हो जाता है ॥८७॥

भ० च०—यदस्याज्ञाननिम्नपथं वहिसुखं विषयोपभोगफलं चित्तमासीन्तदिनीं विवेकमार्गमन्तर्मुखीं कैवल्यप्राप्तार्थं कैवल्यप्राप्तम् सम्पद्यत इति ॥८८॥

अस्मिन्द्वये विवेकवाहिनि चित्ते येऽन्तरायाः प्रादुर्भवन्ति तेषां हेतुप्रतिपादनद्वयेण त्यागोपायमाह—

भ० च० का भा०—पुरुष के अज्ञान को जो नीचा मार्ग है, वही विषय भोगका फल है उसमें जब चिन्त नहीं फंसता है तब इस को विवेक मार्ग प्राप्त होता है और उससे मुक्ति का आरम्भ होता है ॥८८॥

मुक्ति के हेतु का वर्णन करने के द्वारा त्यागका उपाय कहते हैं—

तंच्छिद्रेषु प्रत्यान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

स० का प०—(तच्छिद्रेषु) समाधि दशा के अमावस्ये (प्रत्यान्तराणि) अन्य ज्ञान (संस्कारेभ्यः) संस्कारों से उत्पन्न होते हैं ॥२७॥

स० का भा०—योगी के संस्कारोंसे कभी न दूसरे ज्ञान भी उत्पन्न होजाते हैं ॥२७॥

भा० दे० क० भा०—प्रत्ययविवेकनिम्नरूप सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य तंच्छिद्रेषु प्रत्ययांतराण्यस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा न जानामीति वा कुतः क्षीयमाणवीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति ॥२७॥

भा० का प०—ज्ञाने से गम्भीर पुरुष की सङ्क्षाव मार्ग प्रसिद्ध वाले चिन्त को उसके छिक्रों में क्षीयमाण संस्कारों से भी दूसरे ज्ञान

उत्तम होते हैं जैसे मैं हूँ, या मेरा है या मैं जानता हूँ या नहीं
जानता हूँ ॥ २७ ॥

भा० का भा०—जब चित्त ज्ञानमय होजाना है तब पुरुष का
सत्त्वभाव प्रसिद्ध करने वाले चित्त में संस्कार के द्वीज नष्ट होने से
दूसरा दोनों मैं हूँ, जानतों हूँ कि नहीं, यद्यमेरे हैं या नहीं, पेरे जाना-
न्तर कहाँ से होगे ? ॥ २७ ॥

भो० दू०—तसिन् समाधी स्थितस्य लिङ्गेष्वन्तरायेषु यानि
प्रत्ययान्तराणि द्युत्थानस्याणि दानांन प्रामृतैभ्यो द्युत्थानसुभव-
लेभ्यः संस्कारंभ्योऽहं भग्नेत्येवं करणेण शीघ्रमाणेभ्योऽपि प्रभवन्ति
आनन्दःकरणं। च्छुचिद्गारणं तेषां हानं कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ २७ ॥

हानोपायश्च धूर्घमेत्योक्तं इत्याद—

भो० दू० का भा०—उस समाधि मैं—स्थित पुरुष को योग के
विधानों में जो द्युत्थानरूप ज्ञान उत्पन्न हुआ करते हैं वह द्युत्थान से
उत्पन्न हुए संस्कार जब नष्ट हो जाते हैं इस कारण उन संस्कारों
के हान की उपाय अधिकारण ज्ञाहिये ॥ २७ ॥

हान के उपाय जो पूर्व कहचुके हैं उसही को अगले सत्र में
कहते हैं—

हानेषां वक्तेशयदुक्तम् ॥ २८ ॥

सू० का प०—(हानेम्) नाश (एषाम्) इनका
(वक्तेशवंत्) वक्तेशों के समान (उक्तम्) कहा है। २८॥

सू० का भा०—इन संस्कारों का नाश अविद्यादि वक्तेशों के
समान कहा है ॥ २८॥

व्या० भा०—यथा वक्तेशा द्युषधीजभावा न ग्रोहसमर्था

॥ विशेष—यद्यपि योगी ज्ञान से पूर्ण होता है तथापि उसे ज्ञान
के लिंग अर्थात् समाधि दशा से भिन्न सांसारिक अवस्था में ईश्वर
ज्ञान से भिन्न और ज्ञान भी होते हैं । जैसे अपने शरीर का अध्यास
या अन्य वस्तुओं में भग्नत्व आदि, परन्तु वह ज्ञान योगी को कुछ
वाधा नहीं देते, क्योंकि जिन संस्कारों से वह ज्ञान होते हैं वह
स्वयम् लौण्डीज होते हैं ।

भवन्ति तथा ज्ञानाग्निना दग्धवीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्यय-
प्रसूर्भवति । ज्ञानसंस्कारात्सु चित्ताधिकारसमाप्तिपञ्चोरत इति
न चिन्त्यन्ते ॥ १८ ॥

भा० का प०—जैसे अविद्यादि क्लेशोंके बीज नष्ट हुये न तो उत्पन्न
होते तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से जिसका बीज जलगया है ऐसा
संस्कार अन्य ज्ञानों का उत्पादक नहीं होता और ज्ञान के संस्कार
को चित्त के अधिकारों की समाप्तिका अनुसरण करते हैं ॥ २८ ॥

भा० का भा०—जिस प्रकार से पूर्वोक्त क्लेश के बीज दग्ध होने
से पुनः नहीं उत्पन्न होते हैं तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से संस्कार
भी सबीज जलने से किर उत्पन्न नहीं होते और ज्ञानसंस्कार चित्त
की समाप्ति तक रहते हैं ॥ २८ ॥

भो० वृ०—यथा क्लेशानामविद्यादीनां हानं पूर्वमुक्तं तथा
संस्काराणामपि कर्त्तव्यम् । यथा ते ज्ञानाग्निना सुष्टु दग्धवीज-
कल्पा न पुनश्चित्तभूमौ प्ररोहं लभन्ते तथा संस्कारा अपि ॥ २८ ॥

एवं प्रत्ययान्तरानुदयेन स्थिरीभूते समाधौ यादृशस्य योगिनः
समाधेः प्रकर्षप्राप्तिर्भवति तथा विद्यमुपायमाह—

भो० वृ० का भा०—जैसे अविद्यादि क्लेशों का हान पूर्व कहा
था ऐसे ही व्युत्थान संस्कारों का हान भी करना चाहिये जिस से
घट व्युत्थान संस्कार ज्ञानग्नि से दग्धबीज होकर चित्तभूमि में
फिर अकुरित चा उत्पन्न न हो ॥ २८ ॥

इस रीति से जब ज्ञानान्तर की उत्पत्ति न होगी और समाधि
स्थिर होगी तब योगीको समाधि की प्रकर्षता कर्योकर प्राप्त हो इसका
उपाय अगले सूत्र में कहते हैं—

**प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्म
मेघः समाधि ॥ २९ ॥**

सू० का प०—‘प्रसंख्यानेऽपि) तत्त्वों के विभावन
में भी (अकुसीदस्य) फलाशारहित (सर्वथाविवेक-

रुद्धातेः । विवेकख्याति वाले योगी को (धर्ममेघः समाधिः) धर्ममेघ नाम समाधि होती है ॥ २६ ॥

स० का भा०—तत्त्वचिन्ता में निरत योगी को भी यदि वह फलाशा रहित हो तो उसे धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है ॥ २६ ॥

ब्या० भा०—यदायं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्तोऽपि न किञ्चित् प्रार्थयते । तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेक-ख्यातिरेव भवतीति संस्कारभी जन्मयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पदन्ते । तदास्य धर्ममेघो नाप समाधिर्भवति ॥ २६ ॥

भा०का०—जब योगी तत्त्वावधानमें भी कुछ न चाहे अर्थात् उसमें भी विरक्तको सब प्रकार विवेक ज्ञान ही सिद्ध हो तो संस्कार के दीज नाश होने से इसको दूसरा ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है तब इसको धर्ममेघ नाम समाधि होती है ॥ २६ ॥

भा० का भा०—जब योगी योगतत्त्व का विन्तन करता दुष्ट फलाशा से रहित होता है तब वहां भी विरक्त होने से उसका विवेक ज्ञान नहीं नहीं होता । संस्कार के नष्ट होने से इसको दूसरे ज्ञान नहीं उत्पन्न होते तब उसे धर्ममेघ अर्थात् धर्म को धर्मते वाली समाधि होती है ॥ २६ ॥

भो० दू०—प्रसंख्यानं यावता तत्वानां यथाकम्ब्यवस्थितानां परस्पर विलक्षणस्वरूपविभावनं तस्मिन् सत्यप्यकुसीदस्य फलमलिप्स्तोः प्रत्ययान्तराणामनुदये सर्वप्रकारविवेकख्यातेः परिशेषात् धर्ममेघः समाधिर्भवति । प्रकृष्टमशुद्धकृष्णं धर्मं परमपुण्यार्थसाधकं मेंहति सिद्धनीतिः धर्ममेघः । अवेन प्रकृष्टधर्मस्यैव ज्ञानदेत्त्वमित्युपपादितं भवति ॥ २६ ॥

तस्माद्धर्ममेघात् किं भवतीत्याह-

भो० दू० का भा०—प्रसंख्यान अर्थात् क्रम से स्थित जो तत्त्व है उन सब के रूप का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके जड योगी को तत्त्वों में वित्तप्त्यं वा फलज्ञाति की अनिच्छा होती है तब योगी को ज्ञानान्तर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् विवेकख्याति सब प्रकार से इड़ हो जाती है । तब योगीको धर्ममेघ नामक समाधि होती है । यह समाधि

अशुक्ल-कृष्ण वत्तम धर्म को वर्पती है। इस कारण इस का नाम धर्म
मेघ है। यही समाधि ज्ञान और धर्म की हेतु है ॥२९॥

इस धर्ममेघ समाधिसे क्या होता है इस का वर्णन आगे करेंगे-

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

सू० का प०—(ततः) तब (क्लेशकर्मनिवृत्तिः)
क्लेश और कर्मों का मरण होता है ॥ ३० ॥

सू० का भा०—तब क्लेश और कर्मों का नाश होजाता है ॥३०॥

व्या० भा०—तत्त्वाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकापं,
कपिता भवन्ति । कुशलाकुशलाश्च कर्मशयाः समूलघातं इता
भवन्ति । क्लेशकर्मनिवृत्तां जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति ।
कस्पात् यस्पाद्विपर्ययो भवस्य कारणम् । नहि क्षीणत्रिपर्ययः
कर्शिचत् क्वचिज्जातो दृश्यत इति ॥ ३० ॥

भा० का प०—उस धर्ममेघ समाधि के लाभ से क्लेश जड़से
चीरण होते हैं। दुःख धा सुख देने वाले कर्मके फल जड़ समेत नष्ट
होते हैं। क्लेश, कर्म निवृत्त होने पर जीता ही योगी मुक्त होजाता है
क्योंकि मिथ्याज्ञान ही जन्म का कारण है। नष्ट अज्ञान वाला कोई
किसी हेतु से कहीं उत्पन्न हुआ नहीं दीखता है ॥ ३० ॥

भा० का भा०—जब योगी को धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती
है तब क्लेश और अच्छे बुरे कर्म के फल नष्ट होजाते हैं, उनके नष्ट
होने से योगी जीवन्मुक्त होता है क्योंकि अज्ञान ही संसारका कारण
है। कहीं नहीं देखा कि कोई ज्ञानी पुरुष किसी के द्वारा कहीं उत्पन्न
हुआ हो किन्तु जब योगी कैवल्य को भोगचुकेगा तब फिर संस्कार
वश उत्पन्न होने में कोई भी बोधक नहीं है।

भो० हृ०—क्लेशानामविद्यादीनामभिनिवृत्तानां कर्मणाऽन्न
शुक्लादिभेदेन जिविद्यानां ज्ञानोदयात् पूर्वपूर्वकारणनिवृत्या निवृत्तिभू-
वति ॥ ३० ॥

त्रेषु निवृत्तेषु किं भवतीत्यहु-

भो० वृ० का भा०—अविष्टा से लेके अभिनिवेश पर्यन्त जो क्लौश
और शुभलादि जो तीन प्रकार के कर्म हैं उनकी क्रमसे निवृत्ति होती
है और ज्ञान का उदय होता है ॥ ३० ॥

उन के निवृत्ति होने से पाप होता है सो आगे कहेंगे—

**तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज् ज्ञेय-
मल्पम् ॥ ३१ ॥**

सू० का प०—(तदा) तब (सर्वावरणमलापेत-
स्य) क्लेश कर्मादि मल दूर हुये को (ज्ञानस्यानन्त्यात्)
ज्ञान के अनन्त होने से (ज्ञेयमल्पम्) जानने योग्य
चर्चा कम रहती है ॥ ३१ ॥

सू० का भा०—जब आवरणरूपी मल योगी के दूर होजाते हैं
तब इस को ज्ञान होजाता है और जानने योग्य विषय कम रह जाते
हैं ॥ ३२ ॥

व्या० भा०—सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विष्टकस्य ज्ञानस्यानन्त्यं
भवति । आवरकेण तपसाभिभृतमावृत्तपनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदिदेव
रजसा प्रवर्तितमुद्धाटितं ग्रहणसमर्थं भवति । तत्र यदा सर्वैराव-
रणमलैरपगतमलं भवति तदा प्रवर्त्यस्यानन्त्यस् । ज्ञानस्यानन्त्याज्-
ज्ञेयमल्पं सम्पद्यते । यथाकाशे खद्योतः । यत्रेदमुक्तम्—

“अन्धो मणिपविध्यत्तमनंगुलिरावहत् ।

आश्रीचस्तं प्रत्यमुख्यत्तमनिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ ३२ ॥

भा० का प०—सब फ्लेश कर्म रूपी आवरणों से छुटे हुये को
अनन्त ज्ञान होता है । तमोगुण से आवृत हुआ है ज्ञान संत्वगुण जिसका
चह कहीं रजोगुण से प्रवर्तित ग्रहण करने को समर्थ होता है । वहाँ
जब सब आवरण करने थाले मलों से मलरहित होता है तब इस को
अनन्त ज्ञान होता है, ज्ञान के अनन्त होने से जानने योग्य कम रहता
है जैसे आकाश में जगुना॒ । जहाँ ऐसा कहा है—अन्धे ने मणि को धींधा,

हुंडे ने उसे पकड़ लिया, विना कण्ठ चाले ने उसे छोड़ दिया, विना जिहवा चाले ने उसकी प्रशंसा की ॥ ३१ ॥

भा० का भा०—जब योगी के सब आवरण और मल दूर होगएं तब इस को अनन्त ज्ञान होता है, आवृत किया हुआ ज्ञान सतोगुण, रजोगुण से रहित और तमोगुण से शून्य होकर बन्धन दूर होजाते हैं । जब सब मल दूर होजाते हैं, तब अनन्त ज्ञान उत्पन्न होता है, अनन्त ज्ञान से ज्ञेय पदार्थ कम रहजाते हैं ॥ जैसे आकाश में खदोत । का प्रकाश स्वल्प रहता है परे ही योगी का ज्ञेय भी स्वल्प रहता है । परन्तु विना योग किये उस ज्ञान को जानता पेसा है जैसे अन्धे का मणि पाना आदि ॥ ३१ ॥

भो० वृ०—आविष्यते चित्तमेभिरित्यावरणानि अलेशास्त एव मलास्तेभ्योऽपेतस्य तद्विरहितस्य ज्ञानस्य शरद्गग्ननिभस्यानन्त्याद-नवच्छेदात् ज्ञेयमर्हं गणनःस्तदं भवस्यकलेशैव सर्वं ज्ञेयं जानातीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

ततः किमित्याह-

भो० वृ० का भा०—आच्छादित होय ढक्काय चित्त जिन से उन अविद्यादि व्येशों को आवरण कहते हैं और वही मल हैं उनसे रहित जब ज्ञान होता है तब वह आकाश के समान अनन्त होता है और फिर ज्ञेय कम रहजाता है अर्थात् सहज में ही योगी लब विषयों को जान जाता है ॥ ३१ ॥

फिर क्यों होता है सो आगे कहते हैं—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिगुणानाम् ॥३२॥

सू० का प०.—(ततः) तत (कृतार्थानाम्) “कृता निष्पादिता धर्मार्थायैस्ते” कृतप्रयोजनों को (गुणानाम्) गुणों के (परिणामक्रमसमाप्तिः) परिणाम के क्रम की समाप्ति होजाती है ॥ ३२ ॥

सू० का भा०—धर्ममेघ समाधि होने से कृतार्थ योगी के गुणों के परिणाम क्रम भी समाप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

व्या० भा०—तस्य धर्ममेघस्योदयात् कृतार्थानां गुणानां

परिणामक्रमः परिसमाप्तते नहि कृतभोगापवर्गः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

अथ कोऽयं क्रमो नामेति—

भा० का प०—पूर्वोक्त धर्ममेघ समाधि के उदय से कृत प्रयोजनों के गुणों के परिणामों का पूर्वोक्त क्रम समाप्त होजाता है क्योंकि भोग और मोक्ष प्राप्त किये हुए समाप्तक्रम योगी थोड़े काल भी छहर नहीं सकते ॥ ३२ ॥

भा० का भा०—पूर्वोक्त धर्ममेघ समाधि के उदय से उन गुणों का परिणाम अर्थात् वैरक्षण्य उद्ब्रह्म होना घन्द होजाता है जिस का फल मिलचुका है क्योंकि गुण भोग फल के पश्चात् क्षणमात्र भी नहीं रहसकते ॥ ३२ ॥

भौ० वृ०—कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थः प्रयोजनं चैस्ते कृतार्था गुणाः सत्वरजस्तमांसि तेषां परिणाम आपुरुषार्थस्माप्तेरानुलोम्येन प्रातिलाम्येन चाङ्गाङ्गिभावः स्थितिलक्षणस्तस्य योऽस्यौ क्रमो वद्यमाणस्तस्य परिसमाप्तिर्निष्टा न पुनरुद्धव इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

क्रमस्थोक्तस्य लक्षणमाह—

भौ० वृ० का भा०—जो सत्, रज और तम आदि गुण आपने भोगादि प्रयोजन को उत्पन्न कर उनका परिणाम अर्थात् अनुलोम्य, विज्ञोम या आङ्गाङ्गिभाव से उदय और क्षण के क्रम को समाप्त कर देते हैं फिर उनका उदय नहीं होता ॥ ३२ ॥

आगे क्रम का लक्षण कहेंगे—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्रह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

सू० का ५०—(क्षणप्रतियोगी) क्षण के विरोधी (परिणामापरान्तनिर्ग्रह्यः) परिणाम के अवसान से जो जाना जाय (क्रमः) उसे क्रम कहते हैं ॥ ३३ ॥

सू० का भा०—क्रम का लक्षण यह है कि जो क्षण क्षणमें दूसरी अवस्था को धारण करे वह क्रम है ॥ ३३ ॥

व्या० भा०—क्षणानंतर्यात्पा परिणामस्यापर्वतेनावसानेन शृणुते क्रमः नहननुभूतक्रमक्षणा शुराणाता वस्त्रस्थान्ते भवनि नित्येषु च क्रमो दृष्टः । द्वयी चेयं निःन्यता कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च । तत्र कूटस्थनित्यता शुरुपस्य परिणामिनित्यता गुणानाम् । यस्मिन् परिणाम्यपाने तत्त्वं न विहन्यते तनित्यम् । उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्तिर्पत्त्वम् । तत्र गुणधर्मेषु वृद्ध्यादिषु परिणामापर्वतनिग्राहाः क्रमो लब्धपर्यवसानो नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वक्षव्यवर्यवसानः । कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठे नास्ति क्रियामुपादाय कल्पित इति । अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्वेति । अतच्चनीयमेतत् । कथम् ? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः सर्वे जातो मरिष्यतीति । ओं भो इति ।

अथ सर्वे मृत्वा जनिष्यत इति विभज्य वचनीयमेतत् । प्रत्युदितरख्यातिः क्षीणत्वाणः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते । तथा भनुष्यजातिः श्रेयसी न वा ? श्रेयसीत्येवं परिपृष्ठे विभज्य वचनीयः प्रश्नः पशुनविकृत्य श्रेयसी देवानुर्धांशाधिकृत्य नेति अयं स्ववचनीयः प्रश्नः संसारोऽयमन्तवान्यानन्तः इति कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तमेतरस्येति अन्यतरावधारणे दोषः तस्माद्ब्याकरणीय एवार्थं प्रश्न इति ॥ ३३ ॥

गुणधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तं तत्स्वरूपमवधार्यते -

भा० का प०—घर्चेमान क्षण के पश्चात् जो काल से परिणाम होता है उस के अनन्तर जो अहंकारिया जाता है उसे क्रम कहते हैं। इस में शंका होती है कि वस्त्र का पुरानापन वस्त्र के अन्त में नहीं जाना जाता तब क्रम का लक्षण असुक हुआ ? इसका उत्तर यह है

कि नित्य पदार्थों में क्रम ठीक शीति से जाना जाता है । अब इस में भी सन्देह होगा कि जिन पदार्थों में क्रम है वे नित्य नहीं हो सकते हैं । इसका समाधान यह है कि नित्यता दो प्रकार की है—एक कूटस्थ नित्यता और दूसरी परिणाम नित्यता । यहाँ कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणामनित्यता गुणों की है । जिनके परिणाम से तत्त्व नष्ट नहीं होने वे नित्य हैं जो कार्य वा कारणरूप तत्त्व का नाशक न हो, इस में यह भी शंका होसकती है कि जो परिणामी वस्तु है वह नित्य नहीं होसकती । इसका उत्तर देते हैं कि नित्यता गुणों में रहती है और बुद्धि आदिकों में अन्तदशा से समझने योग्य क्रम रहता है एवं तु नित्य गुणों में जो क्रम रहता है उसका अन्त होता है इससे ही उन में क्रमनित्यता रहती है । कूटस्थ अर्थात् विकाररहित नित्य-पदार्थों में जो क्रम रहता है उसका अन्त नहीं होता । जो मुक्त जीव अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं उन के जीव की विद्यमानता क्रम से ही जानी जाती है । क्योंकि जीव की नित्यता भी अन्तरहित होती है । अब यह शंका होती है कि संसार की स्थिति और लय से जो गुणों में क्रम रहता है उसकी समाप्ति होती है वा नहीं ? इस विषय का कथन असम्भव है । कैसे यह प्रश्न एकदेशीय है जो उत्पन्न हुए हैं वे सब मरणे सब मरकर उत्पन्न होंगे यह पूर्ववचन का अर्थापत्तिन्याय से विभाग वा उत्तर होता है । इससे यह स्थिरान्त निकलता है कि जिस की विषयसम्बन्धिनी वृष्णि नष्ट होगई है वह कुशल अर्थात् योगी उत्पन्न नहीं होगा जैसे मनुष्यजाति कैल्याणकारिणी है वा नहीं ? यह प्रश्न विभागवचन वाला है अर्थात् इस के उत्तर में हाँ और ना दोनों कह सकते हैं क्योंकि मनुष्य पशुओं की अपेक्षा उत्तम है, देव और ऋषियों की अपेक्षा उत्तम नहीं है । संसार अनन्त है वा सान्त है ? इसका उत्तर यह है कि योगी को संसार के क्रम की समाप्ति होती है दूसरे को नहीं, इसलिये संसार को सान्त वा अनन्त कहने में एक तरह का दोष है, इस कारण यह प्रश्न विवेचनीय है ॥ ३३ ॥

भा० को भा०—वर्चमान द्वारा के पश्चात् जो काल से परिणाम होता है उसके अनन्तर जो अहण किया जाता है उसे क्रम कहते हैं । इसमें शङ्का होती है कि वस्तु का पुरानापन वस्तु के अन्त में नहीं जाना जाता तब क्रमका लक्षण असुक्त हुआ ? इसका उत्तर यह है कि नित्य

पंद्राथो में क्रम ठीक रीति से जाना जाता है । अब इसमें भी सन्देह होगा कि जिन पदार्थों में क्रम है वह नित्य नहीं हो सके हैं ? इसका समाधान यह है कि नित्यता दो प्रकार की है—एक कूटस्थ नित्यता, दूसरी परिणामनित्यता । यहाँ कूटस्थनित्यता पुरुष की है और परिणाम नित्यता गुणों की है । जिनके परिणाम से तत्त्व नष्ट नहीं होते वह नित्य है, जो कारण वा कार्यरूप तत्त्व का नाशक न हो । इसमें यह भी शङ्का हो सकती है कि जो परिणामी वस्तु है वह नित्य नहीं हो सकती ? इसका उत्तर देते हैं कि नित्यता गुणों में रहती है और बुद्धि आदि में अन्त दशा से समझने योग्य क्रम रहता है । परन्तु नित्य गुणों में जो क्रम रहता है उसका अन्त होता है इससे ही उनमें क्रम-नित्यता रहती है । कूटस्थ अर्थात् विस्तारहित नित्य पदार्थों में जो क्रम रहता है उसका अन्त नहीं होता । जो मुक्त जीव अपने स्वरूपमें स्थिर रहते हैं उनके जीव की विद्यमानता क्रम से ही जानी जाती है क्योंकि जीव की नित्यता भी अन्तरहित होती है । अब यह शङ्का होती है कि संसार की स्थिति और संय से जो गुणों में क्रम रहना है उसकी समाप्ति होती है वा नहीं ? इस विषय का कथन असम्भव है । कैसे, यह प्रश्न एकदेशीय है । जो उत्पन्न हुए हैं वे सब मर्गे, मर कर उत्पन्न होंगे यह पूर्ववचन का अर्थापत्ति न्याय से विभाग वा उत्तर होता है । इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि जिस की विषय सम्बन्धिती तृष्णा नष्ट हो गई वह कुशल अर्थात् योगी उत्पन्न नहीं होगा, तैसे ही मनुष्यजाति कल्याणकारिणी है वा नहीं ? यह प्रश्न विभाग वचनवाला है अर्थात् इसके उत्तर में हाँ और ना दोनों कह सकते हैं । क्योंकि पशुओं की अपेक्षा मनुष्य उत्तम है देव तथा ऋषियों की अपेक्षा उत्तम नहीं है । संक्षार अनन्त है वा सान्त है ? इसका उत्तर यह है कि योगी को संसार के क्रम की समाप्ति हो जाती है दूसरोंके नहीं, इसलिये संसार को सान्त व अनन्त एक तरह का कहने में दोष है इस कारण यह प्रश्न विवेचनीय है ॥ ३३ ॥

— ओ० व०—क्षणोऽपीयान् कालस्तस्य योऽसौ प्रतिशोभी क्षणविल-
क्षणः परिणामोऽपरान्तनिर्व्विशोऽनुभूतेषु क्षणेषु पञ्चात् सङ्कलनवृच्छै-
व यो गृह्णते स क्षणानां क्रम उच्यते । नहाननुभूतेषु क्षणेषु क्रमः
परिणामत् शब्दः ॥ ३३ ॥

इदानीं फलभूतस्य कैवल्यस्यासाधारणं स्वरूपमाह-

भो० दृ० का भा०—अत्यन्त सूदम काल को क्षण कहते हैं उसका जो प्रतियोगी क्षण अर्थात् विलक्षण परिणाम जो पूर्वक्षण के नाश होने पर ग्रहण किया जाता है उसे क्षण का क्रम कहते हैं क्योंकि जिनका अनुभव नहीं किया उन के क्रम का भी ज्ञान नहीं हो सका है ॥ ३४ ॥

आगे योग के फल मोक्ष का असाधारण लक्षण कहेंगे—

पुरुपार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

सू० का प०—(पुरुपार्थशून्यानां गुणानाम्) जिन गुणों की प्राप्ति में पुरुपार्थों की समाप्ति होजाय (प्रतिप्रसवः) व्याहत गति से उन गुणों के नाश को (कैवल्यम्) मोक्ष कहते हैं (स्वरूपप्रतिष्ठा वा) अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित होने को मोक्ष कहते हैं (चितिशक्तिः) यदा ज्ञानशक्ति को मोक्ष कहते हैं ॥ ३४ ॥

सू० का भा०—स्पष्ट है ॥ ३४ ॥

व्या० भा०—कृतभोगापवर्गाणां पुरुपार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मना गुणानां तत्कैवल्यम्, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात् पुरुपस्य चितिशक्तिरेव कैवल्या तस्याः तदा तथैवावस्थानम् कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

भा० का प०—जिन गुणों के फल भोग वा स्वर्गादि फल प्राप्त होनुके हैं वे जब पुरुपार्थशून्य होकर कार्य कारण भाव से उत्पन्न होने के अयोग्य होजाय, उस दशा को मोक्ष कहते हैं स्वरूप प्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि बुद्धि वा मन के सम्बन्ध से रहित जो ज्ञानशक्ति है उसे कैवल्या कहते हैं । सर्वदा उस ही ज्ञानशक्ति में स्थिर रहने को कैवल्य कहते हैं ॥ ३४ ॥

भा० का भा०—जिन गुणों के फल भोग वा स्वर्गादि फल प्राप्त होते हैं कार्य कारण भाव से उन गुणों की अनुत्पत्ति को मोक्ष कहते हैं। स्वरूपप्रतिष्ठा का अर्थ यह है कि दुखि वा मन के सम्बन्ध से रहित जो ज्ञानशक्ति उसे केवला कहते हैं, सर्वदा उस ही ज्ञान शक्ति में स्थिर रहने को कैवल्य कहते हैं ॥ ३४ ॥

भो० चू०—समाप्तभोगपवर्गलक्षणपुरुषार्थानां गुणानां यः प्रति-
प्रसवः प्रिलोमस्य पुरिणामस्य समाप्तौ विकारानुन्दत्वः द्वाणेषु । यदि
वा चिच्छक्तेर्वृत्तिसाकृत्यनिवृत्तिस्वरूपमात्रेऽवस्थानं तत् कैवल्य-
मुच्यते ।

भो० चू० का भा०—समाप्त होगये हैं भोग और अपवर्ग रूप लक्षण जिन पुरुषार्थ रूप गुणों के उन गुणों का जो प्रति प्रसव अर्थात् अनुलोमादि भावों से फिर उत्पन्न न होना उसे मोक्ष कहते हैं। यद्या वित्त शक्ति का द्वृत्तियों की सरूपता को त्यागकर अपने ही रूप में स्थिर रहना, उसे कैवल्य वा मुक्ति कहते हैं ।

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे सांख्यप्रवचने
कैवल्यपादश्रुतुर्थः सम्पूर्णः ।

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

—०—





COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of
hinduism
server!



COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of
hinduism
server!

